रहा है उसी एक 'से' और उसी एक 'में' हो रहा है। और वह एक है, 'परमात्मा'। लेकिन, उस बातको आप मेरी सलज्ज अपराध-स्वीकृति,—Confession, ही मानिए। उसमें, हो सकता है कि, न कुछ भावार्थ मिले, न चरितार्थ दीखे। हो सकता है कि वह प्रतीति मेरी असमर्थताकी प्रतीक हो। लेकिन, मैं आरम्भमें ही कह चुका हूँ कि ठीक ठीक मैं कुछ जानता नहीं हूँ।

साहित्य क्यों, क्या, किसके लिए?—इसकी प्रामाणिक सूचना मैं कहाँसे लाकर दूँ? और जहाँसे लाकर दूँ वहाँसे आप क्या स्वयं नहीं ले सकते जो मेरा अहसान बर्दाश्त करें? कैसे लिखा जाता है, इस बारेमें कहनेको मेरे पास अपना अनुभव और उदाहरण ही हो सकता है। यह कौन जाने कि किस हद तक वह आपके मनोनुकूल होगा, या प्रामाणिक अथवा विश्वसनीय होगा।

आजकल मानवका समस्त ज्ञान वैज्ञानिक बने तब ठीक समझा जाता है। इस तरह, वह सुनिश्चित और सुप्राप्त बनता है और तभी प्रयोजनीय बनता है। सो, अव्वल तो ज्ञान ही मेरे पास नहीं, और जो निजी व्यक्तिगत कुछ बोध-सा है वह वैज्ञानिक तो है ही नहीं। इसलिए, उसे आप सहज अमान्य ठहरा दें तो मुझे कुछ आपत्ति न होगी।

ज़िन्दगीका मन्त्र क्या है? मेरे ख्यालमें वह मंत्र है, प्रेम। सूरज-धरतीको, धरती-चाँदको, शत्रु-शत्रुको, पिता-पुत्रको, जन्म-मृत्युको, 'मैं'-'तूको,' स्त्री-पुरुषको, परस्पराकर्षणमें कौन थाम रहा है? वही प्रेम। विराट्की शाश्वत अनन्त महिमा और हमारी क्षणजीवी अपार लघुता,—जो इन दोनोंको परस्पर सह्य और सम्भव बनाता है

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकरका ९५ वाँ ग्रन्थ

जैनेन्द्रके विचार

[श्रीजैनेन्द्रकुमारके लेखों, निबन्धों, व्याख्यानों, प्रश्नोत्तरों और पत्रांशोंका संग्रह

सम्पादक
श्री प्रभाकर माचवे
एम० ए०, साहित्यरत्न

प्रकाशक
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय, बम्बई

सकती है। वह लगभग आँख मींचनेपर हुआ करती है। नहीं तो दृष्टि ऐसी चाहिए जो सबको भेदकर पार चली जाय। जब आँखोंपर पलकें बन्द हो जाती हैं तब उनमें सपने भरते हैं। यह तो हुई महद्‌भावनाके उदय और जागरणकी बात। जब वह जाग गई तब क्या तो शराब और क्या और कुछ—सबके प्रति आँख खोलकर वह प्रीति वर्तन कर सकती है। महद्‌भावनाके वशवर्ती हुए कि जो शब्द और जो भी प्रचलित रूप प्रस्तुत मिलते हैं, उन्हींमें और उन्हींके द्वारा अपनेको व्यक्त करनेमें आपको कोई घबराहट न होगी। आपको क्या चाहिए? भोजन चाहिए या कि आपको यहाँ ही अटक रहना है कि वर्तन मिट्टीका है कि कलईका है? पात्र मिट्टीका भी भला, पर उसमें भोजन प्रीतिका होना चाहिए। जिनमें प्रीतिका रस नहीं, वैसे स्वर्ण-थालमें भी भरे हुए व्यञ्जन किस कामके? समीक्षकोंमें मैं इसी तीसरे नेत्रकी दृष्टि चाहता हूँ।

प्रश्न—भोजन तो हमें चाहिए। उसके बिना गुजारा कैसे होगा? पर साथ ही उसका बनानेवाला भी अच्छा होना चाहिए। आपने इस बातपर कोई प्रकाश नहीं डाला?

उत्तर—वह बात अँधेरेमें कब है कि प्रकाशकी प्रार्थिनी हो? जैसे खराब मनका आदमी भी अच्छी मिठाई बना सकता है, वैसी बात साहित्यके मामलेमें नहीं है। मिठाई मनसे नहीं बनती, पर साहित्य मनसे ही बनता है। लेकिन यहाँपर एक बात याद रखनेकी है कि किसीको अच्छा या बुरा कह देनेमें हम हमेशा अपनी सम्मतियोंसे ही काम लेते हैं और हमारी सम्मतियोंके तलमें हमारा अहंभाव भी होता है। यदि मैं अमुक-पंथी हूँ तो जो व्यक्ति उस पंथका नहीं है वह कुछ न कुछ खराब है, ऐसा समझ लेता हूँ। हमारे अपने मत-विश्वास हमारी सहानुभूतिका परिमाण बाँध देते हैं। परिणाम यह होता है कि जीवनमें हम बहुधा अन्यायपूर्वक, आवेशपूर्वक और अहं-भावपूर्वक लोगोंको बुरा भला कह दिया करते हैं। साहित्य साहित्यिककी आत्माको व्यक्त करता है। साहित्य और साहित्यिक इन दोनोंमें वैसा पार्थक्य नहीं है, जैसा कि हलवाई और मिठाईमें होता है। रचनाकार और रचनाकृतिमें ऐक्यका अत्यन्त घनिष्ठ संबंध है। इस लिए आप यह निरपवाद मान लीजिए कि अच्छे साहित्यका कर्त्ता अच्छा ही होता है। अगर वैसा नहीं दीखता तो कहीं हमारे मतमें अथवा मनमें कोई गड़बड़ अवश्य है। साहित्य कृतिकारके मनका प्रतिबिम्ब है। इसको अच्छी तरह

प्रकाशक—
नाथूराम प्रेमी,
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग-बम्बई

दिसम्बर, १९३७

मूल्य तीन रुपया

मुद्रक—
रघुनाथ दिपाजी देसाई
न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेस,
६ केलेवाड़ी, गिरगांव, बम्बई ४

संदर्भ-सूची

वक्तव्य

इस किताबके नामसे शंका होती है कि जैनेन्द्र कोई व्यक्ति होगा जो अपना जीना जी चुका है। मिट्टी उसकी ठंडी हुई। बस, अब उसको लेकर जाँच-पड़ताल और काट-फाँस होगी। पाठक निराश तो कदाचित् हों, पर सच यह है कि अभी वह समाचार सच नहीं है। जैनेन्द्रके मरनेकी ख़बर अभी मुझको भा नहीं मिली। पाठकको मुझसे पहले वह सूचना नहीं मिलेगी। इसमें आग्रह व्यर्थ है। फिर भी, उसके जीते जी यह जो उसकी इधर-उधरकी बातोंको आँकने और भेदनेका यत्न है, यह क्या है? ठीक मालूम नहीं, पर यह ज़्यादती तो है ही। इस कर्मका मूल्य भी अनिश्चित है! बहते पानीकी नाप-जोख पक्की नहीं उतरेगी। उसके बँध रहनेकी प्रतीक्षा उचित है। फिर भी आदमी है कि चैनसे नहीं बैठता। जीवन-मुक्तिके निमित्त उसके नियम पाना और बनाना चाहता है, और उस निमित्त उसी जीवनको घेरोंसे बाँधता-कसता है। यह मानव-पद्धति विचित्र है, पर अनिवार्य भी है। तो क्या किया जाय? उपाय यही है कि अपने ऊपरकी शल्य-क्रियाको सहते चला जाय। उपयुक्त असलमें यह है कि आदमीके मरनेपर उसके बारेमें कुछ लिखा जाय।

इस पुस्तकमें छापेकी अशुद्धियाँ भी रह गई हैं। वे अशुद्धियाँ भावके साथ मनमानी करती हैं। पर अशुद्धि-पत्र पुस्तकके साथ देकर उनका ढिंढोरा पीटना भी ठीक नहीं लगा। अशुद्धियाँ रह गईं तो इसलिए कि कुछ लेख सीधे अख़बारोंसे पुस्तकमें ले लिये गये। दो भाषण तो भाषणोंकी अख़बारी रिपोर्टें हैं। फिर भी प्रकाशककी अतिशय सावधानीके कारण अशुद्धियाँ कमसे कम रह पाई हैं।

७ दरियागंज
दिल्ली

जैनेन्द्रकुमार
३०।११।३७

श्रीजैनेन्द्रकुमार

भूमिका

अथतः

आइए, जैनेन्द्रके विचारोंपर कुछ विचार करें। ख्याल रहे, विचारोंपर हमें विचार करना है, नामवाले जैनेन्द्रपर नहीं,—अमुक नाम और अमुक धामवाले जैनेन्द्र इस कारण विचारणीय नहीं हैं। क्या वह एक दिन नहीं बने, और एक दिन मिट भी नहीं जायँगे? पर हैं विचारणीय तो इसीसे कि उनके द्वारा कुछ वह व्यक्त हो रहा है जो सतत प्रवहमान है,—परिणमनशील, फिर भी चिर और स्थिर। भाषामें उसीको कहें 'विचार'। विचार सूक्ष्मका आकलन करता है, जैनेन्द्र तो स्थूल माध्यम हैं।

पर कोई पूछे कि विचार क्यों करना है? तो उत्तर है विचारशीलताके विकासके लिए, मानवताके विकासके लिए, जगत्‌के दुःख कम करनेके लिए, आनंद वृद्धिंगत करनेके लिए।

अब यह किताब, जिसमें लेख, भाषण, प्रश्नोत्तर आदि कई रूपोंमें विचार मौजूद हैं, हमारे सामने है। हम उसमेंकी विचारात्माको किंचित् तटस्थ और विवेकशील दृष्टिसे एवं संश्लिष्ट रूपमें देखना चाहते हैं। उसमें प्रकृत-तत्त्वको ही हम देखेंगे अर्थ-तथ्यको औरोंके लिए छोड़ देना ही भला है। हम पहले यह देखें कि विचारक जैनेन्द्रके मूलमें जो कला-भावना है, उसे कहाँतक गुंजाइश देनी होगी, उसके मानी क्या हैं, फिर इन विचारोंकी भित्ति जिन मान्यताओं और समस्याओंसे बनी है उसे देखें, फिर जीवन और साहित्यके अलग अलग पैमानोंमें उन्हें ढालें और अन्तमें कुछ अपनी ओरसे कहकर इस विचारकपनको भावमयतामें छोड़ दें। हम विचारोंको Feel करें उन्हें Deal करनेके मोहसे न बढ़ें।

जैनेन्द्र : कलाकार और विचारक

कला और दर्शनका नाता बहिन-भाईका रहा है। दोनोंमें आजके युगमें किसी

प्रकारका अन्तर डालना खतरेका काम है। शॉने जब कहा कि 'आजकी सदीके कलाकारको अंततः दार्शनिक होना ही पड़ेगा' तब उस कथनमें आत्म-रक्षासे भी अधिक कुछ तथ्य था। वस्तुतः कलाकी मंदाकिनी दर्शनके गुरु-गिरिसे फूट कर काल और परिस्थितिके बीहड़ वन और मैदानोंमेंसे बहती हुई समष्टि-गत अभेदानुभूतिके महासागरमें मिलने चली जा रही है। वह चिरंतन-गतिशीला और वेगवती है; अतः भेद-मंथन उसका आदि, अभेद-लाभ अन्त, और प्रेरणा मध्य माना जा सकता है।

यहाँ 'कला'के अर्थ समझने होंगे। टॉलस्टायने जिसे समस्तके समीप आनेका भाव-माध्यम बताया, इमर्सन जिसे दैवी गुण मानते थे, हेगेलने जिसे 'आत्म-सौन्दर्यकी अभिव्यक्तिका महत्पथ' कहके संबोधित किया, उसी कलाको भला हम भौतिक और जड़ ऐन्द्रिय लालसा-पूर्तिका साधन किस भाँति कह सकते हैं? वह मुक्ताकाशमें उड़ते रहनेको नहीं है, न धरतीसे वह चिपटी है। जो खारे जीवन-सागरसे आत्म-सूर्यकी तेजोमयी किरणोंद्वारा गगन-प्रांतरमें खींच ली जाती है, कला उस वाष्प-सी है। यथार्थसे ऊपर आदर्शकी ओर उसका गेह है। क्षार सब नीचे छूट जाता है, शुद्ध तेज ही वहाँ रहता है। फिर वही वाष्प ताप-मानकी अनुकूलता पाकर पानी बन नीचे बरस रहती है और हरियाली उपजाती है। बरसनेसे पहले वह सघन भी है, ताड़ित्पूर्ण, हुंकार और वेदनासे भरी। और उसमें कभी ताड़ित्तर्जन और घन-गर्जनका भीष्म-सौन्दर्य दीखता है, तो कभी सप्तरंगी धनुषका इन्द्र-सौन्दर्य भी उसीसे बन आता है। मानव-कल्पना उस सौन्दर्यको पीकर पीन हो उठती है। फिर भी यही उस महा-व्यापारका आशय मान तृप्त होना भूल है। धूपसे तपी और प्यासी धरती-माताकी छातीपर विरहाकुल वह सघन वेदना सहस्र सहस्र धाराओंमें पानी बन बरस पड़े,—हो सकता है, कि उस तमाम (कला) व्यापारका निहिताशय यही हो। क्या इसीका परिणाम नहीं है कि धरती-माता मानों प्रत्युत्तरमें, हरियाली ओढ़नी ओढ़, असंख्य शस्य-बालियोंसे सुनहरी मुस्कान मुस्कराती हुई खिल पड़ती है!

कलाकी अवतारणा, रूपकको तजकर कहें तो, जीवनके अभाव-छिद्रोंको आत्म-स्वरकी रागिनीसे भर देनेके लिए होती है।

वैसे तो मानव स्वयं एक अपूर्ति है। परन्तु जिस अनुपातमें वह अपूर्ण है उसी अनुपातमें उसमें 'पूर्णात्पूर्णमिदम्' की ओर अग्रसर होनेकी प्रबल आकांक्षा

भी विद्यमान है। विकास अथवा उत्क्रान्तिका इससे अलग कोई अर्थ-नहीं। जीवनके धर्म-क्षेत्रमें एक ओर मानवात्मारूपी सत्य-प्रिय पार्थ और दूसरी ओर प्रचंड अनीक-साजित स्वार्थ-प्रिय दुर्योधन-दुःशासनके बीच सदैव समर चलता रहता है। अच्युत काल इस सब लड़ाई—झगड़ेके बीचमें केवल फलेच्छा-विरहित परन्तु आत्म-योग-मय कर्म-लग्नताका आदेश देता है। कला उस संघर्ष-रतिको धारण करती और उसके विष-फलका द्योतन करती है। वहाँ चिन्तन है संजय। वैसे दोनों ही अपने आपमें साध्य नहीं हैं,—न चिन्तन न धारणा। साध्य परात्पर है। परात्पर 'कूटस्थमचलं ध्रुवं' है और वही सत्य है।

भावगम्य और बुद्धिगम्य ज्ञान अपने-आपमें परिमित हैं। हम उनके सहारे जब अपरिमेयकी ओर बढ़ते हैं तब दिल और दिमागसे एक तरहकी कशमकश शुरू हो जाती है। बुद्धि कहती है, 'मैं पहले देखूँगी और जानूँगी। लो मैंने जान भी लिया। वह (अपरिमेय) यों है, और यों है।' भक्ति-भावना कहती है, 'देखनेको मुझे आँखें कहाँ हैं? देखनेको मुझे कहाँ जाना है? मैं दूरको दूर नहीं जानती—लो, मैंने चरण गह लिये हैं, मैं उसे पा गई हूँ।' जब यह द्वन्द्व चल रहा होता है, तभी मानव-विवेक सहसा वहाँ आ पहुँचता है और निर्णयात्मक स्वरमें मानो साधिकार कहता है, 'ओ री पगली बहिनो, तुम दोनों ही अर्ध-सत्यको गहे उसीको सम्पूर्ण माने बैठी हो। भूलकी असल गाँठ, मुक्ति-बोधकी राहमें असल बाधा, तो इस 'मैं मैं' में है, जिसके प्रयोगसे तुम दोनों बाज़ नहीं आ रही हो।'

और यही वह अहं-भावना है जिसके विरुद्ध जैनेन्द्रने, समष्टि-प्रेमकी भित्तिपर खड़े होकर, खुल्लमखुल्ला विद्रोह घोषित किया है। उनकी हरेक कृतिका रोम रोम आत्मोत्सर्ग और आत्म-दानकी इस महत् भावनासे परिप्लावित है। जहाँ सांख्य दार्शनिक प्रकृतिके चेतन-नृत्यके पुरुष-संपर्कके साथमें बुद्धि-तत्त्व और अहंतत्त्व-के सृजनकी बात करते हैं वहाँ जैनेन्द्र प्रकृतितकसे आत्म-समर्पणकी सीख लेना जरूरी समझते हैं (पृष्ठ ३)। २७–३–३७ के एक पत्रमें उन्होंने लिखा है—
"तुम जानते हो कि आर्टिस्ट निर्मम नहीं हो सकता? ऐसी धारणा गलत है। ज्ञातव्य वस्तुके संबधमें उसे ममताहीन वैज्ञानिक होना चाहिए। हाँ, ज्ञातव्य उसके लिए है वह स्वयम्, 'पर' नहीं। 'पर' को तो जाना ही नहीं जा सकता। जाना जा सकता है तो 'स्वयम्' के भीतरसे। इसलिए वह अपनेको

और अपने ज्ञानको भी बराबर कसता रहता है। सच्चे आर्टिस्टको अपने जीवनके बारेमें शुद्ध वैज्ञानिक होना पड़ता है। इसलिए 'पर' के प्रति है वह भावुक कलाकार, और अपने प्रति है परीक्षा-प्रयोगी तत्त्वान्वेषी। जहाँ मैं वस्तुको शोधना-बिठाना चाहता हूँ वहाँ होना ही चाहिए मुझे गणितज्ञकी भाँति सावधान। जहाँ स्फूर्तिदान एवं चैतन्योत्पादन लक्ष्य है, वहाँ होना होगा कलाकार।"

जैनेन्द्र हिन्दी-संसारके सम्मुख 'परख' के कथाकारके रूपमें आये थे। उनकी कथाओंने हिन्दी-भाषियोंके ध्यानको सहसा आकृष्ट कर लिया, क्योंकि जैसे कि स्व० प्रेमचंदजीने 'हंस' (वर्ष३ संख्या४) में लिखा था, उनमें "अन्तः-प्रेरणा और दार्शनिक संकोचका संघर्ष है,—इतना हृदयको मसोसनेवाला, इतना स्वच्छन्द और निष्कपट जैसे बंधनोंमें जकड़ी हुई आत्माकी पुकार हो।...... उनमें साधारण-सी बातको भी कुछ इस ढंगसे कहनेकी शक्ति है जो तुरन्त आकर्षित करती है। उनकी भाषामें एक खास लोच, एक खास अंदाज़ है।" धीरे धीरे कथा-शिल्पी जैनेन्द्र विचारकके रूपमें सामने आने लगे और परसों मेरे एक मित्रने मज़ाकमें यहाँ तक कह दिया कि 'अब वे सूत्रकार होते जा रहे हैं।' आशय, जैनेन्द्रकी मनोभूमिमें कलाकारसे दार्शनिककी ओर बढ़नेवाला विकास चिन्तनीय चीज़ है।

यहाँ मुझे नवंबर '३६ के 'हंस' में प्रकाशित अपने लेखके कुछ अंश उद्धृत करना आवश्यक जान पड़ता है। "वस्तुतः जैनेन्द्रमें, क्या जीवन और क्या साहित्य, घर और बाहर, व्यक्ति और समष्टि, एक दूसरेके प्रति चिर-अपेक्षा-शील रहे हैं। जैसे एकका दूसरेके बिना अस्तित्व ही असम्भव है। पर फिर भी उसमें व्यक्ति और घरवाला (यानी समाज-सम्मत व्यक्ति-केन्द्र-बोधक) जो तत्त्व है वह दूसरेके ऊपर अधिक अधिकारसे रौब जमाता हुआ चलता जान पड़ता है। यही लौकिक और अलौकिक, वास्तव और सत्य, अनेक और एकका जो भेदाभेद है वही जैनेन्द्रके व्यक्तित्वकी विशेषता है।...जैनेन्द्र ऐसी सुलझन हैं जो पहेलीसे भी अधिक गूढ़ हो। वे इतने सरल हैं कि उनकी सरलता भी वक्र लगे। वे इतने निरभिमान हैं कि वही उनका अभिमान है। वे परिस्थितियोंसे ऐसे आबद्ध हैं कि उसीमें उन्होंने अपनी मुक्ति मान ली है।"

अर्थात् जैनेन्द्रमें विचारक कलाकार, अपने कलात्मक और विचारात्मक अस्तित्वको, किसी भी प्रकार, कभी, कहीं भी, जरा भी एक दूसरेसे अलग न देख पाता है, और न रख ही पाता है।

मान्यतायें और समस्यायें (=Premises and Problems)

यह तो निर्विवाद है कि जैनेन्द्रकी ही क्या, प्रत्येक चिन्तनशील लेखककी कुछ मान्यतायें हुआ करती हैं। ऐसी भूमिके अभावमें लेखक स्थिर नहीं खड़ा रह पाता। ये मान्यतायें विकास-प्रवण अवश्य होती हैं, पर तैरती हुई नहीं। भगवान बोधिसत्त्वकी दुःखकी मान्यता ही उनकी प्रथम और अन्तिम समस्या बनी रही। जो मान्यता अन्ततः प्रश्नोन्मुखी नहीं है वह जीवनके अभावमें केवल मृत धारणा (=Dogma) हो जाती है। मुमुक्षु जैनेन्द्रकी भित्ति न तो ऊपर ऊपर तैरती हुई है, और न जड़ निस्पंद है। उनके विचारोंका स्रोतोद्गम प्रत्यक्ष जीवनसे होनेके कारण उसमें कभी जम जाने (=Stagnation) की संभावना रह ही नहीं जाती। इतनी पूर्व-सावधानीके बाद जैनेन्द्रकी समस्यात्मक मान्यताओंको तीन नज़रोंसे देखें—मनोवैज्ञानिक, आचारशास्त्रीय (=Ethical) और आध्यात्मिक।

जैसा कि आजकलके कई पाश्चात्य लेखक मानते हैं जैनेन्द्र मनोविज्ञानको साध्य नहीं मानते। उनके लिए वह साधन है। जिस मनोविज्ञानको जैनेन्द्रने अपनाया है, वह न तो बर्त्ताववादियों (=Behaviourists) के जैसा ऊपरी ऊपरी ही है, और न मानस-विश्लेषणवादियोंके जैसा निरर्थक-विच्छेदक, बालकी खाल निकालनेवाला ही है। उनकी मनोविज्ञान-मान्यता समग्र-संपन्न और गत्यात्मक है। वे प्रवृत्तियोंको महत्त्व नहीं देते, सो नहीं, परंतु मॉंशियॉं बर्गसॉंकी थिअरीके समान ही प्रकृति और मनके (=Matter and mindके) विषयमें उनकी विचार-धारा परस्परापेक्षाशील रही है। वे स्वप्नको गौण नहीं समझते, और न अनेक व्यर्थताओंको अपने सचेतन स्वप्नका कोई भाग ही बनने देते हैं। बुद्धिसे पूर्व वे भावकी सत्ता मानते हैं। इसी कारण उनके लेखोंमें,—यथा 'रामकथा' 'कहानी नहीं' 'उपयोगिता' 'नेहरु और उनकी कहानी' 'आलोचकके प्रति' आदिमें, भाव-प्रधानताको, या सुबुद्ध विवेकशीलताको, समस्त कर्म-प्रेरणाका मूल बिंदु माननेकी ओर सशक्त संकेत है। सारांश, जैनेन्द्रका मनोविज्ञानिक आधार जैन-तर्क-पद्धति 'स्याद्वाद' से अनुरंजित होनेके कारण अत्याधुनिक गेस्टाल्ट-पंथी मनो-विज्ञानिकोंके समान संश्लेषमय (=Synthetic) हो जाता है। साथ ही साथ उसमें बेनेडेट्टो क्रोसेकी सौन्दर्य-समीक्षाके मूलमें रहनेवाली अभिव्यक्ति-प्रधान रचनात्मक कला-क्षणकी कल्पना भी पर्याप्त अंशमें क्रियमाण रही है।

मनोविज्ञानिकके लिए जो बातें पहेली बन प्रस्तुत होती हैं, उन्हें जैनेन्द्र जैसे कलाकार किस सहजताके साथ सुलझा डालते हैं, इसके प्रमाण-रूप कई लेख इस संग्रहमें हैं। एक लेखनुमा कहानी, 'कहानी नहीं,' ही ले लें। स्वयं कथनके (=Monologue) रूपमें अमीरके मनका चोर किस मज़ेसे पकड़ा गया है! जैनेन्द्र जहाँ आलोचक होकर प्रस्तुत होते हैं, वहाँ भी ध्यान देनेकी बात यह है कि वे अपनेमेंके कलाकारको नहीं खोते। 'प्रेमचन्दजीकी कला,' 'रामकथा,' अथवा नेहरूजीके आत्मचरितपर लिखे गये लेख इसी कलात्मक आलोचना शैलीके मनोहर प्रमाण हैं। वस्तुतः आलोचनाका आदर्श भी वही है जहाँ आलोचक मनके रसको नहीं खो देता, जहाँ वह एक-मात्र बुद्धिवादी बनकर विश्लेषणको ही प्रधान और अन्तिम कर्तव्य नहीं मान बैठता। आलोचनामें भी क्यों न आत्म-रस-दान ही प्रधान हो? इसी विचारको जैनेन्द्रने अपनी प्रमुख दृष्टि मानकर सदा सामने रक्खा है। (४९-६४)

ऊपर जो कहा गया है कि जैनेन्द्र निरी बुद्धिसे अधिक सर्वस्पर्शी-भाव-भूमिको अपनाते हैं, उसका अर्थ विवेकशासित भावनाओंके अर्थमें लेना अधिक युक्त होगा। क्योंकि वैसी निरी भावनाके शिकार बननेमें वे सुख नहीं लेते, वह तो पुनः एक अन्धस्थिति है। परन्तु प्रेमकी भावनाको या कहो सर्वव्यापी सहानुभूतिको ही जैनेन्द्रने जैसे अपने भीतर रमा लिया है। इसीसे वे उस उन्नत शालीनताके साथ अश्लीलताके भौतिक प्रश्नको छूते दीखते हैं (पृ० ४८) कि जिससे दुश्चरित्रा ठहराई हुई और यहूदियोंद्वारा पत्थर फेंककर सताई गई स्त्रीपर ईसाके करुणा-द्रवित होनेकी, मदरासमें वेश्याओंके सम्मुख गाँधीजीद्वारा दिये गये करुणा-रंजित ममतापूर्ण भाषणकी, अथवा बुद्ध और सुजाताकी कथायें आँखोंके सामने आ खड़ी होती हैं। सच्चा कलाकार इसी अन्तिम सत्यकी अलौकिक भूमिपर खड़े होकर, लौकिक सुन्दर-असुन्दरके भेद-अन्तरको आँखोंके सामने मिलमते-बुझते देखता है। अरे, सत्यकी महादर्शिनी आँखोंके आगे ये भेद-भाव कहाँ बचे रहते हैं? दुर्बल मानव-मन-निर्मित मूल्य-भेद जहाँ जाकर एकमेक हो जाते हैं उसीको आध्यात्मिक या आधिदैविक दृष्टिकोण कहते हैं।

आधिभौतिक आचार या नीति-अनीतिके रूढ़ बंधनोंकी कीमत कूतनेवाले शास्त्र (=एथिक्स) की समस्यायें भी इसी तरह जैनेन्द्रके लिए बहुत कम कठिन रह जाती हैं। जैनेन्द्र क्या, प्रत्येक सुबुद्ध लेखक अपनी काल-परिस्थितिकी

मर्यादाओंसे बाहर जाकर बात करता है; वह एक प्रकारका निर्लिप्त फकीर और द्रष्टा ही होता है। (पृ० १७) इस दृष्टिसे उसका उत्तरदायित्व कम नहीं होता। उसे अपने समाजकी स्थितिको अपने साथ आगे बढ़ा ले जाना होता है; अर्थात्, उसे कीमतें बदलनी होती हैं। अब कीमतें बदलनेके दो तरीके हैं। एक तो वह है जो आँधी-सा है, जिसे 'क्रान्ति' कहते हैं; दूसरा वह जिसमें लोगोंको किसी भी तरह खदेड़ा, कुचला या अप्रेमसे अपनी भूमिपर ज़बर्दस्ती (यानी हिंसाको जगह देकर भी) खींचा नहीं जाता, बल्कि प्रेम और समझावेसे त्याग और भलेपनकी अहानिकर और अहिंसक तथा नम्र और विनीतपद्धतिसे मनवाया जाता है। क्योंकि जहाँ दृढ़ हृदय झुकता है, वहाँ उस झुकनेके द्वारा क्या उतनी ही दृढ़ताके साथ वह औरोंके हृदयको भी नहीं झुकाता ? परन्तु जरूरत सिर्फ इतनी ही होती है कि वह दृढ़ हृदय इतना प्रेमसे लबालब, करुणासे ओत-प्रोत, इतना अलग एवं ध्येय-मय-विरागपूर्ण हो कि जिसमें राग-द्वेषको पास फटकनेका अवसर तक न मिले। यही कठिन और कष्टोंसे भरी दूसरी राह जैनेन्द्रने अपने लिए चुनी है। उनका मूल्यान्तरीकरण (=transvaluation) नीत्शेके समान दुर्द्धर्ष विद्रोह, हिंसा, और जिघांसापर नहीं खड़ा है। जहाँ जमाना क्रान्तिके नशेमें कोरे पराये शब्दोंके पीछे अपनेको खोनेको तुला है, वहाँ जैनेन्द्रकी यह निष्कपट निष्ठा सराहनीय ही नहीं वरञ्च महत्त्वशाली है। इस दृष्टिसे 'प्रगति क्या' यह एक पढ़नेकी चीज़ है।

जैनेन्द्रके विचार-लोकपर वंदनीय गाँधीजीके सिद्धान्तोंका गहरा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अहिंसा, सत्य और अपरिग्रहकी सिद्धान्तत्रयीको जैनेन्द्रने भी जैसे आधारके तौरपर पूरी तरह अपना लिया है। इसकी इष्टानिष्टतापर तर्क करना स्थल और विषयकी दृष्टिसे यहाँ अपेक्षित नहीं।

मिसालके लिए कर्मसंबंधी महत्त्वपूर्ण प्रश्न ही ले लें। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके समान उनके द्रव्यानुयोगमें विभेद नहीं और न वे ज़ीनो या पारामिनाइडसके समान सर्व-स्थिति-मय किंवा हेराक्लाइटसकी तरह सर्वगतिमय ही होकर किसी वस्तुके अर्ध सत्यको पकड़कर ही चलते हैं। यहाँ जैनेन्द्रकी 'एक कैदी' कहानीके कुछ वाक्य देनेसे स्पष्टीकरण होगा; "सत्य स्थिर है, घिरा नहीं है, न अनुशासनसे परिबद्ध। काल भी सत्य ही है; काल जो बनने और मिटनेका

आधेय है। अतः स्थिरता सिद्धि नहीं, गति भी आवश्यक है। जीवन अस्तित्वसे अधिक कर्म है। ” अब इसी कर्म-प्रश्नको जिस तरह गीतासे ‘ स्वभावस्तु प्रवर्तते ’ कहा गया है, जैनेन्द्र भी ‘ आप क्या करते हैं ’ जैसे बाह्यतः बुद्धूपनसे भरे दीखनेवाले निबंधमें, इस मज़ेदार सरलतासे प्रतिपादित कर डालते हैं कि देखते ही बनता है। किसी इन्स्योरन्स एजेंटके आग्रहसे चिढ़कर ही जैनेन्द्रने इस लेखकी सृष्टि कर डाली थी, वैसे तो, आचार-शास्त्रसंबंधी कई प्रश्नोंका समाधान मेरे द्वारा किये गये विविध प्रश्नोंकी उत्तरावलीमें, जो पुस्तकके पीछे दी है, मिल जाता है। तो भी ‘ व्यवसायका सत्य ’ ‘उपयोगिता’ ‘भेदाभेद,’ आदि लेख भी इसी दृष्टिसे पढ़े जाने योग्य हैं। यहाँ एक मार्केकी बात है कि जैनेन्द्र कभी सामान्य समझ (Common sense) की भूमि नहीं छोड़ते। वह जैन मुनियोंका-सा कर्म-संवर और कर्मनिर्जरका असंभाव्य उपदेश नहीं देते। जो भी हो, अपरिग्रहको वे एक राष्ट्रीय आवश्यकता समझते हैं।

अब आइए जैनेन्द्रके उस प्रिय लोकमें जहाँ उनको बारम्बार उड़ उड़ जाना भाता है। पुस्तक-समीक्षा तकमें जो अध्यात्म-भूमि उनसे नहीं छूटती, उसीके विषयमें कुछ कहें। क्या वहाँ कुछ भी कहना चलेगा? शब्द भी वहाँ बन्धन हैं। ‘ मानवका सत्य, ’ ‘ सत्य, शिव, सुन्दर, ’ ‘ कला किसके लिए, ’ मुझे भेजे ‘ पत्रांश ’ ‘ दूर और पास, ’ ‘ निरा अबुद्धिवाद ’ आदि इसी दृष्टिसे लिखे गये सुन्दर निबंध हैं। जैनेन्द्रकी, जीव, द्रव्य, आत्मवरेण्यसंबंधी विचारावलीपर जैनधर्मकी छाया उतनी नहीं जितना वेदान्तका प्रभाव है। उसे पूर्णतः वेदान्त भी कहना गलत होगा। वह तो एक तरहसे सर्वसाधारणका लोक-धर्म है। वे ‘ अनुभव ’ में विश्वास करते हैं। श्रद्धाके एकमेव साधन होनेकी बात भी स्वीकार करते हैं। संसारके आदि और अन्तकी बात साधारण जनको ज़्यादह उपयोगी नहीं, और ऐसी अलिप्त और विच्छिन्न एवं वादग्रस्त समस्याओंमें वे नहीं पड़ते। कुछ तर्क-प्रधानता अपने ‘ एक पत्र ’ में उन्होंने अवश्य अंगीकृत की थी। परन्तु, वैसे उनकी साधारण विचार-भूमि व्यावहारिक वेदान्तकी अथवा आवश्यकीय साधारण समझदारीकी है। रीड आदि स्कॉटिश दार्शनिकोंके समान उन्होंने Common sense को ही पुनरुज्जीवित, स्पष्ट और अभिव्यक्त किया है। इसीसे मैं जैनेन्द्रके विचारोंमें जनताके साथ कई दशाब्दियोंतक रहनेकी क्षमता पाता हूँ।

परमात्म-तत्त्वके विषयमें जैनेन्द्रकी आस्तिकता कुछ अज्ञेयवादियोंकी-सी है। वे तर्कसे परमात्माको सिद्ध नहीं करना चाहेंगे। उनके ख्यालमें तो 'जो है सो परमात्मा है'। उसे वे 'अस्तित्वकी शर्त' मानकर चलते हैं। जैनेन्द्रकी इस भावुकतामें हिन्दू मर्मियोंकी-सी सारूप्य-प्रधान कातरता घुली हुई नजर आती है जो अत्यधिक माननीय नहीं तो भी सर्वथा मननीय अवश्य कही जा सकती है। जैनेन्द्र श्रद्धालु हैं। वे अपनी श्रद्धा किसी भी चीज़के खातिर खोना नहीं चाहते, अपनी श्रद्धापर उन्हें इतनी श्रद्धा है। वे कला, जीवन, साहित्य,—समस्त विचारोंका अन्तर्बिन्दु उसी सत्य-तत्त्वको मानते हैं। परन्तु, तो भी, वे परमात्माको अगम और अज्ञेय ही समझते हैं। स्पेन्सरने जब ज्ञेयवाद और अज्ञेयवादकी मीमांसा की तब उसकी दृष्टि वैज्ञानिक अधिक थी। पर जैनेन्द्रकी आस्तिकता टालस्टाय या गाँधीके जैसी है जिसमें, विज्ञानसे अधिक, कैंटके परमात्म-अस्तित्वकी नैतिक आवश्यकताका तर्क ही अधिक कार्यशील है।

यहीं जैनेन्द्रके सत्य और वास्तवके अन्तरको समझना होगा। तर्कशास्त्री ब्रैडलेके 'भास और वास्तव' ग्रंथमें कहा गया है कि "वास्तवके साथ मेरा संबंध मेरे सीमित अस्तित्वमें है। क्यों कि, इससे अधिक प्रत्यक्ष संबंधमें मैं कहाँ आता हूँ, सिवा उसके जिसे मैं महसूस कर रहा हूँ यानी 'यह।' ('भास' पृ० २६) और यहाँ 'यह' उसी अर्थमें वास्तव है जिस अर्थमें और कुछ वास्तव नहीं है" (पृ० २२५) कुछ कुछ यही स्थिति ज्यूलियन हक्स्ले जैसे वैज्ञानिकने अपने 'साक्षात्कारशून्य धर्म' नामक पुस्तकमें स्पष्ट की है। यहाँ तक कि चेतन मनकी थ्योरी ईज़ाद करनेवाले विलियम जेम्स जैसे मनोवैज्ञानिक भी अन्ततः जाकर जब जब रहस्यवादी बने हैं, तब तब यह जान पड़ता है कि वैज्ञानिक अथवा तार्किक बुद्धि ही सत्यको समग्रतासे आकलित करनेका मार्ग नहीं। उसे भाव-गम्य भी बनाना होगा। यहीं हार्दिकता और श्रद्धाकी महत्ता, आपसे आप, उद्भूत और सिद्ध हो जाती है।

यहाँ जैनेन्द्रके समष्टिवादके विषयमें एक शब्द कहना जरूरी होगा। जैनेन्द्रके समष्टिबोधमें आत्म-तत्त्वको न गौण माना गया और न भुलाया ही गया है। या कुछ सुधारकर कहें तो सच्चे आत्म-बोधमेंसे ही समष्टि-बोध जाग्रत होगा ऐसा माना गया है। 'जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है' जैसी सर्वात्मभावकी स्थितिमें पहुँचनेपर मोक्षका, यानी अध्यात्मका, महत्त्वशाली मसला अलग या दूर नहीं रह

जाता। डॉ॰ राधाकृष्णनने अपने निबंधोंमें जगह जगह यह दरसाया है कि हिन्दू दर्शन व्यक्तिकी उतनी परवाह नहीं करता जितनी तत्त्वकी। पर ध्यान रहे कि यह तत्त्व ही अन्ततः ऐसा उदार और व्यापक है कि उसमें व्यक्तिको अपनी उपेक्षाका अवकाश नहीं है। तत्त्व ही व्यक्तिका व्यक्तित्व है और व्यक्ति तत्त्वके लिए जीता है, ऐसी शृंखला भारतीय दर्शनमें अव्याहत है।

मुक्तिके सवालपर मुझे एक बार कभी कहीं लिखीं अपनी दो पंक्तियाँ याद आ गईं—

'इन्सानने हमेशा राहतकी राह पूछी
पैगम्बरोंने पूछा—'क्यूँ, कब, कहाँ बँधा है?'

ग़र्ज़ यह कि खलील जिब्रानने जिस प्रकार आत्म-कमलकी पँखुरी पँखुरी खुल जानेका जिक्र किया है, वैसे ही मुक्ति और बंधन मानवी मनकी धूप-छाया है। हम चाहें तो, कब मुक्त नहीं हैं? और वैसे झीखते ही रहें तो कब मुक्त हो सकेंगे?

अन्तमें जैनेन्द्रकी विचार-मान्यताओं और समस्याओंके बारेमें मुझे यह दुहराने दो कि कलाकार जैनेन्द्रने जहाँ अपनी कलम अखंड सहानुभूतिके जीवनमें डुबोई है, वहाँ सदा ही स्याद्वादसे रँगकर उसने चित्रांकन किया है, फिर चाहे अमूर्तके Rarification की बात हो, चाहे मूर्त और प्रस्तुत दुनियवी मामलों और मूल्योंपर सूक्ष्म, परन्तु काफी असरदार, व्यंग हों,—सब ही जगह 'स्यात्' की वह सप्तभंगिमा जैनेन्द्रसे छूटी नहीं है।

जीवन-दर्शी जैनेन्द्रः संस्कृति-आलोचना

साहित्यिक जैनेन्द्रसे भी पहले जीवन-दर्शी जैनेन्द्रका विचार आवश्यक है। मेरे मित्र अकसर जैनेन्द्रके समाजसंस्कृति-विषयक लेखोंको पढ़कर अजीब अजीब अनुमान निकालते हैं। कोई कहते हैं वे सोशलिस्ट हैं, कोई कहते हैं वे गाँधीवादी हैं, कोई कहते हैं वे रोम्याँ रोलाँ हैं। कोई कहते हैं, कुछ नहीं लोगोंका मनोरंजन करते हैं, बौद्धिक कसरत दिखाकर। कोई युवक कहते हैं, 'रैडिकल हैं' 'रैडिकल,' और एक प्रोफेसर साहबका तो तर्क है कि उन्होंने एक अपना mannerism (=लेखनशैली) बना लिया है और उसीसे, कुछ अधपके अधपच्चे विचारोंकी खिचड़ी, कुछ सामान्यीकरण सिद्धान्त, तत्त्वचर्चाके

नामपर लिखते रहते हैं—'फिलासफर बनते हैं जी!' और सबसे विचित्र बात एक औंधी खोपड़ीवालेने कही—'ईडियट' हैं, अर्थात पगले।

मैं इतने अधिक लोगोंके भिन्न भिन्न मतवाद सुनता हूँ और तो भी यह नहीं समझ पाता कि आदमी क्यों चाहता है कि दूसरा वाद भी उसकी अपनी धरणाओंके साँचेमें फिट बैठा दिया जाय। क्या जीवन किसी कटे नापके कोट जैसी स्थूल और धारणाबद्ध वस्तु है, या कभी हो भी सकी है? जहाँ जहाँ वह रूप-धारणा-बद्धता है, वह; जीवनमें हो चाहे विचारोंमें, वहाँ वहाँ हठ आता है, यानी अनिष्ट आता है और यह अवांछनीय है। जीवन, विचार, सभी हेगेलके चिर-विकसनशील Logos के (=विचार-तत्त्वके) व्यक्तीकरण हैं। इसलिए कोई जरूरत नहीं है कि जैनेन्द्र किसी 'इज़्म' में फिट हों ही।

सबसे पहली चीज़ जो मैं जैनेन्द्रके जीवन-विचारमें प्रधान मानता हूँ, वह है उनकी सरल-सहज सर्वसामान्यता। जीवनसंबंधी सभी समस्याओंको इतनी सरलतासे और जनसामान्यके बुद्धि-भार और पुस्तक-आतंकसे विहीन दृष्टि-कोणसे देखनेकी उनकी क्षमताहीको मैं असामान्य मानता हूँ। अपने अनुभवकी कीमत देकर जो विचार ग्रहण किये जाते हैं उनमें मैं विचारक जैनेन्द्रकी प्रत्येक पंक्तिको रक्खूँगा। उनका प्रत्येक अक्षर हार्दिक और प्रामाणिक है। उन्होंने इस पुस्तकके लेख-भाषण-प्रश्नोत्तरोंमें एक भी पंक्ति सिर्फ लिखनेके लिए नहीं लिखी है। वह जीवनकी गहराईसे उद्भूत, उद्गीर्ण है, और उतनी ही गहराई उत्पन्न करनेके लिए लिखी गई है।

तो जग-जीवनके आजके स्वरूपमें,—मानवतामें, भेद-विभेद बहुत हैं। उन्हींसे पीड़ा भी बहुत है। उसके प्रतीकारके लिए उपाय क्या? क्या मार्क्सके कहनेके अनुसार असंतोषको और बढ़ावा देना होगा? क्या ध्वंस आवश्यक रूपमें विकास प्रस्तुत करेगा? स्पष्टतः, नहीं। तो फिर क्या आदर्शवादी गाँधीके समान केवल भविष्यकी आशापर निर्भर हो रहना होगा? भविष्य-आस्था भी एक दूरीकृत कल्पनासे ज़्यादह क्या है? और क्या कोरे स्वार्थपर आधारित परजातीय शासनका हृदय-परिवर्तन,—व्यापारी और कूटनीतिज्ञका हृदय-परिवर्तन इतनी सीधी सादी बात है?

मेरे विचारमें, यह मनुष्यतासे बहुत ज़्यादह आशा रखना है। इतिहास ऐसे विरले, अंगुलीपर गिनने योग्य, सफल आदर्शोंके प्रमाण चाहे दे, पर समष्टिकी

दृष्टिसे ऐसी अपेक्षा आकाशकुसुम जैसी है। पर जैनेन्द्रकी भूमिका संतकी ऐसी वहीं हो जाती है जहाँ वे व्यक्तिवादके अनन्यतम समर्थनमें, संभाव्य-असंभाव्य वास्तविकताको भूलकर, अध्यात्मके वायुलोकमें विहरण करने लग जाते हैं। पर यह भी मुझे बुरा बिलकुल नहीं लगता। क्योंकि यह तो सर्वांशतः भारतीय, प्राणतक जिसके भारतीय हैं ऐसा, दृष्टिकोण है।

यह तो मैं भी मानूँगा कि जिस अर्थनीति और भौतिक जड़वादको समाजवादके रूपमें पश्चिमद्वारा अत्यधिक महत्त्व दिया जा रहा है और जिसका यह परिणाम है कि मानवताकी उपेक्षामें पूर्व उन पश्चिमी धनिकोंद्वारा निरर्थक शोषित हो रहा है, वह सर्वांशतः गलत है। हमें व्यक्तिके नैतिक बलमें विकास करनेकी बहुत ज्यादह जरूरत है। इसीसे हमें इस समाजसे मुक्त होना है जो विज्ञानका शिकार बन गया है। 'नहीं चाहिए हमें मशीन सभ्यताका यह खोखला रूप,' यही जैनेन्द्रकी आत्माकी पुकार है।

साहित्यकार जैनेन्द्र : शैलीका वैशिष्ट्य

और यह पुकार किस सफाई और बुलन्दगीसे व्यक्त होती है ? उनके लेखोंमें उन्हें पढ़नेसे बातचीतका अथवा स्वयं उन्हींसे बातचीत करनेका मज़ा कैसे उत्पन्न होता है, यह दर्शनीय है। यहाँ साहित्यके एक अध्ययनशील विद्यार्थीके नाते जैनेन्द्र साहित्य और जैनेन्द्रके साहित्यक विचारोंपर मुझे कुछ कहना जरूरी जान पड़ता है।

प्रस्तुत पुस्तकका आधेसे अधिक अंश साहित्य और आलोचनासे भरा है। साहित्य क्या, साहित्य और समाज, साहित्य और धर्म,, साहित्य और राजनीति, साहित्य और नीति, साहित्यकार कौन, कैसा आदि लेख, लेखकसंबंधी प्रश्नोत्तर, कुछ पत्र, और नेहरूजीके आत्मचरित और प्रेमचन्दपर लिखी हुई आलोचनाओंसे मेरा मतलब है। साथ ही स्थान-स्थानपर साहित्य-सभाओंमें दिये हुए भाषण भी उसमें आ जाते हैं। साहित्य शब्दके निर्माणमें जो 'सहितता' अर्थात् समवेतता या व्यक्तिमें समष्टिकी उपलब्धिके अर्थ विश्वमें बिखर जानेकी जो अंतर्तम लालसा है, साहित्यको उसीका शब्दांकित रूप जैनेन्द्रने माना है। इस दृष्टिसे उन्होंने उसे विज्ञान या दूसरे ऐसे बुद्धि व्यवसायोंसे अलग माना है। साहित्य मुख्यतः भावोंका आदान-प्रदान है। वह विचार-जागृतिका विधायक,

प्रणेता है। इस अर्थमें वह निष्प्राण, जीवनसे भिन्न, असंबद्ध और विभक्त, अथवा वासना-सेवी कभी नहीं हो सकता।

साहित्यकी सीमाओं और जिम्मेदारियोंको भली भाँति पहिचानकर ही जैनेन्द्रने साहित्य लिखा है, यह कहना अयुक्त न होगा। उनके साहित्यमें सबसे प्रथम और विशेष गुण, उनकी भाव-रम्य सहज वार्तालापशैलीके अतिरिक्त, उनकी विचार-प्रवर्तकता है। उनके विचारोंपर चाहे जो आरोप हम करें, पर यह तो हम कदापि कह ही नहीं सकते कि वे पाठक या श्रोताके मनमें विचार-लहरियाँ नहीं उठाते। उनकी लेखनीकी क्षमता इसीमें है कि वह विचारोंको ठेलती, कुरेदती और आगे बढ़ाती है। एक अच्छे लेखकसे प्रामाणिकता और विचार-प्रवर्तकतासे अधिक कोई माँग करना भी भूल है। पश्चिमी साहित्य पढ़ पढ़ कर हमारे दृष्टिकोणमें कुछ इस तरहकी एक खराबी पैदा हो गई है कि हम उसी साहित्यको ज्यादह उत्कट मानते हैं जो मत-प्रचारसे भाराक्रान्त हो। जैसे अप्टन सिक्लेयर या ऐसे ही छलछलाती शैली और भावोंके अन्य ग्रन्थकार। भारतीय आदर्श ऐसी भाव-विषमताके आवेशसे पैदा हुए या नसोंमें ज्वार-उभार पैदा करनेवाले साहित्यसे सर्वथा विभिन्न रहा है। हमारे यहाँ भावोंका विनिमय, विचारोंका आदान-प्रदान, कभी एक दूसरेको उत्तेजित करनेके लिए नहीं होता। वैसा लेखन या भाषण असभ्य अनैतिक माना जाता था। हम भारतमें साहित्यको शांति और संतोषके प्रसारका एकमेव साधन, रस-सृष्टिका प्रकार, मानते आ रहे हैं। जैनेन्द्रके लेखोंमें विचार-प्रवर्तकता है, विचारोत्तेजना नहीं।

जैनेन्द्रका दूसरा विशेष गुण उनकी प्रश्नोत्तरशील शैलीमें है। वहीं जैनेन्द्रकी वास्तविक सुलझी हुई मानसिक प्रभुताके सच्चे दर्शन होते हैं। व्यक्तिशः जैनेन्द्रकी विचारकतामें मेरी आस्था ऐसे ही खूब निविड़ विवादोंके बाद हुई है। वे विवादोंमें शंका और सब प्रकारकी परिस्थितिकी अशान्तियोंके मध्यमें अडिग रह सकते हैं, इसी गुणको मैं कलाकारकी अमर साधनाका प्रतीक मानता हूँ। जैनेन्द्र अविचलित रहनेवाले साहित्यकार हैं। इसीसे हम कहेंगे कि उनका साहित्यभाव विरलतरसे विरलतम होता जा रहा है।

भाषा और शैलीसंबंधी बातोंपर जब हम आते हैं तब उनकी विशेषता बिल्कुल साफ और अलग नजर आ जाती है। वे भाषाको कभी बनाने नहीं बैठते। ज्यादह बनावटका अर्थ है बिगाड़। जैनेन्द्रका वैशिष्ट्य है कि उनकी अनसँवारी

भाषामें भी उनके विचार अतिशय संयतरूपमें प्रसूत होते हैं। क्योंकि वह अन-सँवारापन भावुकताके आधिक्यसे नहीं उपजा, (जैसी उग्रकी शैली) और न उसमें चुनौती-सी देती वह लापर्वाही है जो अँग्रेजी लेखकोंकी नकलपर इधर लिखी जानेवाली हिन्दीकी कहानियोंमें पाई जाती है। उसमें एक खास किस्मकी मुक्त-प्राण open-aired निश्चिन्तता, एक आत्म-विश्वासकी प्रफुल्लता, वनबालाकी-सी स्वस्थ और चेतोहर स्वच्छन्दता है। और भाषाके मामलेमें ज़्यादह फिक्र सच-मुचमें ठीक नहीं, क्योंकि वह लेखकको अतिरिक्त भावसे सचेष्ट और सचेत (conscious) बना डालती है। यह अवस्था सहज स्फुरणके अनुकूल नहीं। क्या लेखनमें और क्या जीवनमें, सहज होकर ही अपनेको दूसरेमें मिलाया जा सकता है। बिना सहज-भावके तादात्म्य असंभव है। जैनेन्द्र भारी उलझनोंमेंसे इसी श्रद्धामय स्वाभाविकताके सहारे बेदाग पार चले जाते हैं। यह लेखकके व्यक्तित्वके लिए अतिशय महत्त्वशाली वस्तु है। यहाँ पाठकोंके उपयोगार्थ साहित्यविषयक टिप्पणियोंकी ओर इशारा आवश्यक होगा।

दूसरी बात है अपरिग्रह। स्व० प्रेमचंदके बाद, हिन्दीमें इतनी बहती हुई और हृदयग्राही शैलीके साथ ही साथ थोड़ेमें बहुत कह डालनेकी खूबी जिन कतिपय लेखकोंमें हम देख पाते हैं उनमें जैनेन्द्रका स्थान विशेष है। जैनेन्द्रकी शैलीमे निरर्थकतासे बचनेका कितना सफल और सुन्दर आदर्श हम पाते हैं! परिणामस्वरूप इधर उनके वाक्य विचारोंसे खचित भारी होने लगे हैं,—वे सूत्र बनने लगे हैं। यह गागरमें सागर भरनेकी संकेतात्मकता आजके लेखकमें बहुत ही ज्यादह जरूरी मानी जाने लगी है, जब कि ज़मानेके पास समय थोड़ा बचा है और धन्धे (चाहे फिर वे स्वाग ही हों) बहुत अधिक हो गये हैं! *सूचकता (=Suggestiveness) जैनेन्द्रके कई कहानीनुमा लेखोंमें* और दो गद्य-काव्योंमें बहुत अधिक प्रमाणमें उपस्थित है। असलमें वह शैलीगत ही है। उदाहरणके लिए 'जरूरी भेदाभेद,' 'कहानी नहीं,' 'दूर और पास,' 'राम-कथा' आदि। उसमें तर्क करनेकी पद्धति भी इतनी मनोहारी है कि वह तार्किक नहीं लगती। वह पाण्डित्यसे-आच्छन्न शैली नहीं है। वह सदैव ताजा, प्रसन्न, सादी और चलती हुई हिन्दुस्तानी लेखनशैली है।

जैनेन्द्रकी लेखन-शैलीकी तीसरी खासियत उसका घरेलूपन है। इस विशेषताको गौण बनाकर नहीं देखा जा सकता। अक्सर मौकोंपर ऐसे मौजूँ मुहावरे हमें

मिलते हैं कि जिनकी मिसाल नहीं। 'बिलांद', 'बिसात', 'झिल नहीं रही है' 'अमाना' आदि कई रोज़मर्राके व्यवहारके शब्दोंके साथ ही जगह जगह दार्शनिक संज्ञाओंके लिए इतने सरल शब्द प्रयोजित हुए हैं कि देखते ही बनता है। कई नये शब्द जरूरतके वक्त मानों आप ही आप बन गये हैं जिनसे लेखकका भाषा-विषयक अधिकार व्यक्त होता है। अवश्य कई स्थलोंपर काफी दुर्बोध शब्दोंकी भी योजना हुई है परन्तु वह मेरे विचारसे भाषाकी लाचारीकी वजहसे हुई है, लेखककी अक्षमता और आग्रहकी वजहसे नहीं। यथा स्थान-स्थानपर अँग्रेजी शब्द-योजना।

जैनेन्द्रकी सहज भाषामें गहन विचार ढाल देनेकी विशेषता, विनोदसे कहूँ तो, इस तुलनासे व्यक्त हो जायगी—जैसे एक ओर मेरी मातृभाषा न होनेसे मेरी इसी भूमिकाकी कृत्रिम किताबी हिन्दी और दूसरी ओर जैनेन्द्रकी 'नेहरू और उनकी कहानी' की सरलातिसरल शैली। इसपर अब ज्यादह विचार करना भी नदीके 'जीवन' की गहराईके नापकी अपेक्षा, पात्र और लम्बाई चौड़ाईका बाह्य विचार करनेके समान होगा।

जैनेन्द्र और हिन्दीका भविष्य

आशय यह कि जैनेन्द्रसे हिन्दीको बहुत आशायें हैं। हों भी क्यों न? जैनेन्द्रका पटनेका भाषण, जो इस संग्रहमें 'हिन्दी और हिन्दुस्तान' शीर्षकसे प्रकाशित है, इस दिशामें जैनेन्द्रके राष्ट्रभाषा-विषयक विचारोंका विधायक और व्यावहारिक स्वरूप जतला सकता है। परन्तु इस पुस्तकके साथ जैनेन्द्रको, जिन्हें कि हिन्दी अबतक कहानीकार और उपन्यासकारके रूपमें जानती थी, एक अच्छे चिन्तक, दार्शनिक और निबन्धकारके रूपमें पा सकती है। यह दायित्व तो हिन्दीके कंधोंपर है कि चाहे वह इस विचार-लोकके द्युतिमान नक्षत्रको (क्योंकि आखिर सत्ताईस ही तो निबंध-लेख-गद्यकाव्यादि इस संग्रहमें ग्रथित हैं) अपने गौरवका केन्द्र-बिन्दु समझकर समुचित स्थान दे, चाहे जैसे कई अन्य कलाकार हिन्दीमें उपेक्षित रह गये हैं, वैसे ही इसे भी अनंत शून्य और विस्मृतिके क्षितिजमें गिरकर विलीयमान हो जाने दे। इस बारेमें ज्यादह कुछ कहना हो भी क्या सकता है?

तो भी, हिन्दीके लिए जो मुझे ममता है, उसकी संपूर्णताके साथ मुझे कहने

दीजिए कि हमारे साहित्याकाशमें हिन्दीके भविष्योज्ज्वल सुवर्ण-कालके प्रभात-तारे द्युतिमान होने लगे हैं। जैनेन्द्र उनमें शुक्र हैं। ये सब उस आनेवाले भाग्योदयके सूचक मंगल-चिह्न हैं। हिन्दी माताके सौभाग्यालंकारको अब हमें समझने और जाननेके लिए अधिक समय लगाना अज्ञान नहीं, पाप माना जायगा। हिन्दी गद्य अब पुरातन परिपाटीकी सीमासे बाहर आकर निखरने लगा है, अपने पैरोंपर खड़े रहनेका पर्याप्त मौलिक मनोबल उसमें अब आने लगा है और अब उसे आवश्यकता नहीं रही है कि बंगला या अँग्रेज़ीकी जूँठनसे ही संतुष्ट रहे। उसपर युगकी चोट पड़ी है और उसे प्रस्तुत और प्रबुद्ध होकर उस युगको प्रति-चोट देने जितनी क्षमता अपने बाहुओंमें पाना है।

हिन्दी लेखक उस क्षमताको विचार-सूक्ष्मता, संकल्पकी दृढ़ता, निरर्थकके मोहका परित्याग, भाषाके संबंधमें उदारता, आत्म-विश्वास और आत्म-सामर्थ्य-द्वारा ही विकसित कर सकता है। जैनेन्द्रमें इनमेंसे बहुत-सी चीजोंके बीज हैं। और मेरी इस भूमिकासे यह कदापि न समझना होगा कि मेरा कथन जैनेन्द्रपर अन्तिम वाक्य है। लेनिनने कहा है, 'अन्तिम कुछ नहीं है' और जीवित लेखक चिर-वर्धमान होता है। उसपर जो कुछ हम कहें वह भी qualified अर्थोंमें ही लेना चाहिए, क्योंकि साहित्यकार और सरित्प्रवाह एकसे हैं।

कुछ स्व-गत

नदीका एक नाम है वेगवती। बहना उसके स्वभावमें है। चट्टानें राहमें आवें, पर वह रुकावटपर नहीं रुकती। वह अपने आप अपने ही समग्र जीवन-सामर्थ्यके साथ, अपनी दिशा खोज लेती है;—उसमें समुद्रके विराट् हृदयके साथ एकीकरण पानेकी तीव्र लगन रहती है। वह अपनी शैल-गुहासे ममताका नाता तोड़कर, पूरी गति और हार्दिकताके साथ सिर्फ बढ़ते जाना ही जानती है। राहमें धूप और छायाकी बुनी जाली उसे ढाँकती-खोलती, कंकड़-पत्थरके बिछौने और निर्झर-बंधु उसका आमंत्रण करते, कटीली झाड़ियाँ उसकी धाराकी बाधा बन आतीं और बालूकी अपार शोषकता उसके सम्मुख विस्तृत उपेक्षा बनकर फैली रहती है। तो भी नदी नदी है। नहीं है उसे परवाह इन दुनिया-भरके बन्धनोंकी। वह तो निःश्रेयसकी साधिका बनी उसी आकूल महासागरकी ओर बस प्रवहमान, गतिशीला है।

चिन्तक कलाकारके मुक्त विचार भी ठीक ऐसे ही होते हैं। वे सत्योन्मुख अभेदानुभूतिकी चिरन्तन-लालसासे अनुप्राणित, सजीव-सहज, निर्बंध-अखंड, सहिष्णु-उदार और वेगात्मक होते हैं।

ऊपरा ऊपरी दर्शक नदीका एक खंड देखकर कहता है, 'ओह, कितना तरंग-तांडव, कितना अनियमित बिखरा-बिखरापन, जिसमें कोई एक सूत्रता ही न दीखे!' पर वह भूलता है। थोड़ी-सी विचारपूर्वकताके साथ वह देखे तो पाये कि 'अरे, इसका प्राकृतिक प्रवेग तो देखो, इसकी सरल-सहज सत्यप्रियता तो देखो! इसकी लक्ष्योन्मुखी कातरता ही क्या इसके प्राणोंका सुसूत्र अर्थ नहीं? अरे, इसका नदीपन ही तो इसके अस्तित्वका नियम है! यह लहरी-नृत्य नहीं, यह जीवन-मंथन है।'

जो मुक्त-विचार जीवनकी कीमत देकर पहिचाने जाते हैं उनकी ट्रेजेडी यही है कि उन्हें कोई नहीं पहिचानता। वे अपरिचित,—अनएस्यूमिंग रहकर ही सुख पाते हैं। उनकी अपार आर्द्रता, उनका विश्व-वेदनाके साथ हृदयगुन्थन क्वचित् ही मर्मराकुल होता है। अधिकतर वह नीरव रहता है। वे ऊर्ध्वगामी, निरन्तर मूक, आत्माकी व्यथा-गोदसे उठनेवाली, प्रश्न और विस्मय-चिह्नांकित पुकारें हैं।

और दुनिया जब इस पशोपेशमें ही पड़ी रहती है कि कोई समझे, हम तो नहीं समझते, तभी मेरे जैसा कोई अल्प-कौशल दृश्यांकनकार (=Landscape-painter) उस विचार-नदीके किनारों-किनारोंपर पर्यटन करके किसी एक खंडको लेकर प्रयास करने बैठ जाता है कि जिसमें नदीकी पूरी आत्माकी झलक वह अपने छोटेसे चित्र-खंडमें प्रस्तुत कर दे। उसमें वह अपने दृष्टि-कोणको शक्यतः विस्तृत और तटस्थ बनाकर नदी और नदीके आकाश-वातासको खींच लानेका प्रयत्न करता है।

जैनेन्द्रके इस लेख-संग्रहकी भूमिका लिखते समय मुझे अपनी ओरसे इतनी-सी ही कैफियत कहो या विज्ञप्ति, दे देनी है।

ऊपर सहजको समझानेका और निरभ्र आकाशकी अपार नीलम गहराईमें रंगच्छटायें खोजनेका किंवा नदीके तरंग-भेदमें परिव्याप्त एकमेव 'जीवन-भेद' को चीह्नने का असाध्य कर्म मैंने किया है।

इस प्रथम प्रयासमें मैंने, हो सकता है, गलतियाँ भी की हों। कई भूलें भी

रह गई हों। अनावश्यक विस्तार भी हो गया हो। परन्तु, मेरा अनभ्यस्त हृदय इस सबके लिए हिन्दी-पाठकसे क्षमा माँग लेना चाहता है। भूमिका जिन्हें अपूर्ण-सी लगे, उनके लिए विशेष अध्ययनके संदर्भ रूपमें टिप्पणियाँ पीछे हैं ही।

भूमिकाकी इस अन्तिम पंक्तियोंमें मुझे एक तो श्री० 'अज्ञेय' का आभार मानना है जिन्होंने कृपापूर्वक अपनी प्लास्टरकी मूर्तिका छाया-चित्र इस संग्रहके लिए भेज दिया। मित्रवर श्री. अ. गो. शेवडे एम. ए. की एक भेटका भी मैंने लाभ उठाया है। दूसरे प्रकाशक महोदयको भी धन्यवाद देना होगा जिन्होंने विशेषतः टिप्पणियाँ और संदर्भ-सूची आदिके बनानेमें मेरी ओरसे होनेवाले अनावश्यक और अत्याधिक विलम्बको आत्मीय भावसे सहन कर लिया और मुझे यह मौका दिया कि मैं जैनेन्द्रके बिखरे विचारोंको कुछ आकार-प्रकार देकर हिन्दी जनताके सम्मुख रक्खूँ। अन्तमें, शायद यह कहनेकी जरूरत न होगी कि यह विचारोंकी पुस्तक है। विचारपूर्वक ही यह पढ़ी जाय। यह भी कि विचार-शीलोंद्वारा ही यह आलोचित हो तो अच्छा। नहीं तो हिन्दीमें, मैं देख रहा हूँ, विचारके विषयमें पर्याप्त विचार नहीं किया जाता है। इस विषयमें सावधानी रखनेके लिए मेरी सभी पाठकोंसे विनय है।

माधव कॉलेज,
उज्जैन,
१-११-३७

—प्रभाकर माचवे

विषय-सूची

साहित्य-विचार

१ साहित्य कला—

जीवन-विचार

लेखककी अन्य रचनायें

परख (उपन्यास)		१)
त्यागपत्र	,,	१।)
सुनीता	,,	३)
तपोभूमि	,,	२)
एक प्रश्न	,,	
वातायन (कहानियाँ)		१॥)
एक रात	,,	१।)
दो चिड़ियाँ	,,	१)
फाँसी	,,	॥।)
स्पर्द्धा	,,	।=)
राजकुमारका पर्यटन		

व्यवस्थापक—

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,

हीराबाग, गिरगांव, बम्बई

साहित्य क्या है ?

साहित्यकी सृष्टि और साहित्यकी आधुनिक प्रगतिपर आलोचनात्मक विचार आरम्भ करें, इससे पहिले अच्छा होगा कि उस बारेकी अपनी जानकारीको हम स्पष्ट कर लें।

'साहित्य क्या है?' यह प्रश्न उठाकर हम आशा न करें कि उत्तरमें वह परिभाषा पा सकेंगे जो प्रश्नके चारों खूँट घेर ले। परिभाषाका यह काम नहीं है। परिभाषा सहायक होती है, वह प्रश्नवाचक चिह्नको सर्वथा मिटा नहीं देती। परिभाषाद्वारा प्रश्नवाचक चिह्नको मिटा देनेका यत्न हमें नहीं करना चाहिए। यह समझ लेना चाहिए कि हमारे सब प्रकारके ज्ञानके आगे, और साथ, सदा प्रश्नवाचक चिह्न चलता है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम इस चिह्नको ठेल कर आगेसे आगे बढ़ाते रहें। पर, यह भी हम करें कि उसे अपनी आँखोंकी ओट कभी न होने दें। जब ऐसा

होता है तभी आदमीमें कट्टर अन्धता (=Dogma) आती है और उसका विकास रुक जाता है।

इस तरह, एक परिभाषा बनायें और उससे काम निकालकर सदा दूसरी बनानेको तैयार रहें। यह प्रगतिशील जीवनका लक्षण है और प्रगतिशील, अनुभूतिशील जीवनका लिपिबद्ध व्यक्तीकरण साहित्य है। इसीको यों कहें कि मनुष्यका और मनुष्य-जातिका भाषाबद्ध या अक्षर-व्यक्त ज्ञान साहित्य है।

प्राणीमें नव बोधका उदय हुआ तभी उसमें यह अनुभूति भी उत्पन्न हुई कि 'यह मैं हूँ' और 'यह शेष सब दुनिया है।' यह दुनिया बहुत बड़ी है,—इसका आर-पार नहीं है, और मैं अकेला हूँ। यह अनन्त है, मैं सीमित हूँ,—क्षुद्र हूँ। सूरज धूप फेंकता है जो मुझे जलाती है, हवा मुझे काटती है, पानी मुझे बहा ले जायगा और डुबा देगा, ये जानवर चारों ओर 'खाऊँ खाऊँ' कर रहे हैं, धरती कैसी कँटीली और कठोर है,—पर, मैं भी हूँ, और जीना चाहता हूँ।

बोधोदयके साथ ही प्राणीने शेष विश्वके प्रति द्वन्द्व, द्वित्व और विग्रहकी वृत्ति अपनेमें अनुभव की,—इससे टक्कर लेकर मैं जीऊँगा, इसको मारकर खा लूँगा, यह अन्न है और मेरा भोज्य है; यह और भी जो कुछ है, मेरे जीवनको पुष्ट करेगा।

बोधके साथ एक वृत्ति भी मनुष्यमें जागी। वह थी 'अहंकार'। किन्तु 'अहंकार' अपनेमें ही टिक नहीं सकता। अहंकार भी एक सम्बन्ध है जो क्षुद्रने विराटके प्रति स्थापित किया। विराटके अवबोधसे क्षुद्र पिस न जाय, इससे क्षुद्रने कहा, 'ओह, मैं 'मैं' हूँ, और यह सब मेरे लिए है।'

इसी ढंगसे क्षुद्रने अपना जीवन सम्भव बनाया।

किन्तु, जीवनकी इस सम्भावनामें ही विराट् और क्षुद्र, अनन्त और ससीमका अभेद सम्पन्न होता दीखा। वह अभेद यह है,—जो कुछ है वह क्षुद्र नहीं है पर विराटका ही अंश है, उसका बालक है, अतः स्वयं विराट् है।

धूप चमकी, तो वृक्षने मनुष्यसे कहा, 'मेरी छायामें आ जाओ,' बादलोंसे पानी बरसा तो पर्वतने कंदरामें सूखा स्थल प्रस्तुत किया और मानो कहा, 'डरो मत, यह मेरी गोद तो है।' प्यास लगी तो झरनेके जलने अपनेको पेश किया। मनुष्यका चित्त खिन्न हुआ और सामने अपनी टहनीपरसे खिले गुलावने कहा, 'भाई, मुझे देखो, दुनिया खिलनेके लिए है।' साँझकी वेलामें मनुष्यको कुछ भीनी-सी याद आई, और आमके पेड़परसे कोयल बोल उठी, 'कू—ऊ, कू—ऊ।' मिट्टीने कहा 'मुझे खोदकर, ठोक-पीटकर, घर बनाओ, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगी।' धूपने कहा, 'सर्दी लगेगी तो सेवाके लिए मैं हूँ।' पानी खिलखिलाता बोला, 'घबड़ाओ मत, मुझमें नहाओगे तो हरे हो जाओगे।'

मनुष्य प्राणीने देखा—दुनिया है, पर वह सब उसके साथ है।

फिर भी, धूपको वह समझ न सका, वर्षाके जलको, मिट्टीको, फूलको,—किसीको भी वह पूरी तरह समझ न सका। क्या वे सब आत्मसमर्पणके लिए तैयार नही हैं? पर, उस क्षुद्रने अहंकारके साथ कहा, 'ठहरो, मैं तुम सबको देख लूँगा। मैं 'मैं' हूँ, और मैं जीऊँगा।'

इस प्रकार अहंकारकी टेक बनाकर, अपनेको क्षुद्र और सबसे अलग करके वह जीने लगा। अर्थात्, सब प्रकारकी समस्याएँ खड़ी करके उनके बीचमें उलझा हुआ वह जीने लगा। विश्वके साथ विभेद-वृत्ति ही, उसके जीनेकी शर्त्त बनकर, उसके भीतर अपनेको चरितार्थ करने लगी।

पर, इस जीवनमें एक अतृप्ति बनी रही जो विश्वके साथ मानों अभेदकी अनुभूति पानेको भूखी थी। अहंकारसे घिरकर वह अपने क्षुद्रत्वके अवबोधसे त्रस्त हुआ,—त्यों ही विराटसे एक होकर अपने भीतर भी विराटताकी अनुभूति जगानेकी व्यग्रता उसमें उत्पन्न हुई। इस व्यग्रताको वह *भाँति-भाँतिसे शान्त करने लगा। यहींसे धर्म,* कला, साहित्य, विज्ञान,—सब उत्पन्न हुए।

यह अभेद-अनुभूति उसके लिए जब इष्ट और सत्य हुई ही थी तभी विभेद आया। एक आदर्श था तो दूसरा व्यवहार। एक भाविष्य था तो दूसरा वर्त्तमान।—इन्हीं दोनोंके संघर्ष और समन्वयमेंसे मनुष्य प्राणीके जीवनका इतिहास चला और विकास प्रगटा।

मनुष्यकी मनुष्यके साथ, समाजके साथ, राष्ट्रके और विश्वके साथ, (और इस तरह स्वयं अपने साथ) जो एक सुन्दर सामंजस्य,—एकस्वरता, (=Harmony) स्थापित करनेकी चेष्टा चिरकालसे चली आ रही है, वही मनुष्य जातिकी समस्त संग्रहीत निधिकी मूल है। अर्थात्, मनुष्यके लिए जो कुछ उपयोगी, मूल्यवान्, सारभूत आज है, वह ज्ञात और अज्ञात रूपमें उसी एक सत्य-चेष्टाका प्रतिफल है। इस प्रक्रियामें मनुष्य जातिने नाना भाँतिकी अनुभूतियोंका भोग किया। सफलता की,

विफलता की, क्रिया की, प्रतिक्रिया की,—हर्ष, क्षोभ, विस्मय, भीति, आह्लाद, घृणा और प्रेम,—सब भाँतिकी अनुभूतियाँ जातिके शरीरने और इतिहासने भोगीं, और वे जातिके जीवन और भविष्यमें मिल गईं। भाँति-भाँतिसे मनुष्यने उन्हें अपनाया, और व्यक्त किया। मंदिर बने, तीर्थ बने, घाट बने,—वेद, शास्त्र, पुराण, स्तोत्र-ग्रन्थ बने,—शिलालेख लिखे गये, स्तम्भ खड़े हुए, मूर्त्तियाँ बनीं और स्तूप निर्मित हुए। मनुष्यने अपने हृदयके भीतर विश्वको यथासाध्य खींचकर जो जो अनुभूतियाँ पाईं,—मिट्टी, पत्थर, धातु अथवा ध्वनि एवं भाषा आदिको उपादान बनाकर, उन्हें ही रख जानेकी उसने चेष्टा की। परिणाममें, हमारे पास ग्रन्थोंका अटूट, अतोल संग्रह है, और जाने क्या क्या नहीं है।

मानव-जातिकी इस अनन्त निधिमें जितना कुछ अनुभूति-भाण्डार लिपिबद्ध है, वही साहित्य है। और भी, अक्षर-बद्ध रूपमें जो अनुभूति-संचय विश्वको प्राप्त होता रहेगा, वह होगा साहित्य।

प्रश्नोत्तर*

प्रश्न—साहित्य क्या है ?

उत्तर—क्या साहित्यकी परिभाषा चाहते हैं ? परिभाषा अनेक दी जा सकती हैं। लेकिन मैं समझता हूँ कि प्रश्नका उद्देश्य परिभाषा माँगने अथवा लेनेका नहीं है। साहित्यको हमें समझना चाहिए। समष्टि रूपमें हम एक हैं, व्यक्तिगत रूपमें हम अनेक हैं, अलग अलग हैं। इस अनेकताके बोधसे हम ऊपर उठना चाहते हैं। आखिर तो हम समयके अंग ही हैं। उस समयके साथ ऐक्य न पालें तब तक कैसे हमें चैन मिले ? इसीसे व्यक्तिमें अपनेको औरोंमें और औरोंको अपनेमें देखनेकी सतत अभिलाषा है। मनुष्यके समस्त कर्मका ही यह अर्थ है। मनुष्यके हृदयकी वह अभिव्यक्ति जो इस आत्मैक्यकी अनुभूतिमें लिपिबद्ध होती है, साहित्य है।

प्रश्न—साहित्यका जन्म कैसे हुआ ?

उत्तर—इसका उत्तर तो ऊपर ही आ जाता है। मनुष्य अपने आपमें अधूरा है, लेकिन वह पूर्ण होना चाहता है। इस प्रयासमें क्रमशः वह भाषाका आविष्कार कर लेता है, लिपि भी बनाता है। तब वह उस लिपिबद्ध भाषाके द्वारा अपनेको दूसरेके प्रति उँड़ेलता है। अपनेको स्वयं अतिक्रमण कर जानेकी इस चाहको ही साहित्यकी मूल प्रेरणा समझिए।

---

* ये प्रश्न श्री रमेशचन्द्र आर्यने किये थे।

विज्ञान और साहित्य

ज्ञानकी प्राथमिक अवस्थामें मनुष्यके निकट स्वप्न और सत्यमें अधिक भेद न था। जो उसने सपनेमें देखा, जो कल्पना की, उसे ही सच मान लिया। और जिसको आजकल हम वास्तव कहकर चीन्हते हैं,—पत्थर, धातु, आदमी, समाज, सरकार,—ये सब-कुछ उसके लिए उतना ही अवास्तव अथवा संदेहास्पद था जितना कि उसका स्वप्न।

आँख खोलते ही उसने देखा,—सूरज है जो चमकता है; उसने तुरन्त कहा, 'सूरज बड़ा कान्तिमान् देवता है।' उसने और भी देखा कि सूरज पूरबमें उगता और पच्छिममें डूबता है,—इस तरह वह चलता भी है, और उसने कहा 'सूरज देवताके रथमें सात घोड़े हैं जो उसे तेज़ीसे खींचते हैं।' यों आदिम मनुष्यने जब सूर्यको देखा तब उसे आह्लाद हुआ, विस्मय हुआ, भक्ति हुई और सूरजके सम्बन्धमें उसने जो धारणा बनाई उसमें ये सब भाव किसी न किसी प्रकार व्यक्त हुए। सूर्य उसके निकट एक पदार्थ-मात्र न रहा जो ज्ञान-गम्य ही हो, वह उसके निकट देवता बन गया।

आँख मींचनेपर उसने सपने देखे। देखा, वह पक्षीकी तरह उड़ सकता है, मछलीकी तरह पानीमें तैर सकता है,—पल-भरमें सागरोंको वह पार कर गया, सागरोंके पार हरियाली ही हरियाली है और वहाँ मीठी बयार चलती है। उसने झटसे कहा, 'वह है स्वर्ग। वहाँ अत्यन्त स्वरूपवान् व्यक्ति बसते हैं, वहाँ दुःख है नहीं, प्रमोद ही प्रमोद है।'

यह सपनेका स्वर्ग उसके निकट वैसा ही वास्तव होकर रहा जैसा आँखोंसे दीखनेवाला सूरज। सूरजके प्रति उसने जलका तर्पण दिया तो इसी प्रकार अन्य देवताओंका समारोप करके उसने उनके प्रति अपनी कृतज्ञताका ज्ञापन किया। देवताओंके नाम बने, मूर्तियाँ बनीं, स्तवन बनें। और यह देवतालोग उसके जीवनके साथ एकाकार होकर, हिल-मिलकर, रहने लगे।

इस प्राथमिक ज्ञानके उद्बोधनकी अवस्थामें मनुष्यने अपनेको जब विश्वसे अलहदा अनुभव किया तब उसके साथ भाँति-भाँतिके रिश्ते भी कायम रक्खे।—तब उसका समस्त ज्ञान अनुभूतिसूचक ही रहा। विशुद्ध बौद्धिक ज्ञान, अर्थात् विज्ञान, बहुत पीछे जाकर उदयमें आया।

नानीने अपने नन्हेंसे बच्चेको चन्दा दिखाते हुए कहा, 'देखो बेटा, चन्दा मामा!'

बच्चेने उसे सचमुच ही अपना चन्दा मामा बना लिया। जब जब उसने चाँद देखा, ताली बजाकर, नानीकी उँगली पकड़कर कहा, 'देख नानी, चन्दा मामा!'

पर जब बच्चा बढ़कर बड़ा हुआ तब चाँद देखकर उसका ताली बजाना खत्म हो गया। चन्द्रमा देखकर किसी भी प्रकारके आह्लादकी प्राप्ति उसे नहीं होने लगी। आह्लाद कम हो गया, उत्सुकता भी कम हुई,—पर उसकी जगह एक गम्भीर जिज्ञासाका भाव जाग उठा। उस बड़ी उमर पाये हुए आदमीने कहा—

'चन्दा मामा नहीं है। मामा कहना तो मूर्खता है, निरा बचपन है। लाओ, टेलिस्कोप लगाकर देखें चन्द्रमा क्या है।'

चन्द्रमामें कुछ काला-काला-सा दीखता है। हमारी कल्पना, जिसमें आत्मीय भावकी शक्ति है, झट वहाँतक दौड़ गई। और उसने कहा—

'वहाँ बैठी बुढ़िया चर्खा कात रही है।' दूसरेने ऐसा ही कुछ और कह दिया। यह कहकर मानों हमने सचमुच कुछ तथ्य पा लिया है, ऐसी प्रसन्नता मनको हुई।

पर उमरवाले बालकने फिर कहा, 'नहीं नहीं, मेरे टेलिस्कोपमें जो दीखेगा चाँदमेंका काला काला दाग़ वही है। जबतक साफ़ साफ़ उसमें कुछ नहीं दीखता तबतक कुछ मत कहो। यह तुम क्या चर्खेवाली बुढ़ियाकी वाहियात बात कहते हो!'

जब शनैः शनैः इस प्रकार विश्वको आत्मसात् करनेकी मानवकी प्रक्रियामें यह द्विविधा आती चली, उसी समयसे मनुष्यके ज्ञानमें भी विभक्तीकरण हो चला। इससे पहिले जो था, सब साहित्य था। उस समय मनुष्य ज्ञाता और शेष विश्व ज्ञेय न था। वह भी विश्वका अंश जैसा था। उसमें अहम् सर्वप्रधान होकर व्यक्त न हुआ था। प्रकृति सचेतन थी और जगत् विराट्मय था। पंच-तत्त्व देवता-रूप थे और भिन्न भिन्न पदार्थ उनके प्रकाश-स्वरूप। तब विश्व मानो एक परिवार था और मानव उसका एक एक सदस्य। मानो विराटकी गोदमें बैठा हुआ वह एक बालक था।

उस समय उसकी समस्त धारणाएँ अस्पष्ट थीं अवश्य, पर अनिवार्य रूपमें अनुभूतिसूचक थीं, प्रसादमय थीं।

आदमीने चकमकके दो टुकड़ोंको रगड़कर अग्नि पैदा की। पर उसने यह नहीं कहा, 'चकमकके टुकड़ोंको रगड़ा इससे आग पैदा हुई है।' उसने नहीं कहा, 'देखो, मैं इस तरह आग पैदा कर लेता

हूँ।' उसने माना अग्नि देवता प्रसन्न हुए हैं। उन्हींका प्रसाद है कि यह स्फुलिंग उसे प्राप्त हुआ है। चकमककी रगड़ तो प्रसाद-प्राप्तिके लिए निमित्तमात्र साधन है।

आज दियासलाई जलाकर हमने आग पाई और एक फार्मूला (=सूत्र) प्रस्तुत किया कि अमुक रसायन-तत्त्वोंसे बनी हुई दियासलाईको अमुक मसालेसे रगड़नेपर अवश्य अग्नि प्राप्त होगी। उस फार्मूलेके सहारेसे हमने देवताका निर्वासन कर दिया और अग्नि हमारी चेरी होकर रह गई।

यह फार्मूला-बद्ध धारणा स्पष्ट, निश्चित, और कदाचित् अधिक तथ्यमय अवश्य है, किन्तु अनुभूतिसूचक नहीं है। इस धारणासे हमारे चित्तके किसी भावको तृप्ति नहीं प्राप्त होती।

अधिकाधिक अनुभूति-संचय और अवबोधवृद्धिके बाद मनुष्यने अपनेको ज्ञाता अनुभव करना आरम्भ किया। उसने अपनेको पदार्थोंसे और पदार्थोंको अपनेसे एक बार अलग करके फिर उन्हें बुद्धिके मार्गद्वारा अपने निकट लानेकी चेष्टा की।

हम कह चुके हैं, मानव अपनी सब चेष्टाओं, सब प्रयत्नों और सब प्रपंचोंद्वारा, जाने-अनजाने एक ही सिद्धिकी ओर बढ़ रहा है। और वह सिद्धि है,—अपनेको विश्वके साथ एकाकार करना और विश्वको अपने भीतर प्रतिफलित देख लेना। बुद्धिके प्रयोगद्वारा भी वह इसी अभेद-अनुभूति तक पहुँचना चाहता है। किन्तु, मानव-बुद्धि उस तलकी वस्तु है जहाँका सत्य विभेद है, अभेद नहीं। वह अन्वयद्वारा चलती है, खण्ड खण्ड करके समयको समझती है। अहंकार उसका मूल है और ज्ञेयका पार्थक्य उसकी शर्त्त।

जहाँ यह बुद्धि प्रधान होकर रही, जहाँ उसने पदार्थको उसके

चारों ओरके सम्बन्धोंसे तोड़कर उसे समझनेकी चेष्टा की,—और जिसका परिणाम जीवनके रस और नीतिसे, इस प्रकार, अधिकाधिक विच्छिन्न होकर प्रकट हुआ कि जिससे अनुभूति कम और यत्न अधिक व्यक्त हुआ, और जो अन्ततः रेखाबद्ध और फार्मूला-बद्ध विद्या हो पड़ी,—वही वस्तु है विज्ञान।

मनुष्यके विकास-आरम्भके पर्याप्त कालके अनन्तर विज्ञानका प्रादुर्भाव हुआ। आदिमें तो विज्ञानको भी अनुभूति-मय रखनेकी चेष्टा रही। अर्थात् रूपकों, कहानियों और श्लोकोंद्वारा उसे प्रकट किया गया। बहुत पीछे जाकर, उसे व्यवस्था-बद्ध विज्ञानका वह रूप मिला जो जीवनकी असली आवश्यकतासे विच्छिन्न हो गया।

इसके विरोधमें जब मानवने अपने व्यक्तित्वके पूरे ज़ोरसे विश्वको अपनानेकी चेष्टाको शब्दोंमें व्यक्त किया,—जो शुद्ध अनुभूतिमय है, जहाँ लगभग स्रष्टा ज्ञाता है ही नहीं वरन् वह अपनी सृष्टिसे एकाकार है, जहाँ सम्बन्ध सिरजनका है जाननेका नहीं, जहाँ ज्ञाता और ज्ञेयका पार्थक्य नहीं है और जहाँ स्रष्टा और सृष्टिकी एकता है;—वह है साहित्य।

इस तरह विज्ञान प्रथमावस्थामें साहित्य है।

और अपनी अन्तिम अवस्थामें भी,—जब वह केवल बुद्धिका व्यापार नहीं है, और जब वह प्रसाद-मय, रहस्य-मय, और मानों ईश्वराभिमुख है,—वह साहित्य है।

कहा गया है जानना ही बनना है,—Knowing is becoming; जहाँ जाननेका स्वरूप बनते जानेका है, जहाँ ज्ञान संग्रहसे अधिक रचना करता है वहाँ विज्ञान शुद्ध ज्ञान है और साहित्य भी शुद्ध ज्ञान है,—अर्थात् एक विज्ञान है।

साहित्य और समाज

हिन्दी-साहित्यमें अब जो नई शक्तियाँ आ रही हैं, उनमें बहु-भागको सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं है। कुछ काल पहले तक हमारा साहित्य उच्च-वर्गीय था। उसके उत्पादक समाजके प्रतिष्ठा-प्राप्त व्यक्ति थे। अब अधिकांश ऐसा नहीं रह गया है। जिनको समाजमें पैर टेकनेको कोई ठीक ठौर नहीं है, वे लोग भी आज लिखते हैं। इससे प्रश्न होता है कि समाजकी और साहित्यकी परस्पर क्या अपेक्षा है?—क्या सम्बन्ध है?

साहित्य अब अधिकाधिक व्यक्तिगत होता जा रहा है। पहले वह अपेक्षाकृत समाजगत था। समाजकी नीति-अनीतिकी मान्यताओंकी ज्योंकी त्यों स्वीकृति साहित्यमें प्रतिबिम्बित दीखती थी। अब उसी साहित्यमें समाजकी उन स्वीकृत और निर्णीत धारणाओंके प्रति व्यक्तिका विरोध और विद्रोह अधिक दिखाई पड़ता है। अतः, यह कहा जा सकता है कि साहित्य यदि पहले दर्पणके तौरपर सामाजिक अवस्थाओंको अपनेमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भावसे धारण करनेवाली वस्तु थी तो अब वह कुछ ऐसी वस्तु है जो समाजको प्रतिबिम्बित तो करे, पर चाटुतासे अधिक उसे चोट दे, और इस भाँति समाजको आगे बढ़ानेका काम भी करे। साहित्य अब प्रेरक भी है। वह ला देता ही नहीं, अब वह कराता भी है। हमारी बीती ही उसमें नहीं है, हमारे संकल्प और हमारे मनोरथ भी आज उसमें भरे हैं।

जो समाजके प्रति विद्रोही है, समाजकी नीति-धर्मकी मर्यादाओंकी रक्षाकी जिम्मेदारी अपने ऊपर न लेकर अपनी ही राह चला चल रहा है, जो बहिष्कृत है और दण्डनीय है,—ऐसा आदमी भी साहित्य-सृजनके लिए आज एकदम अयोग्य नहीं ठहराया जा सकता। प्रत्युत देखा गया है कि ऐसे लोग भी हैं जो आज दुतकारे जाते हैं, पर अपनी अनोखी लगन और अपने निराले विचार-साहित्यके कारण कल वे ही आदर्श भी मान लिये जाते हैं। वे लोग जो विश्वके साहित्याकाशमें द्युतिमान् नक्षत्रोंकी भाँति प्रकाशित हैं, बहुधा ऐसे थे जो आरम्भमें तिरस्कृत रहे, पर, अन्तमें उसी समाजद्वारा गौरवान्वित हुए। उन्होंने अपने जीवन-विकासमें समाजकी लाञ्छनाकी वैसे ही परवा नहीं की, जैसे समाजके गौरवकी। उनके कल्पनाशील हृदयने अपने लिए एक आदर्श स्थापित कर लिया और बस, वे उसीकी ओर सीधी रेखामें बढ़ते रहे। यह समाजका काम था कि उनकी अवज्ञा करे अथवा पूजा करे। उन व्यक्तियोंने अपना काम इतना ही रक्खा कि जो अपने भीतर हृद्गत लौ जलती हुई उन्होंने पाई, उसको बुझने न दें और निरन्तर उसके प्रति होम होते रहें। समाजने उन्हें आरम्भमें दरिद्र रक्खा, ठीक। अशिष्ट कहा, अनुत्तरदायी समझा, यातनायें तक दीं, हँसी उड़ाई,—यह सभी कुछ ठीक। किन्तु, जो कल्याण-मार्ग उन्होंने थामा उसीपर वे लोग सबके प्रति आशीर्वादसे भरे ऐसे अविचल भावसे चलते रहे कि समाजको दीख पड़ा कि उनके साथ कोई सत्-शक्ति है,—जब कि, समाजकी अपनी मान्यताओंमें सुधारकी आवश्यकता है।

ऐसे लोग पहले तिरस्कृत हुए, फिर पूजित हुए। संसारके महा

पुरुषोंके चरित्रोंमें यही देखनेमें आता है। समाजके साथ उनका नाता गुलामीका नहीं होता, नेतृत्वका होता है। वे अपनी राह चलते हैं। समाज उनपर हँसता है, किन्तु, फिर उन्हींके उदाहरणसे अपनी आगेकी राहको प्रकाशित भी पाता है।

काल-भेदकी अपेक्षा हमने साहित्यकी प्रकृतिमें भेद चीन्हा। किन्तु, गुण-भेदसे भी साहित्यमें दो प्रकार देखे जा सकते हैं। एक वह जो समाजके स्थायित्वके लिए आवश्यक है, दूसरा वह जो समाजको प्रगतिशील बनाता है।

साहित्य दोनों प्रकारके आवश्यक हैं। लेकिन, यदि अधिक आवश्यक, अधिक सप्राण, अधिक साधनाशील और अधिक चिरस्थायी किसीको हम कहना ही चाहें तो उस साहित्यको कहना होगा जो अपने ऊपर खतरे स्वीकार करता है, और, चाहे चाबुककी चोटसे क्यों न हो, समाजको आगे बढ़ता है। वह साहित्य आदर्श-प्राण होता है, भविष्यदर्शी होता है, चिरनूतन होता है,—किन्तु, ऐसा साहित्य सहज मान्य नहीं होता।

समाजमें दो तत्त्व काम करते हुए दीखते हैं। समाजके सब व्यक्ति न्यूनाधिक रूपमें इन्हीं दोनों तत्त्वोंके प्रतिनिधि समझे जा सकते हैं। एक ग्राहक है, एक विकीर्णक। एक व्यक्तित्वशून्य, एक सव्यक्तित्व। एक वह जो अपने भीतर ही अपना केन्द्र अनुभव करता है; दूसरा वह जो अपने परिचालनके लिए अपनेसे बाहर देखनेकी अपेक्षा रखता है। एक गतिशील, दूसरा संवरणशील।

सामाजिक जीवन अथवा समाजका व्यक्ति इन्हीं दोनों तत्त्वोंके न्यूनाधिक अनुपातका सम्मिश्रण है। एक ओर गाँवका बनिया है

जो दादा-परदादाके जमानेसे अपनी नोन-तेलकी दूकानपर बैठता है और लाखों रुपया जोड़कर अपना कुनबा और अपनी जायदाद बढ़ानेमें लगा रहता है। दूसरी ओर वह है जिसे घरबारसे मतलब नहीं, जहाँ ठौर मिला वहीं बसेरा डाला, ब्याहकी बात जिसे सुहाती तक नहीं,—चक्कर ही काटता डोलता रहता है। इस व्यवसाय-बद्ध (=Stationary) और गतिशील (=Mercurial),—दोनों प्रकारके जीवनों और व्यक्तियोंका साहित्यमें समावेश है। दोनोंमेंसे कोई उसके लिए अनुपयुक्त नहीं और कोई उसके लिए वर्ज्य नहीं।

किन्तु, समाज साहित्यकी भाँति इतनी भावना-जीवी वस्तु नहीं है, इसलिए, वह इतनी उदार और महत्त्वपूर्ण वस्तु भी नहीं है। समाजमें व्यवसायशील तत्त्वका अधिक आदर है और अधिक अधिकार है। इसलिए, दूसरे तत्त्वके प्रति और उस तत्त्वके प्रतिनिधि व्यक्तियोंके प्रति समाजमें अवमानना और सङ्घर्षका भाव अधिक रहता है।—अर्थात्, समाज वैश्य-प्रधान है; फकीर उसकी दुनियादारीके लिए अनावश्यक है। वैश्य शासनकी सत्ताको हाथमें लेगा, फकीर केवल वैश्यकी कृपापर जीवेगा। अगर फकीर वैश्यकी कृपाको साभार स्वीकार नहीं करता तो वैश्य उसके लिए न्यायालय और जेलखाने खड़े करेगा!

यह समाजकी हालत है। पर वही समाज अपने साहित्यमें और अपने आदर्शमें उसी फकीरके गुण-गान करेगा! फकीरका आदर्श वैश्यके बहुत मन भाता है। फकीर अगर कुछ गड़बड़ न करे तो उसे अपने घरमें प्रतिष्ठा देकर वैश्य अपने परलोककी भी सुव्यवस्था कर लेगा। पर, फकीरीके रास्तेपर एक कदम चलनेकी बात भी अगर उसके नाती-पोतोंके मुँहसे निकली तो फिर उनकी खैर नहीं!

दोनों तत्त्वोंको अपनेमें समानरूपसे धारण करनेवाला साहित्य एकाङ्गी जीवनवाले समाजसे क्या अपेक्षा रक्खे ? उससे क्या सम्बन्ध रक्खे ?—इस प्रश्नका सीधा उत्तर नहीं दिया जा सकता। उत्तर यही बन सकता है कि साहित्यकारके व्यक्तित्वकी अपेक्षा ही उसका समाजके साथ सम्बन्ध निर्णीत होगा।

धातुका बना हुआ पैसा-रुपया-गिन्नी ठोस सत्य चीज़ है। जिनकी सत्य-कल्पना इस ठोस धातुमय तलसे ऊँची नहीं उठती या नीची नहीं जाती वे व्यक्ति यदि लिखेंगे तो उनकी रचनाओंका समाजके साथ सम्बन्ध स्वीकृतिका, आज्ञाकारिताका अथवा अनुमोदनाका होगा।

यह भी हो सकता है कि ऊपरसे उनके साहित्यमें समाजके लिए उगली हुई गालियाँ दिखाई दें, लेकिन, वे वैसी ही जली-कटी बातें होंगीं जैसी कोई रूठी और कुपित पत्नी खीजमें अपने पतिको कहती है। उन्हीं जली-भुनी बातोंसे पता चलता है कि वे समाजकी कृपाके और उसके ध्यानके,—Attention के, याचक हैं। जो पैसा चाहते हैं, जो पैसेके लिए जीते हैं, वे बड़ी मीठी मीठी चीजें या बड़ी चरपरी चीजें लिखकर समाजको भेंट करते हैं। यह कौन नहीं जानता कि मिठाई बिकती है तो चरपरी चाट भी कुछ कम नहीं बिकती ? ऐसे साहित्य और साहित्यकारोंका समाजके साथ सम्बन्ध उस दूकानदार-जैसा है जो सबको ग्राहकके रूपमें देखना चाहता है, या उस पत्नीके ऐसा है जो जानती है कि पतिके बिना उसका जीवन नहीं। इस साहित्यमें, तीखे-जले व्यङ्गके तीर चाहे जितने हों, समाजकी स्वीकृति प्रधान होती है। मनोरञ्जन उसमें अधिक होता है, सत्य कम। प्लाट

अधिक होता है, विश्लेषण कम। बनावट अधिक रहती है, गहराई कम। साहित्यके गोदाममें अधिक माल इसी रकमका है। क्योंकि, समाजमें घर-बार बनाकर छोटी-मोटी कमाई करके जीनेवाले लोग ही अधिक हैं।

पर फकीर कम हैं,—वैसे फकीर जिनकी फकीरी दूकानदारी नहीं है। उन फकीरोंका समाजके साथ सम्बन्ध क्या है?—वे समाजके हितैषी हैं। वे समाजको गाली देना नहीं जानते, पर, समाजकी हाटसे वे विमुख रह सकते हैं। अपने जीनेके लिए वे समाजके इशारेकी ओर नहीं देखते। वे लिखते हैं तो हितैषिताके नाते लिखते हैं और अपने धर्म-पालनके नाते लिखते हैं। सत्यकी प्रतिष्ठाके लिए (अर्थात् सत्यके उस रूपकी प्रतिष्ठाके लिए जो उनके भीतर प्रतिष्ठित है,—बाहर नहीं) वे लिखते हैं। कहा जा सकता है, समाजके बाज़ारमें डोलनेवाले लोगोंके लिए वे नहीं लिखते। उनका समाजके साथ सम्बन्ध, (—उनकी ओरसे कहा जा सकता है,) निरपेक्ष सत् कामनाका है,—निष्काम हितैषिताका है। समाजकी ओरसे वही सम्बन्ध आरम्भमें उपेक्षा, लाञ्छना, बहिष्कारका होता है, अन्तमें आदर और पूजाका।

साहित्यके अमर स्रष्टाके रूपमें, इस भाँति हम देखते हैं कि, वे ही लोग हमारे सामने आते हैं जिन्होंने अपनेको अपनी राहपर अपने आप चलाया। उन्होंने यह कम चाहा कि लोग उन्हें अच्छा गिनें। जैसे भी कुछ वे थे उसी रूपमें उन्होंने समाजके सामने अपनेको प्रकट होने दिया। आज चाहे समाज उन्हें महत्-पुरुष भी गिनता हो, लेकिन, चूँकि समाजकी नीति-धारणा बहुत धीमी चालसे विकसित होती है, इसलिए, समाजको बरबस उन्हें दुष्टचरित्र और

दु:शील मानना पड़ता है । उनकी महत्ताके प्रकाशमें निस्सन्देह समाज-सम्मत धारणाओंमें परिवर्तन होता रहता है । फिर भी, वे सहसा इतनी विकसित नहीं हो सकतीं कि हर प्रकारकी महत्ता उनकी परिभाषामें बँध जाय । यही कारण है कि आज जिस ईसाको दो-तिहाई दुनिया ईश्वर मानती है, उसीको शूली चढ़ाये बिना भी दुनियासे नहीं रहा जा सका! ईसाका दुनियासे क्या सम्बन्ध था?—वह त्राता था, उपदेष्टा था, सेवक था । दुनियाने उसके साथ अपना क्या सम्बन्ध बनाया?—उसे फाँसी दी और, इस तरह, अपनी व्यवस्था निष्कण्टक की । और अब दुनियाने उसके साथ क्या सम्बन्ध बना रक्खा है? दुनिया कहती है, 'वह प्रभु था, अवतार था।'

साहित्यकार (अर्थात्, दूसरे प्रकारका साहित्यकार) वर्तमानसे अधिक भविष्यमें रहता है। दुनियाको खुश करनेसे अधिक दुनियाका कल्याण करना चाहता है। इसलिए, वह दुनिया लाचार होती है कि उसको न समझे, उसकी उपेक्षा करे या, बहुत हो तो, उसकी पूजा करे,—उसका भय करे। दुनिया, क्योंकि उसे समझ नहीं सकती, इसलिए, उसे प्रेम नहीं कर सकती । ऐसे साहित्यकारका यह दुर्भाग्य होता है,—अथवा यही उसका सौभाग्य है, कि वह लौकी भाँति अपने आपमें ही जलता चला जाय । वह दुनियाको खुश नहीं करना चाहता, रिझाना नहीं चाहता,—उसका भला करना चाहता है; पर, दुनिया अपना भला क्यों चाहे?—वह अपनी खुशी चाहती है।

अधिकतर साहित्यिक दुनियाके मनोरञ्जन और विलासका सामान देते हैं। यह ऐन्द्रिय साहित्य है। पद्य साहित्यमें लगभग अस्सी फ़ी-सदी साहित्य वैसा वैषयिक साहित्य है, अर्थात्, व्यसनशील

साहित्य,—हल्के-से नशे और भुलावेमें डालनेवाला साहित्य। इस प्रकारके साहित्यके लेखकोंका सम्बन्ध समाजके साथ स्वीकृतिका है। वे समाजके मनोरञ्जन हैं, समाजके जीवनके हमजोली हैं। समाजके हृदयकी गहरी वेदनाके साथ एकात्म्य पानेकी चिन्ता और अवकाश उन्हें नहीं है।

अपने लिए दूसरी अस्पृहणीय स्थिति स्वीकार करके चलनेवाले दूसरे वे लोग हैं जो समाजको विलासका साधन,—Indulgence, देनेकी ओर प्रवृत्त नहीं होते। वे समाजके रुखकी ओर नहीं देखते, उसके रोगकी ओर देखते हैं। वे अत्यन्त नम्र हैं, पर अत्यन्त कठोर भी। वे वर्तमानको अपने स्वप्नके रंगोंमें रंगा हुआ देखना चाहते हैं। उनका समाजके साथ सम्बन्ध स्वीकृतिका नहीं होता, अहम्मन्य अस्वीकृतिका भी नहीं होता,—मानो वह निष्काम होता है।

इस तरह एक साहित्य वह है जिसे समाजकी मजेकी माँग बनाती है। दूसरा साहित्य वह है जो समाजके नेतृत्वके लिए सृष्ट होता है। पहले प्रकारके साहित्यमें समाज स्वाद लेता है, प्रसन्न होता है,—उसे उसमें चाव होता है। दूसरा, समाजको शुरूमें कुछ फीका फीका, कठिन, गरिष्ठ, मालूम होता है; पर, उसीको फिर वह औषधके रूपमें स्वीकार करता है।—उसी भाँति, साहित्यकार हैं जो समाजमें सम्पन्न दीखते हैं, और साहित्यकार हैं जो समाजसे दूर बहिष्कृत दीखते हैं।

समाजका और साहित्यका आरम्भसे ऐसा ही सम्बन्ध चला आता है। हम नहीं समझते, कभी कुछ और हो सकेगा।
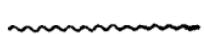
प्रश्नोत्तर

प्रश्न—साहित्य और समाजका सम्बन्ध कैसा होना चाहिए ?

उत्तर—साहित्य सामाजिक अवस्थासे आगे हो कर चलता है। वह वर्तमानको ही प्रतिबिम्बित नहीं करता। भविष्यकी सम्भावनाओंको भी धारण करता है। वह अग्रगामी है, अतः, स्वाभाविक रूपमें तात्कालिक समाजकी प्रगतिके साथ उसका सम्बन्ध नेतृत्वका हो जाता है। लेकिन, एक बात तो स्पष्ट ही है; वह यह कि, समाजकी प्रगति धीमी होती है, विचारकी गति क्षिप्र। इसलिए, विचारकोंमें और समाजकी स्थितिमें खाई रहती है,—ऐसा होना अनिवार्य ही है। एक और भी बात है। कल्पनामें विचरनेवाला विचारक साधनाशीलसे कल्पनाशील अधिक हो जाता है,—वास्तवसे (स्थूलार्थमें) अधिक अवास्तवमें वह रह सकता है। इसलिए, समाज उसके अनुगमनमें खतरा भी देखता है। इस कारण, समाज अधिकतर साहित्यसे अनुरंजन ही पाया करता है, नेतृत्व नहीं। अधिकांश साहित्य होता भी ऐसा है जो लोगोंको बहलाता है,—उनका मनोरंजन किया करता है। ऐसे साहित्यपर समाज कृपाशील रहता है। किन्तु, लगनसे भरे और सिरजनशील साहित्यपर समाज उतना कृपाशील नहीं हुआ करता। साहित्य भावना-जीवी है समाज अर्थजीवी। उनमें परस्पर आदान-प्रदान तो है ही, लेकिन, साहित्य और समाजके उन उन प्रतिनिधियोंमें परस्पर विरोध भी दीख पड़ता है जो, या तो, इस किनारे होकर अतिशय साहित्यिक हैं और स्वप्न लिया करते हैं, अथवा जो, दूसरे छोरपर बैठकर वेढब सामाजिक और घटना-जीवी और अतिशय व्यवहारवादी बन गये हैं।

प्रश्न—क्या साहित्यके बिना राष्ट्र और समाजका उत्थान असम्भव है ?

उत्तर—मैं पूछूँ कि क्या हमारे उच्च विचारोंपर हमारा उत्थान निर्भर है ? क्या विचार बिना उच्च हुए हमारा उत्थान सम्भव है ? साहित्य और है ही क्या ? अपने सीमित अस्तित्वसे हम उस असीमको छूना चाहते हैं, हम अपनी ही सीमाहीनताकी अपने सीमाबद्ध अस्तित्वके भीतर अनुभूति पाते हैं,—वे ही क्षण तो साहित्यके जनक हैं। अब, उत्थान किसका नाम है ? समाजका उत्थान, राष्ट्रका उत्थान,—चीज़ क्या है ? व्यक्तित्वके इस विकासका ही नाम तो मैं उत्थान मानता हूँ। समाजका उत्थान इसमें है कि वह अपने आपमें स्वस्थ रह कर अपनेसे बाहरके प्रति स्नेहशील और सेवापरायण हो सके। राष्ट्रका उत्थान इसमें है कि वह स्वयं स्वाधीन हो और विश्वके हितमें समर्पित हो। मैं अहंकारको उत्थान नहीं मानता। बड़ा साम्राज्य किसी राष्ट्रके उत्थानका लक्षण नहीं है। राष्ट्रके वासियोंकी अनथक निःस्वार्थ कर्मवृत्ति और स्वस्थ जीवनशक्ति ही उस राष्ट्रके उत्थानका लक्षण हैं। साहित्य उस सबसे कोई अलग चीज़ नहीं है। मैं आपसे फिर कहना चाहता हूँ कि लाइब्रेरीका नाम साहित्य नहीं है। साहित्य यदि कुछ है तो वह उन भावनाओंका नाम है जो समष्टिके साथ व्यष्टिकी सामंजस्य-सिद्धिकी साधक हों। इस तरह, क्या व्यक्ति और क्या व्यक्ति-समूह,—सबका उत्थान साहित्यके मार्गमेंसे है। क्योंकि, साहित्य है ही उस उत्थान-मार्गका नाम।

कला क्या है ?

कुछ बातें मुझे जल्दीमें कहनी हैं। क्योंकि, जब मुझे अवकाश और स्थिरता हो, तब मैं इन बातोंको नहीं कहूँगा। उस समय तो चुप रहना मुझे अधिक प्रिय होता है। या, उस समय कुछ लिखूँ हीं या करूँ हीं, तो वह लिखना या करना अच्छा लगता है जो वृहत्-फल न हो और साधारण प्रतीत होता हो। तब कविता लिखूँगा, कहानी लिखूँगा,—या इसी जोड़का कुछ निष्प्रयोजन काम करूँगा। किन्तु, अब अवकाशकी कमीमें मैं कुछ उन बातोंपर लिखकर छुट्टी चाहूँगा जिनपर झगड़ा होता है और जिन्हें लोग कामकी और ज़रूरी समझा करते हैं।

दुनियामें एक तमाशा देखनेमें आता है—

—जो जीवनमें कलामय नहीं है उसे चिन्ता है कि समझे कि कला क्या है। दुनियाको ऐसी चिन्ता आजकल बहुत खा रही है।

—सत्यके साथ एकाकार होकर रहनेकी जिनके जीवनमें चेष्टा नहीं है वे सत्यके सम्बन्धमें विवाद उठानेमें काफी कोलाहलपूर्ण हैं।

—धर्मको लेकर धार्मिक लोग सेवा-कर्ममें और भगवत्-प्रार्थनामें जब लीन हैं तब और लोग हैं जिनकी धर्मके सम्बन्धमें आकुलता जगतमें उद्घोषित होती रहती है और जो धर्मको लेकर शास्त्रार्थ और यदा-कदा मानव-मस्तकोंकी तोड़-फोड़ किया करते हैं।

सामाजिक क्या, राजनीतिक क्या और साहित्यिक क्या,—हर क्षेत्रमें जब यह विचित्रता दीखती है तब बड़ा अनोखा भी मालूम होता

है और समझ जैसे गड़बड़में पड़ जाती है। हर क्षेत्रमें श्रमी नीचे है, आलोचक ऊपर है। साहित्यमें स्रष्टा सृष्टि करेगा, आलोचक राज्य करेगा। समाजके क्षेत्रमें दंभी चौधरी बनेगा, धार्मिक पामाल होगा। राजनीतिके क्षेत्रमें वालंटियर सच्चा होगा, नेता सच्चेसे अधिक नीतिज्ञ होगा।

ऊपरसे देखनेसे यह स्थिति मनुष्यको नास्तिक बना सकती है। नास्तिकसे अभिप्राय है श्रद्धाशून्य,—Faithless, संदेहग्रस्त।

किन्तु, श्रद्धावानके लिए तो विचलित होनेकी बात कभी कुछ है ही नहीं। यह समस्त सामग्री आस्तिककी तो आस्तिकता ही बढ़ाती है, श्रद्धालुकी श्रद्धाको पुष्ट करती है।—उसे कुछ और अधिक प्रबुद्ध और जाग्रत् ही करती है।

जो ऊपरसे देखता है वह क्रुद्ध हो रहता है,—विद्रोही, और विप्लवी बन जाता है। वह अन्तमें कहता है, 'असत्य ही सत्य है। मैं ही परमेश्वर हूँ। जो दीखता है, उसे छोड़ और कोई सत्य नहीं है।' वह कहता है, 'मनुष्यकी ही जय है। हाँ, शक्ति ही नीति है।' अहंकार उसके जीवनका मूल मंत्र बनता है।

किन्तु, विश्वासीको तो पत्ते पत्तेमें, घटना घटनामें, पल पलके भीतर यही ज्वलंतरूपमें लिखा हुआ दीखता है—सत्यमेव जयते नानृतम्। जब क्रूर संतकी छातीपर पैर रखकर दर्पकी हँसी हँसता है तब भी वह श्रद्धावान् संत यही देखता है—सत्यमेव जयते नानृतम्। हिरण्यकशिपुकी नियोजित हर विपदाकी गोदमें बालक प्रह्लादको यही दीखा कि इस सबमें भी उसके प्रभु रामचन्द्र ही हैं। कशिपुके नाश और प्रह्लादके उद्धारकी बात तो उस पुनीत कथाका अंत है,—उस कथाके मर्मका बखान तो प्रह्लादकी वज्र-श्रद्धामें ही होता है।

पहले प्रकारके पुरुषके,—नास्तिकके, निकट यह साबित नहीं किया जा सकता कि जो वह समझता है वही विश्वका सत्य नहीं है। यानी, यह कि यहाँ गर्वस्फीत शक्तिकी ही जय नहीं है,—उसके अन्तर्गत किसी और ही परम सत्ताकी जय है।

दूसरे प्रकारके पुरुषके निकट इसी भाँति यह कभी प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि सत्य कभी हारता है। ऐसा पुरुष मरते मर सकता है, पर सत्यकी राह छोड़ते उससे नहीं बनता।

इन दोनों प्रकारके तत्त्वोंके बीच और इन दोनों भाँतिके पुरुषोंके मध्य आलाप-संलाप, तर्क-विग्रह और संधि-भेद चलता ही रहता है। इसीका नाम विश्वकी प्रक्रिया है।

हमारी मानवीय दुनियाका जो साहित्य-कोष है, वह इसी प्रकारकी प्रक्रियाका शब्दबद्ध संग्रह है। इन दो तरहके लोगोंमें एक दूसरेको समझनेकी चेष्टाएँ और न समझनेकी अहंता, परस्परको पूर्ण बनानेका उद्यम और परस्परको अकृतकार्य करनेका उद्योग आदि, आदि-कालसे चलता चला आ रहा है। इसी संघर्ष और इसी समन्वयमेंसे, अर्थात् इसी मंथनमेंसे, ज्ञान ऊपर आता है और प्रगति संपन्न होती है।

किन्तु, हम जल्दीमें हैं और यहाँ हम हठात् एक सवाल उठा लेंगे और कुछ देर उसके साथ उधेड़-बुन करके आपसे छुट्टी लेंगे।

सवालके लिए 'कला' शब्द ही लीजिए। कला क्या है, इसपर बहुत-कुछ लिखा गया है, बहुत-कुछ लिखा जा रहा है। कुछ तो उसमें काफी शास्त्रीय है, कुछ ऐसा भी है जिसमें ताज़गी है। 'कला' शब्दको ऐसा विवादास्पद शब्द बनानेकी हमारी अनुमति नहीं है जिसको लेकर दो व्यक्ति आपसमें सहानुभूतिसे वंचित हो जायँ।

'कला' शब्द मनुष्यने बनाया इसीलिए कि उसके द्वारा वह अपने भीतर अनुभूत किसी सत्यको प्रकट करना चाहता था। 'कला' शब्दमें यथार्थता मनुष्यके भीतरकी उसी अनुभूतिकी अपेक्षासे है जिसके हेतुसे उस शब्दको जन्म मिला और जो उस शब्दकी ध्वनिमें और उसके रूपमें प्रस्फुट हुई; क्योंकि, व्यक्तिमात्रमें एक ही सच्चिदानन्द आत्मा है, इसलिए, कला वह वस्तु नहीं है कि दो व्यक्तियोंको लड़ाये। 'कला' शब्दपर यदि दो आदमी उसे समझनेके प्रयासमें,—मत-भेद रखते हुए नहीं, वरन्, लड़ते हुए दीखते हैं तो स्पष्ट मान लेना चाहिए कि उन दोनोंके बीचमें निर्जीव अक्षरोंका बना हुआ मात्र 'कला' शब्द ही है,—कोई तन्नियोजित सजीव भाव नहीं।

जो कुछ है उस समग्रके प्रति मनुष्य असंलग्न तो हो नहीं सकता। मनुष्यके आँख है तो रातको तारे भी देखेगा ही, दिनमें सूरज भी उसे दिखाई देगा, हरियाली-वनस्पति उसके सामने होगी। नाना भाँतिके पशु और रंग-बिरंगे पक्षियोंको देखकर कैसे न कहेगा कि 'वे हैं',—इन सबके साथ मनुष्य कुछ न कुछ अपना सम्बन्ध रखनेको लाचार है। युगों-युगोंके भीतर शेष विश्वके साथ मनुष्यका यह अन्तःसम्बन्ध विस्तृत होता गया और व्यवस्थित भी होता गया और जब तक समस्तमें एकत्व अनुभूति न प्राप्त हो तब तक उसमें मनुष्यका सम्बन्ध जाने-अनजाने गाढ़तर ही होता जायगा।

अब, एक व्यक्ति व्यवहारवादी है। वह दुनियाको अपने अर्थ-साधनका क्षेत्र बनाकर समझता है कि प्रयोजनके द्वारा उसने दुनियाको अपनेसे और अपनेको दुनियासे मिलने दिया है। पौधोंपरसे वह फूल लेगा, खेतोंमेंसे अन्न, धरतीके गर्भमेंसे अन्य प्रयोजनीय पदार्थ, वृक्षोंपरसे फल आदि आदि। उन सबकी सार्थकता उस व्यवहार-

वादीके निकट इसी हेतुके माध्यमसे है कि वे उसका प्रयोजन सिद्ध करते हैं। अन्यथा, दुनिया उसके मनमें ही नहीं बैठती।

इस व्यवहारवादितासे लगभग उलटी जो दूसरी वृत्ति है उसे 'कलात्मकता' संज्ञासे समझा जाता है। व्यवहारके विरोधमें कला है। 'कला' की अभिधासे विश्वके साथ मनुष्यकी वह वृत्ति और वह सम्बन्ध समझना चाहिए जिसका लक्ष्य अर्थ-साधन नहीं है, प्रत्युत आनन्द-भोग है। पौधोंपर फूल हैं तो वे हमें प्रसन्न करते हैं, और, हम मात्र इतनेके लिए उनके कृतज्ञ बनते हैं कि उन्हें तोड़कर माला बना लें और मालाको अपने गलेमें डाल लें। शायद, तभी हमारे निकट फूलोंमें कुछ सार्थकता हो। पर, कलावादीके लिए ऐसा नहीं है। उसके किसी प्रकार काममें आये बिना, अपने वृन्तपर खिला खिला ही, वह फूल तो कलाकारके अपार आह्लादका विषय है। इसी प्रकार, वृक्षोंके फल, खेतोंका अन्न, धरतीकी धातु, नदीका जल, गिरिकी गहनता, वायुका ऑक्सिजन, आकाशकी नीलिमा, तमिस्राका नैश सौन्दर्य आदि आदि,—कलाकारके लिए ये सब प्रयोजनीय हैं इस हेतुसे सत्य नहीं हैं; उसके लिए तो वे सब प्रयोजनसे कहीं बड़े इस हेतुसे सत्य हैं कि वे सुन्दर हैं। सौन्दर्य, कलाके लिए, सत्यका प्रधान रूप है; प्रयोजनीयता, कलाकारके लिए, उस सत्यका गौण भाव है।

उसी भाँति, सत्य कलाके निकट मात्र ज्ञेय नहीं है जैसा कि वह विज्ञानके निकट है। विज्ञान अपनी दलीलके जोरसे विश्वभूत सत्यको बुद्धिगम्य करना चाहता है,—कलाकी वह स्पर्द्धा नहीं। कला तो अपने भीतरके आनन्द-बोधद्वारा, अन्तस्थ अनुभूतियोंके सूक्ष्म तन्तुओंसे समस्त विश्वको छाकर, उनके सहारे, सत्यको हृदयङ्गम करेगी। कलाके लिए सत्य प्रेय ही है।

इस तरह, कला व्यवसायीकी प्रयोजनीयता और वैज्ञानिककी विज्ञान-सम्मतता और तात्त्विककी शुद्ध ज्ञेयतासे कुछ अन्य है,—कुछ अन्यत्र है। *जो नाना मनुष्योंके नाना प्रयत्नोंका चिर इष्ट है वह सत्य जब सुन्दरका रूप धारण करता है, तब वह कलाका आराध्य बनता है। शुष्क सत्य अथवा ज्ञेय सत्य अथवा सार्थक सत्य* कलाके *सिंहासनपर नहीं है। उसके सिंहासनपर तो सत्य सुन्दर होकर ही बैठता है।*

इतनेसे यह प्रकट होगा कि कलाके विषयमें जो 'क्यों' और 'क्या'का बहुत विवेचन करते हैं वे कलाके उपास्य हृदयद्वारा सेव्य सौन्दर्यको मानों बुद्धिकी छुरीके नीचे पटककर उसका व्यवच्छेद करने चलते हैं। पर, शस्त्रसे हवा जैसा सूक्ष्म भाव कैसे कटेगा ? कोशिश कीजिए कि आकाशका विच्छेद करें,—विज्ञानको हारकर लौटना होगा।

इस प्रकार असंभव नहीं है कि कलाकारका उपास्य विलुप्त ही हो रहे और पंडितजनकी बुद्धि शस्त्रविच्छेदद्वारा मात्र यहीं पहुँचे कि कलाका सिंहासन तो उपास्य-शून्य है और वहाँ निर्बुद्धिताके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। बुद्धिवादी इस निर्णय तक पहुँचे, इसमें कलाकारको कुछ भी नहीं। मात्र उसे यही भय है कि बुद्धिवादी निराश होकर नास्तिक न हो जाय,—और नास्तिक भी वह नहीं जिसके लिए नास्तिकता ही ईश्वरसम हो गई है, क्योंकि, वह तो 'नास्तिकताको लेकर आस्तिक' बनता है,—'नास्तिकता'के प्रति कर्मण्य और श्रद्धावान् बनता है।—भय है कि वह निरा संशय-सेवी 'श्रद्धाशून्य नास्तिक' न बन जावे।

किसके लिए लिखें ?

'विशाल भारत' ने 'कस्मै देवाय' शीर्षक लेखमें प्रश्न उठा कर उत्तर दिया है—'जनता-जनार्दनाय'। जनताका भी स्पष्टीकरण उसने किया है, अर्थात्, वह जो अपने पसीनेके बल रोटी खाते हैं,—किसान मजदूर आदि। उनकी अपेक्षा मध्यवित्त लोग 'जनता' नहीं हैं, और सम्पन्न धनिकवर्ग तो है ही नहीं।

मुझे वह लेख पसन्द आया; क्योंकि, उसमें हार्दिकताका ज़ोर है। पर मुझे लगता है, वह भ्रममें डाल सकता है। और मुझे यह भी लगता है कि वह लेख स्वयं भ्रमसे खाली नहीं है। स्पिरिटमें उसके साथ होते हुए भी मैं उस दृष्टिकोणसे तीव्र मतभेद प्रकट करना चाहता हूँ जो उसमें प्रतिपादित है।

क्या वस्तुस्थिति यह है कि हम चुन लें कि हम 'क' के लिए लिखते हैं या 'ख' के लिए ? और यदि 'ख' के लिए नहीं लिखते, तो हम उसके अपराधी बनते हैं ? और 'क' या 'ख' के लिए लिखना ही होगा, क्योंकि, वह निर्बल है या प्रबल है ? या ऐसा है या वैसा है ?

'विशाल भारत' के लेखका आधार यही है कि मनुष्यता मूल रूपके वर्गोंमें बँटी है, और तुम्हारी सहानुभूति या तो एक वर्गके साथ है और वह सब वहीं खर्च होती है, नहीं तो दूसरे वर्गके साथ है और पहले वर्गके तुम दुश्मन हो।

इस दृष्टिको जब व्यवहारमें उतारकर देखते हैं तो इसका रूप

यह होता है कि, 'देखो जी, तुम जिस दलमें मैं हूँ (और, क्योंकि, मेरी भावनाएँ और सहानुभूतियाँ वहाँ पुष्ट होतीं और व्यय होती हैं, इससे मैं निस्संशय मानता हूँ कि जगत्का उद्धार उसी दलके द्वारा है) उसीके साथ तुम नहीं हो, तो तुम नहीं कह सकते कि तुम हमारे दुश्मन नहीं हो। समझे ? अब चुन लो !'

तर्कवादी तर्कसे सिद्ध कर सकता है कि मेरा स्वार्थ अलग है तुम्हारा अलग,—न केवल इतना ही, इससे आगे यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि एकके स्वार्थपर डाका डालकर ही दूसरेका स्वार्थ पुष्ट होगा; अन्यथा नहीं। और इसी भाँति कहा जा सकता है कि मनुष्यतामें भी स्वार्थोंका परस्पर संघर्ष है,—वर्ग-वर्गके स्वार्थ और हित भिन्न हैं, विरोधी हैं और अमुक एक वर्गके प्रति सद्भावना, आवश्यक रूपमें, दूसरे वर्गके प्रति द्वेष-भावनाके बलपर ही पोषणीया है, तो मैं कहूँगा, 'तुम्हारे तर्कका सत्य यह है तो हो,—साहित्यिकका सत्य यह न हो सकेगा।'

साहित्यिकका सत्य तो यह है कि मनुष्यता एक है। वह इसी सत्यको निरंतर खोजता है और निरंतर, अपनी भावना और रचनासे, वह उसको निकट लाता है। यदि मनुष्यता एक नहीं है,—यदि उसमें विग्रह है, कलह है, विच्छेद है, तो वह मिथ्या है। और इस मिथ्याके साथ लड़ाई ठाने रखना साहित्यिकका सत्य-आग्रह बन जाता है। वह इस मिथ्याको स्वीकार न कर सकेगा; क्योंकि, प्रतिक्षण वह उसे तोड़ने और ढानेमें लगा है।

जो जो कुछ मनुष्यने बनाया है, उसको दृष्टिमें प्रधान रखकर हम यदि देखते हैं तो दीखता है कि मनुष्यता असंख्य स्वार्थोंमें बँटी हुई

है,—दूसरेपर एकका हावी हो जाना ही उसकी सिद्धि है, और शक्ति ही न्याय है, और 'अहम्' ही सत्य है; जीवनमें विधि-निषेध और राग-द्वेषकी आवश्यकताका जंजाल-सा फैल रहा है,—इसने यह किया है, इसे फाँसी दो; इसकी लाटरीका नंबर ठीक निकल आया है, इसलिए, इसे पाँच लाख रुपए दो। जीवनमें यह विषमता हमें स्वादिष्ट लगती है। फाँसीसे हम डरते हैं और सोचते हैं,—हाय हाय! हमारे नाम यह लाटरी क्यों नहीं निकल आती!

मनुष्यने जो बनाया है,—जो समाज, सरकार और सभ्यता खड़ी की है, वह एकदम धता बताने लायक ही हो सो नहीं, पर, जिसने मनुष्यको बनाया है और जिसके लिए मनुष्य बना है और मनुष्यके द्वारा जो व्यक्त और सम्पन्न हो रहा है, उसे भी ध्यानमें रख सकें, तो दीखे, कि समता और एकता भी कहीं है।—कहीं क्यों,—सभी कहीं है। और, तब अनैक्य और वैषम्यमें प्रलोभन हमारे निकट नहीं रह जायँ और हम स्पष्ट देखें कि हम वहीं हैं जहाँ मिथ्या नहीं है।

मनुष्यने एक वस्तु बनाई है—पैसा; धरतीमेंसे धातु निकाली, उसपर मोहर ठोकी, और मनुष्य-मनुष्यके बीच वह आदान-प्रदानका सहज साधन बना। पैसेकी उपयोगितासे इन्कार करना अपना अभिमत नहीं,—पैसेके अभावमें मनुष्य आपसमें कोसों दूर बना रहता, पैसेसे वह पास आया है।

लेकिन, मनुष्यकी बनाई कौन-सी चीज़ सम्पूर्ण है? पैसा जितनी तेज़ीसे बढ़ा मनुष्यका हृदय उतनी तेज़ीसे नहीं बढ़ सकता था,—उन हृदयोंको फाड़नेके काममें वह आने लगा। उसने जमा

होकर आदमीको आदमी कम रखके, उसे गरीब या अमीर बना देना अधिक आरंभ किया।

अब एक दृष्टि वह है जिससे आदमी आदमी पीछे है वह गरीब और अमीर पहले है। आदमीके बारेमें जितना कुछ हमें ज्ञात होता है वह इसमें समाप्त हो जाता है कि वह पैसेवाला है या बेपैसा है। स-पैसा या अ-पैसा यह तो मात्र Condition (= स्थिति, शर्त्त) है तथ्य-वस्तु तो व्यक्ति है,—यह भाव हमसे खो जाता है। और, हमारी मतिमें मनुष्य, उपलक्ष्य,—गौण-मात्र रहता है, उसकी गरीबी-अमीरी ही केवल हमें जाननेकी वस्तु हो जाती है।

अमुकके पास पैसा नहीं है, क्या इसीलिए वह मनुष्यसे कम है ? या इसीलिए वह मनुष्यसे ज़्यादा है ? या कोई पैसेवाला है, इसी कारण देवता या राक्षस है ?—ऐसा नहीं है, क्योंकि, मनुष्यतासे अनपेक्षित रहकर गरीबी-अमीरी कुछ चीज़ नहीं है। मुझे भय है कि 'विशाल भारत' के लेखमें गरीबी-अमीरीका पार्थक्य ज़रा ज़ोरके स्वरमें और ज़रा गहरे रंगमें भर गया है। और, खुद उसकी खातिर निर्धनता और दीनताके पक्षका प्रलोभन होना, शायद, खुद उसकी खातिर द्रव्य-लोभसे कुछ कम भयावह वस्तु न हो; पर, फलतः वे दोनों एक-सी अयथार्थ वस्तु हैं।

पर साहित्य, 'विशाल भारत' की ओरसे मैं अपनेसे पूछूँ, क्या बिना Preference या पक्षपातके एक पग भी चल सकता है ? तब, दुपहरीकी धूपमें पसीनेसे चुआता नंगा बदन लिये फावड़ेसे खेत खोदता हुआ और बीच-बीचमें खुले गलेसे राग अलापता रमझा और इश्ककी कहानी पढ़ती हुई बिजलीके पंखेके नीचे अधढँकी और

अधलेटी रसीली रंभा,—इन दोनोंमेंसे, बताओ, साहित्य किसको लेकर धन्य होगा ?

हाँ, मैं कहूँगा, 'स्रष्टाके लिए Preference (= पक्षपात) होते होंगे और जितने स्पष्ट और पैने हों उतना अच्छा,—यहाँ तक कि उनकी धार इतनी पैनी हो कि वे व्यक्तियोंमेंसे पार होते चले जायँ और व्यक्तिको दैहिक चोट तनिक न अनुभव हो। और, जिस तरह रमल्ला अधिकसे अधिक ईमानदार और उद्यमी और त्रस्त होकर भी अपने ऊपर लिखी गई रचनाको निकम्मी होनेसे नहीं रोक सकता, उसी तरह, रंभा अधिकसे अधिक कुटिल होकर भी अपने ऊपर लिखी गई साहित्यिक रचनाको अतिशय धन्य होनेसे नहीं रोक सकती। मेरे भाई, मैं अपनेसे कहूँगा, किसीकी भी आत्मा, वेदना और स्वप्नसे खाली नहीं है। अहंकार छोड़कर उसकी आत्मामें तुम तनिक झाँक सको,—चाँडाल हो कि ब्राह्मण, वेश्या हो कि संत, राजा हो या रंक,—सब कहीं वह है जो तुम्हारी खोजकी वस्तु है। किसीको तजनेकी आवश्यकता नहीं, किसीको पूजनेकी ज़रूरत नहीं। साहित्यके आदर्शकी मूर्तिको 'रमल्ला' में स्थापित करनेके लिए उसे 'रंभा'मेंसे क्यों तोड़ते हो ? यों तो मूर्ति ही ग़लत है, क्योंकि, मूर्तिसे बाहर होकर भी साहित्यका आदर्श ठौर ठौर अणु-अणुमें व्यापा है। लेकिन, यदि तुम मूर्ति चाहते ही हो, और रमल्लामें आदर्श-दर्शन सहज तुम्हें होते हैं तो सहर्ष तुम उस मंदिरमें सर्वांग-मूर्ति प्रतिष्ठित करो। मैं तो कहता हूँ,—मैं अपनेसे कहूँगा, 'मेरे लिए पहलेसे वह मंदिर है, मुझे तो मूर्ति भी वहाँ पानी है। लेकिन, तुम इस नये यत्नमें 'रंभा'को, या किसी औरकी मूर्ति या मंदिरको, तोड़नेकी ज़िद रखना ज़रूरी न समझो। इससे तुम्हारा ही अपकार होगा।'

लेकिन, प्रश्न तो है,—हम किसके लिए लिखें ? साहित्यिक उद्यमी होनेके नाते क्या दिशा हम उसे दें ? क्या सब अंधाधुंध चलने दें ? हमारे युवक बिगड़ते हैं, स्त्रियाँ विपथगा होती हैं, भ्रष्टाचार फैलता है,—यह होने दें ? और तब, जब, दुर्भाग्यसे, संपादककी ज़िम्मेदारी हमारे अनुद्यत कंधोंपर रक्खी है, और हमें कुछ न कुछ बनाना होता है।

किसके लिए लिखें ?—यह सोचते हुए जब यहाँ पहुँचता हूँ कि दुनियाकी भलाईके लिए लिखो, तब मुझे ग्लानि होती है। ध्यान आता है कि हर मिनट जीनेके लिए मैं जिसका ऋणी हूँ,—आज उसका उपकारक, उद्धारक होने चला हूँ ! और भलाई करूँ,—इसमेंसे पर्याप्त प्रेरणा भी नहीं प्राप्त होती। अपने सुखके लिए लिखूँ, तो नहीं जानता कि लिखनेमें मुझे सुख होता है या नहीं। और मुझे सुख होता भी है तो तब, जब पाता हूँ कि छपकर वह बात सैकड़ोंके पास पहुँच गई है, और दो-एक तारीफ भी कर रहे हैं। मुझे सुख भी तो 'मुझसे दूसरे सुख पा रहे हैं', यह जानकर ही होता है। अच्छा, और जो किसीने तारीफ़ नहीं की, बल्कि मेरी रचनाकी कुछ बुराई ही हुई, तो क्या मैं न लिखूँ ? अपने सुखके लिए लिखूँ तो, ऐसी हालतमें, मुझमें लिखनेकी प्रेरणा शेष नहीं रहेगी।

'अपने लिए लिखें, या परायेके लिए ?' जब यह प्रश्न इसी भाँति दो-मुखी होकर मेरे सामने खड़ा रहा,—मुझे सूझा नहीं कि मैं उसपर चलूँ या इसपर (और दोनोंसे बच निकलनेकी राह कहाँ थी ?) तब मालूम हुआ—अरे, अपने अहंकारमें भरा मैं यह क्यों नहीं सोचता कि एक वह भी तो है जहाँ पराया भी अपना है और

अपना सब-कुछ भी जिसमें समाया है। बस, उसीके लिए तो यह सब रहना, करना, और लिखना है। अपने भीतर और बाहर उसी एकमात्र सत्यकी प्रतिष्ठाके लिए मैं लिखूँ।

'विशाल भारत'ने जो 'जनता-जनार्दनाय' लिखा है, वह ठीक; लेकिन, क्या 'जनार्दनाय' मेरे निकट और भी ठीक न होगा? क्योंकि, 'जनता'में पशु-पक्षी कहाँ हैं, वनस्पति कहाँ हैं, यह आकाश तारे कहाँ हैं?—और, 'जनार्दन'में तो हमारा ज्ञान-अज्ञान सब है।

लेकिन, 'जनार्दन'को आजकल कौन जाने, कौन माने? इससे आजकलकी भाषामें कहना हुआ,—सत्यकी शोध, सत्यकी चर्चा, सत्यकी पूजाके लिए हम लिखें।

उसके बाद, गरीबके लिए लिखें, अमीरके लिए लिखें, साधारणके लिए लिखें या किसके लिए लिखें,—दुराचारी या सदाचारीके लिए, स्त्रीके लिए या पुरुषके लिए, मनोरंजनके लिए या साधनाके लिए?— ये बातें अधिक उलझन नहीं उपस्थित करतीं।

सत्यके प्रसार और अंगीकारके लिए हम लिखते हैं। सत्यमें जो बाधा है वही गिराना सत्यका ऐक्य है। कुछ एक दूसरेके निकट अछूत हैं, गलत समझे हुए (misunderstood) हैं, आधे समझे हुए (half understood) हैं,—कुछ त्याज्य हैं, दलित हैं, त्रस्त हैं, अपराधी हैं, अभियुक्त हैं, दीन हैं, बेजुबान हैं;—कुछ गर्वीले हैं, दर्पोद्धत हैं, रुष्ट हैं, निरंकुश हैं।—यह सब सत्य है। यह क्यों? मनुष्यकी अहंकृत मान्यताओंमें घुटकर जीवन एक समस्या बन गया है और अपने चारों ओर दुर्गकी-सी दीवारें खड़ी करके उनमें अपने स्वार्थको सुरक्षित बनाकर चलनेके लिए सब अपनेको लाचार

समझते हैं। वे दीवारें सबको अलग बनाये हैं,—हृदयको हृदयसे दूर रखती हैं।

एकको दूसरेके हृदयके निकट देखें और सबको विश्व-हृदयके निकट देखें,—इस प्रकार विश्वके जीवनमें सत्योन्मुख एकस्वरता उत्पन्न हो। जिससे यह हो, वही तो हम लिखेंगे। और, यदि इस प्रकार कुलटा नारीके प्रति कट्टर पतिका हृदय हमने अपनी रचनासे पिघला कर आर्द्र कर दिया, प्रेमिकाको मारनेको उद्यत प्रेमीका खड्ग-सिद्ध हाथ रोक लिया, रोतेको हँसा दिया, गर्वस्फीतको मुलायम कर दिया, 'विशाल भारत'को 'रंभा'के प्रति क्षमाशील कर दिया, तो यह उसी भाँति शुभ और आवश्यक है जैसे यह कि मज़दूरके प्रति अफसरमें, दीनके प्रति धनाढ्यमें, और कृषकके प्रति मालिकमें, और शासितके प्रति शासकमें करुणा जगाई जाय।

जहाँ यह सत्य प्रेम-भाव नहीं, वहाँ ही असत्य है। उस असत्यके मुक़ाबलेकी अवश्य ज़रूरत है, पर, सत्य-चर्यामें ही हर प्रकारके मुक़ाबलेकी शक्ति है, और उसीमेंसे स्वयं खप जानेकी [illegible] भी प्राप्त होती है।

किसीके प्रति भी तिरस्कार या बहिष्कारका भाव रखनेके भावको साहित्यमें मज़बूत नहीं होने देना होगा। और न किसीको सीधे दबानेका लोभ होना चाहिए। अपने भीतरकी प्रेम-शक्तिका अकुंठित दान ही साहित्यके पास एक अस्त्र है जो अमोघ है।

साहित्यकी सचाई*

भाइयो,

मेरी उमर ज़्यादा नहीं है। पढ़ा भी ज़्यादा नहीं हूँ। साहित्य-शास्त्र तो बिलकुल नहीं पढ़ा हूँ। फिर भी, लिखने तो लगा। इसका श्रेय परिस्थितियोंको समझिए। यों अधिकार मेरा क्या है? लिखने लगा, तो लेखक भी माना जाने लगा। और, आज वह दिन है कि आप विद्वान् लोग भी आज्ञा देते हैं कि मैं आपके सामने खड़े होकर बोल पड़ूँ।

आप लोगोंद्वारा जब मैं लेखक मान लिया गया और मेरा लिखा गया कुछ छपनेमें भी आया, तब मैं अपने साहित्यिक होनेसे इनकार करनेका हक छिना बैठा; लेकिन, अपनी अबोधता तो फिर भी जतला ही सकता हूँ। वह मेरी अबोधता निविड़ है। साहित्यके कोई भी नियम मुझे हाथ नहीं लगे हैं। साहित्यको शास्त्रके रूपमें मैं देख ही नहीं पाता हूँ; पर, शास्त्र बिना जाने भी मैं साहित्यिक हो गया हूँ ऐसा आप लोग कहते हैं। तब मुझे कहना है कि साहित्य-शास्त्रको बिना जाने भी साहित्यिक बना जा सकता है, और शायद अच्छा साहित्यिक भी हुआ जा सकता है। इसमें साहित्य-शास्त्रकी अवज्ञा नहीं है, साहित्यके तत्त्वकी प्रतिष्ठा ही है।

साहित्यिक यदि मैं हूँ तो इसका मतलब मैंने अपने हकमें कभी भी यह नहीं पाया है कि मैं आदमी कुछ विशिष्ट हूँ। इन्सानियत

* नागपुरमें 'भारतीय साहित्य-परिषद्'में दिये हुए भाषणका एक अंश।

मेरा, सदाकी भाँति, तब भी धर्म है। सच्चा खरा आदमी बननेकी जिम्मेदारीसे मैं बच नहीं सकता। अगर, साहित्यकी राह मैंने ली है, तब तो भावकी सचाई और बातकी मिठास और खरेपनका ध्यान रखना और इसी प्रकारका अन्य सर्व सामान्य धर्म मेरा और भी धर्म हो जाता है। इस दृष्टिसे, मैं आज अनुभव करता हूँ कि साहित्यके लिए वही नियम हैं जो जीवनके लिए हैं। मेरी समझमें नहीं आता कि जैसा मुझे दुनियामें रहना चाहिए वैसा साहित्यमें भी क्यों न रहना चाहिए ? जितनी मेरे शब्दोंसे मेरे मनकी लगन है उतना ही तो उनमें ज़ोर होगा ! ज़िन्दगीहीमें नहीं तो शब्दोंमें ज़ोर आएगा कहाँसे ?

अपने जीवनकी एक कठिनाई मैं आपके सामने रख दूँ। आँख खोलकर जब दुनिया देखता हूँ तो बड़ी विषमता दिखाई देती है। राजा हैं और रंक हैं, पहाड़ हैं और शिशु हैं, दुःख है और सुख है। —यह विषमता देखकर बुद्धि चकरा जाती है। इस विषमतामें क्या संगति है ? क्या अर्थ है ? पर, वैषम्य अपने आपमें तो सत्य हो नहीं हो सकता। विषमता तो ऊपरी ही हो सकती है। दुनियामें जो कुछ हो रहा है उसके भीतर यदि मैं उद्देश्यकी,—अर्थकी झाँकी न ले सकूँ, तो क्या वह सब कुछ पागलपन न मालूम हो ? सब अपना अपना अहंकार लिये दुनियासे अटकते फिर रहे हैं। इसमें क्या मतलब है ? मैं सच कहता हूँ, कि इसे देखकर मेरा सिर चकरा जाता है। यह चाँद क्या है ? आसमानमें ये तारे क्या हैं ? आदमी क्यों यहाँसे वहाँ भागता फिर रहा है ? वह क्या खोज रहा है ? क्या ये सब निरे जंजाल ही हैं, भ्रमजाल ही हैं ? क्या यह समस्त

चक्र निरर्थक है ? इसे जंजाल मानें, निरर्थक मानें,—तो जीयेंगे किस विश्वासके बलपर ? अविश्वासपर निर्भर रहकर तो जीना दूभर हो जायगा। जब जब बहुत आँखें खोलकर और बहुतेरा उन्हें फाड़कर जगतको समझनेका प्रयास करता हूँ, तभी तब बुद्धि त्रस्त हो रहती है, और मैं विफलतामें डूब जाता हूँ। अरे, *श्रद्धाहीन बुद्धि तो वन्ध्या* है, उससे कुछ फल नहीं मिलता! वह तो लँगड़ी है, हमें कुछ भी दूर नहीं ले जाती।

बुद्धिसे विज्ञान खड़े होते हैं। हम वस्तुका विश्लेषण करके उसकी व्याख्या करके अणु तक पहुँचते हैं। फिर, बुद्धि वहाँ अणुके साथ टकराती रहती है। अन्तमें समझमें क्या आता है ? अणु बस अणु बना रहता है, थियरी बस थियरी बनी रहती है और, जान पड़ता है कि, न अणुकी थियरी सत्य है और न कोई और थियरी अन्तिम सत्य हो सकेगी। और, सदाकी भाँति *विराट् अज्ञेय* हमें अपनी शून्यतामें समाये रहता है और हम भौंचक रहते हैं।

विज्ञानकी दूरबीनमेंसे सत्यको देखते देखते जब आँखें हार जाती हैं, सिर दुख जाता है, बुद्धि पछाड़ खाकर स्तब्ध हो रहती है, तब हम शान्तिकी पुकार करते हैं। तब हम श्रद्धाकी आवश्यकता अनुभव करते हैं, तब हम चैनके लिए,—रसके लिए, विकल होते हैं। निरुपाय हो हम आँख मीचते हैं और अपने भीतरसे ही कहींसे रसका स्रोत फूटा देखना चाहते हैं। और जो आँख खोलकर नहीं मिला, आँख मीचकर मिल जाता है। बुद्धिमान् जो नहीं पाते, बच्चे बच्चे बनकर क्या उसे ही नहीं पा लेते हैं ? मैं एक बार जंगलमें भटक गया। जंगल तो जंगल था, भटक गया तो राह फिर कैसे मिले ? वहाँ तो चारों ओर पेड़ ही पेड़ थे जिनकी गिनती नहीं, जिन्हें

एकको दूसरेसे चीन्हनेका उपाय नहीं। घण्टेके घण्टे भटकते हो गये और मैं अधिकाधिक मूढ़ होता चला गया। तब मैं हारकर एक जगह जा बैठा और वहाँ बैठा, आँख मीचकर, अपने भीतरहीसे राह खोजने लगा। और मैं आपसे कहता हूँ कि बाहर खोई हुई राह मुझे भीतर ही मिल गई!

आजकल नये विचारोंकी लहर दौड़ रही है। मैं आपको अपनी असमर्थता बतला दूँ कि मैं उन लहरोंपर बहना नहीं जानता। लहरोंपर लहरानेमें सुख होगा; पर, वह सुख मेरे नसीबमें नहीं है। हमारे सामने मानव-समाजकी बात कही जाती है। मानव-समाज टुकड़ोंमें बँटा है,—उन टुकड़ोंको राष्ट्र कहते हैं, वर्ग कहते हैं, सम्प्रदाय कहते हैं। उन या वैसे अन्य खण्डोंमें खण्डित बनाकर हम उस मानव-समुदायको समझते हैं; पर, असलमें ऐसी कोई फाँकें हैं नहीं। ये फाँकें तो हम अपनी बुद्धिके सहारेके लिए कल्पित करते हैं। मानव-समाजका यह विभाजन हमारी बुद्धि हमें प्रकार-प्रकारसे सुझाती है। एक प्रकारका विभाजन अति स्वीकृत हो चला है। वह है—एक मासेज़ दूसरी क्लासेज़; सर्वसाधारण और अधिकार-प्राप्त; दरिद्र और विभूति-मज्जित। इन दोनों सिरोंके बीचमें और भी कई मिश्र श्रेणियोंकी कल्पना है। इस विभाजनको ग़लत कौन कहेगा? लेकिन, यह मानना होगा कि विभाजन सम्पूर्ण सत्य नहीं है। सत्य तो अभेदात्मक है। इस अभेदात्मक सत्यको अपनी बुद्धिसे ओझल कर रखनेसे संकट उपस्थित होगा।

फिर, एक बात और भी है। मानव-समाज ही इति नहीं है। पशु-समाज, पक्षी-समाज, वनस्पति-समाज भी है। यही क्यों, सूर्य-नभ-ग्रह-तारा-मण्डल भी है। यह सभी कुछ है और सभी

कुछकी ओर हमें बढ़ना है। मानव-समाजको स्वीकार करनेके लिए क्या शेष प्रकृतिको इनकार करना होगा? अथवा कि प्रकृतिमें तन्मयता पानेके लिए मनुष्य-सम्पर्कसे भागना पड़ेगा?

दोनों बातें ग़लत हैं। धर्म सम्मुखता है। हम उधर मुँह रक्खें अवश्य जहाँ वह इन्सान है जो परिश्रममें चूर चूर हो रहा है, देहसे दुबला है, और दूसरोंके समस्त अनादरका बोझ उठाये हुए झुका हुआ चल रहा है।—हम उधर देखें जहाँ पुरुषको इसलिए कुचला जाता है कि दानव मोटा रहे। पीडित मानव-समाजकी ओर हम उन्मुख रहें, अपने सुखका आत्म-विसर्जन करें,—उनकी वेदनामें साझा बटायें। यह सब तो हम करें ही,—करेंगे ही। अन्यथा, हमारे लिए मुक्ति कहाँ है? पर ध्यान रहे, मानव-समाजपर जगतका ख़ात्मा नहीं है। उससे आगे भी सत्य है, वहाँ भी मनुष्यकी गति है, वहाँ भी मनुष्यको पहुँचना है।

और, इस जगहपर आकर मैं कहूँ कि अरे, जो चाँद-तारोंके गीत गाता है, उसे क्या वह गीत गाने न दोगे? उन गीतोंमें संसारके गर्भसे ली गई वेदनाको अपने मनके साथ घनिष्ट करके वह गायक गीतकी राह मुक्त कर दे रहा है। उसको क्या प्रस्तावसे और कानूनसे रोकोगे? रोको, पर यह शुभ नहीं है? अरे उस कविको क्या कहोगे जो आसमानको शून्य दिगम्बर देखता है, कुछ क्षण उसमें लीन रहता है और उसी लीनताके परिणाममें सब वैभवका बोझ अपने सिरसे उतारकर स्वयं निरीह बन जाता है और मस्तीके गीत गाता है? कहें राजनीतिक उसे पागल, पर वह लोकहितैषी है। उसका प्रयोजन चाहे हिसाबकी बहीमें न आये, पर, प्रयोजन उसमें है और वह महान् है।

ज्ञान जाननेमें नहीं, वैसा बननेमें है। Knowing is becoming असली ज्ञानना पाना है और पाना है तद्रूप तन्मय हो जाना। हम मनुष्य-समाजकी सच्ची सेवा स्वयं सच्चा मनुष्य बनकर कर सकते हैं और अहम्-शून्य हो जानेसे बड़ी सत्यता क्या है? कवि स्वयं एकाकी होता है, सम्पदासे विहीन होता है। वह स्वेच्छापूर्वक सबका दास होता है। स्नेहसे वह भींगा है और अपनी नसनसमें गरीब है। जब वह ऐसा है तब उसके आगे साम्राज्यकी भी बिसात क्या है? वह सब उसके लिए तमाशा है। उस कविसे तुम क्या चाहते हो? क्या उससे सुधार चाहते हो? क्या उससे प्रचार चाहते हो? अरे, क्यों चाहते हो कि जिसके मनमें फकीरी समाई है वह कुनबेदार बना रहकर बस श्रमिकवर्गकी भलाई चाहनेवाला साहित्य लिखे? श्रमिक और मज़दूर वर्गको साइन्सके द्वारा, 'इज़्म'के द्वारा, प्रस्तावके द्वारा, नहीं जाना जायगा; प्रेमके द्वारा उसे जानना होगा और प्रेमके द्वारा पाना होगा। और जब हम यह करने बढ़ेंगे तो देखेंगे कि हमें उन्हीं जैसा, बल्कि उनसे भी निरीह, स्वयं बन जाना है। फिर हमें कहाँ फुरसत रहेगी कि हम बहुत बातें करें? अरे, वैसे फ़कीरकी फ़कीरी और इकतारा क्यों छीनते हो? अगर वह नदीके तीरपर साँझके झुटपटेमें अकेला बैठा कोई गीत गा रहा है तो उसे गाने दो, छेड़ो मत। उसके इस गीतसे किसी मज़दूरका, किसी चरवाहेका, बुरा न होगा। होगा तो कुछ भला ही हो जायगा। उसको उस निर्जनतासे उखाड़-कर कोलाहलाकुल भीड़में बलात् बिठानेसे मत समझो कि तुम किसीका भला कर रहे हो।

व्यक्तिको वेदनाकी दुनिया पाने दो और पाकर उसे व्यक्त करने

दो, जिससे कि लोगोंके छोटे छोटे दिल क़ैदसे मुक्ति पायें और प्रेमसे भरकर वे अनन्त शून्यकी ओर उठें।

अभी चरचा हुई कि क्या लिखें, क्या न लिखें। कुछ लोग इसको साफ़ जानते हैं; पर, मेरी समझ तो कुंठित होकर रह जाती है। मैं अपनेसे पूछता रहता हूँ कि सत्य कहाँ नहीं है? क्या है जो परमात्मासे शून्य है? क्या परमात्मा अखिल-व्यापी नहीं है? फिर जहाँ हूँ, वहाँ ही उसे क्यों न पा लूँ? भागूँ किसकी ओर? क्या किसी वस्तु-विशेषमें वह सत्य इतनी अधिकतासे है कि वह दूसरेमें रह ही न जाय? ऐसा नहीं है। *अतः निषिद्ध कुछ भी नहीं है। निषिद्ध हमारा दम्भ है, निषिद्ध हमारा अहंकार है, निषिद्ध हमारी आसक्ति है।* पाप कहीं बाहर नहीं है, वह भीतर है। उस पापको लेकर हम सुन्दरको बीभत्स बना सकते हैं और भीतरके प्रकाशके सहारे हम घृण्यमें सौन्दर्यका दर्शन कर सकते हैं।

एक बार दिल्लीकी गलियोंमें आँखके सामने एक अजब दृश्य आ गया। देखता हूँ कि एक लड़की है। बेगाना चली जा रही है। पागल है। अठारह-बीस वर्षकी होगी। सिरके बाल कटे हैं। नाकसे द्रव बह रहा है। काली है, अपरूप उसका रूप है। हाथ और वदनमें कीच लगी है। मुँहसे लार टपक रही है। वह बिल्कुल नग्न है। मैंने उसे देखा, और मन मिचला आया। अपने ऊपरसे काबू मेरा उठ जाने लगा। मैंने लगभग अपनी आँखें मींच लीं और झटपट रास्ता काटकर मैं निकल गया। मेरा मन ग्लानिसे भर आया था। कुछ भीतर बेहद खीझ थी, त्रास था। जी घिनसे खिन्न था। काफी देर तक मेरे मनपर वह खीज छाई रही; किन्तु, स्वस्थ होनेके

बाद मैंने सोचा, और अब भी सोचता हूँ, कि क्या वह मेरी तुच्छता न थी ? इस भाँति सामने आपदा और विपदा और निरीह मानवताको पाकर स्वयं कन्नी काटकर बच निकलना होगा क्या ? मैं कल्पना करता हूँ कि क्राइस्ट होते, गौतम बुद्ध होते, महात्मा गान्धी होते, तो वे भी क्या वैसा ही व्यवहार करते ? वे भी क्या आँख बचाकर भाग जाते ? मुझे लगता है कि नहीं, वे कभी ऐसा नहीं करते। शायद वे उस कन्याके सिरपर हाथ रखकर कहते— आओ बेटा, चलो। मुँह-हाथ धो डालो, और देखो यह कपड़ा है, इसे पहिन लो। मुझे निश्चय है कि वे महात्मा और भी विशेषतापूर्वक उस पीड़िता बालाको अपने अन्तस्थ स-करुण प्रेमका दान देते।

पर नग्नता हमारे लिए तो अश्लीलता है न ? सत्य हमारे लिए भयंकर है, जो गहन है वह निषिद्ध है, और जो उत्कट है वह बीभत्स। अरे, यह क्या इसीलिए नहीं है कि हम अपूर्ण हैं, अपनी छोटी-मोटी आसक्तियोंमें बंधे हुए हैं ! हम क्षुद्र हैं, हम अनधिकारी हैं।—मैंने कहा, अनधिकारी। यह अधिकारका प्रश्न बड़ा है। हम अपने साथ झूठे न बनें। अपनेको बहकानेसे भला न होगा। सत्यकी ओट थामकर हम अपना और परका हित नहीं साध सकते। हम अपनी जगह और अपने अधिकारको अवश्य पहिचानें। अपनी मर्यादा लाँघें नहीं। हठ-पूर्वक सूर्यको देखनेसे हम अन्धे ही बनेंगे; पर, बिना सूर्यकी सहायताके भी हम देख नहीं सकते, यह भी हम सदा याद रक्खें। हम जान लें कि जहाँ देखनेसे हमारी आँखें चका-चौंधमें पड़ जाती हैं वहाँ देखनेसे बचना यद्यपि हितकर तो है, फिर भी, वहाँ ज्योति वही सत्यकी है और हम शनैः शनैः अधिकाधिक सत्यके सम्मुख होनेका अभ्यास करते चलें।

साहित्य और साधना*

भाइयो,

साहित्यके सम्बन्धमें मैंने कुछ पढ़ा नहीं है, किन्तु, इस बातका मुझे गर्व है कि जो प्रेमके ढाई अक्षर पढ़ लेता है वही साहित्यिक है। इसे आज मैं प्रत्यक्ष अनुभव करता हूँ। साहित्यकके क्षेत्रमें पुस्तकोंका ज्ञान उतना आवश्यक नहीं है जितनी आवश्यकता है साधना और उपासनाकी। विश्वके हितके साथ एकाकार हो जाय, यही जीवनका लक्ष्य है। बाह्य जीवनसे अंतर-जीवनका सामंजस्य हो, इस सत्यको प्रत्यक्ष करनेमें ही जीवनकी सार्थकता है। ग्रन्थोंके पढ़नेसे हममें बड़ा विभेद उत्पन्न हो जाता है। साधनाका विषय है साहित्य। आप वर्णमाला भी चाहे न जानें, आपको एक अक्षरका भी ज्ञान न हो, किन्तु, आपके मुखसे कोई वाणी उद्भूत हो और, सम्भव है, आपमेंका कवि बोल उठे। वह वाणी सबके हृदयोंको प्लावित कर देती है, वह पढ़ने या पढ़ानेसे प्राप्त नहीं हो सकती, उससे तो इसका कोई सम्बन्ध ही नहीं। साहित्यका सीधा सम्बन्ध साधनासे है। *साहित्य* यदि लिखनेकी चीज़ होती तो बहुत बड़ी चीज होती। पर, यदि वह लिखनेकी ही चीज होती तो मेरे हृदयकी चीज नही हो सकती। हमारी भावनाएँ आत्मासे निकलती हैं, जहाँ उनका व्यक्तीकरण हुआ वही साहित्य हुआ। जीवन तो उसके बादकी बात है।

जब तक सत्यान्वेषणकी प्रवृत्ति हममें है तब तक हम सुन्दर

---

* इन्दोर—'हिन्दी साहित्य-सम्मेलन' के भाषणका अंश।

साहित्यकी सृष्टि कर सकते हैं; यदि नहीं, तो वह व्यर्थ है,—उसमें केवल दो-चार बुद्धिवादी मनुष्य ही आनन्द पा सकते हैं। जीवनसे अनपेक्षित होकर साहित्य न ज़िन्दा रहा है, न रह सकता है। जीवनकी जितनी समस्याएँ हैं वे हमारे सामने जीवित समस्याके रूपमें उपस्थित हों। वाल्मीकि और तुलसी आदि कोई बड़े विद्वान् न थे,—जो साहित्यके धुरन्धरचूड़ामणि कहलाते हैं, उन जैसे विद्वान् न थे, वे तो सन्त थे। वे ही हमारे लिए सुन्दरसे सुन्दर साहित्य छोड़ गये हैं और उनका जीवन विश्वके हितके लिए बलिदान हो गया है। हमारा और साहित्यका जो सम्बन्ध रहा है वह किताबका विषय बना हुआ है, जीवनका नहीं। उसीको कुछ जीवित चीज़ बनाना होगा।

जो विद्वानके लिए भी गूढ़ है वह जनसाधारणके लिए साधारण हो जाता है। जो साहित्य सबसे ऊँचे दर्जेका है वह विद्वानके लिए उतना ही सुन्दर है जितना जनसाधारणके लिए। फिर भी, उसमें इतनी गूढ़ता है कि उसकी सचाईका अन्त नहीं है। भाषा चाहे जैसी हो, भावना और शैली चाहे जैसी हो, व्याकरणकी कठिनता भी न हो, किन्तु, वह जीवनकी, हृदयकी, चीज़ जरूर हो। वह हमारी कमजोरियोंकी दीवारमें झरोखे पैदा कर दे जिसमें शुद्ध हवा आने-जाने लग जाय। बीमारके लिए स्वच्छ हवा कैसे हानिकारक है? मनुष्य-मनुष्यके बीचमें जो दीवारें खड़ी कर दी गई हैं साहित्य उनमें खिड़कियाँ खोल देगा। उनके बीचसे निकलेगा और वह राजाके बीच हरिजनों और किसानोंका चित्रण करेगा। राजाका चित्रण उसी स्वाभाविक रीतिसे होगा जिससे किसानका भी चित्र प्रतिबिम्बित हो। सब मनुष्य हैं, सब एक हैं,—यही साहित्यका

काम है; उसमें चोरको फाँसी देनेवाला न्यायाधीश और चोर स्वयं एक हों, सबमें ईश्वर हो,—इसीका नाम साहित्य है।

समन्वय करते करते वस्तुओंके प्रति द्वंद्वका भाव नष्ट हो जाय। महात्माजीने अपने एक रिकार्डमें कहा है कि जो है सो परमात्मा है। फिर यह पाप और पुण्य क्या है? परमात्मामेंसे पाप कैसे आया? बात यह है कि पाप भी है और पुण्य भी है, फिर भी, पापके खिलाफ लड़ते रहो। समाधान श्रद्धासे ही मिलता है। इसी स्वर्गीय समाधानमें साहित्यकी सिद्धि है।

~~~~~~~~~~~~~~~~

लेखकके प्रति

यह तत्त्व लेखक बननेकी इच्छा रखनेवाले प्रत्येक महाशयको जान लेना चाहिए कि रामचन्द्रजीको मूर्त रूपमें प्रस्तुत करनेमें ऋषि वाल्मीकिने अपनी पवित्रतम भावनाएँ और उच्चतम विचार और श्रेष्ठतम अंशका दान दिया। वाल्मीकिमें जो सर्वोत्कृष्ट है, वही राम है। लेखककी महत्ता यही है कि जो उसमें सुन्दर है, शिव है, सत्य है,—जो उसमें उत्कृष्ट है और विराट् है उसीको वह सबके अर्थ दे जाय। उसे अपना और अपने नामका मोह न हो, वह अपने आदर्शके प्रति सच्चा हो, स्वप्नके प्रति खरा हो। उसका आदर्श ही अमर होकर विराजे, पूजनीय हो,—इसीमें लेखककी संतृप्ति है सफलता और सार्थकता है।

मेरी इच्छा है कि जो लेखक बने वह पाठकको वह दे जो उसके पास अधिकसे अधिक मार्मिक है, स्वच्छ है और बृहत् है।

~~~~~~~~~

सम्पादकके प्रति

('विद्या'के सम्पादकको)

भाई, आपका पत्र मिला, क्या यह जबर्दस्ती नहीं है कि आप जो माँगें वही मुझे देना हो? आप कहानी चाहते हैं। तत्त्वको तात्त्विक ही न रहने देकर जब उसे व्यवहारगत उदाहरणका रूप दिया जाता है, तब वह कहानी बन जाता है। इसमें उसकी गरिष्ठता कम हो जाती है, रोचकता बढ़ती है। तत्त्व कुछ कठिन, ठोस, वज़नदार चीज़ जँचती है। कहानीकी शकलमें वही हल्की, रंगीन, दिलचस्प काल्पनिक वस्तु बन जाती है।

पर आपकी 'विद्या' उत्कृष्ट कोटिकी होनेका संकल्प उठाकर आनेवाली है। ऐसी हालतमें, मैं शिक्षितों और विद्वानोंका अपमान नहीं करूँगा, अर्थात्, कहानी नहीं लिखूँगा। और, कुछ ऐसे शब्द ही लिख सकूँगा जो शिक्षितोंकी शिक्षाके अनुरूप बेरंग हों और भूलें भी सरल न हों।

सच यह है,—दुनियाँमें द्वन्द्व दिखाई देता है। मनमें भी द्वन्द्व है, बाहर भी द्वन्द्व है। बाहरके द्वन्द्वको कुछ लोग व्यक्तियोंकी लड़ाई समझते हैं, कुछ वर्गों और जातियोंका संघर्ष मान लेकर अपना समाधान करते हैं। कुछ और विचक्षण लोग उसे सिद्धान्तोंकी लड़ाई समझते हैं। वे लोग, राजाओं और राजवंशोंके कृत्योंकी तारीखोंसे भरे हुए इतिहासको पढ़ पढ़कर, उसमेंसे सिद्धान्त निकालते हैं। इतिहास, उनके निकट, अमुक सिद्धान्त, अमुक तत्त्वके क्रम-विकासको संपन्न करनेवाली अतीत क्रियाका नाम है। उस तमाम इतिहासमें उनके निकट एक अनुक्रम है, निश्चित निर्देश है, एक तर्क है।

ये सब ठीक हैं; और, जो दुनियाको व्यक्तिके अर्थ रखनेवाली मानें वे उनसे ग़लत क्यों हैं ? जो व्यष्टिको समष्टिके प्रयोजनार्थ समझते हैं वे ग़लत क्यों हैं ? और वे ग़लत क्यों हैं जो इतिहासका तमाम तत्त्व इसमें समझते हैं कि हम जानें कि अमुक राजा किस सन्‌में मरा और फलाँ लड़ाई किस सन्‌में लड़ी गई ?

सब बात अपनी अपनी भूमिका और अपनी अपनी दृष्टिकी है। और जो द्वन्द्व इस घोरताके साथ घट-घटमें व्याप रहा है उसे मैं सत्-असत्‌का द्वन्द्व कहकर समझूँ, इसमें मुझे सुख मिलता है। साहित्यमें भी सत्-असत्‌की लड़ाई है। असत् कहनेसे यह न समझा जाय कि जिसमें बल नहीं है वह ही असत् है। नहीं। बल्कि, मात्र आँखोंसे देखें तो बात उल्टी दीखेगी। क्रोधमें जो बल है, शान्तिमें कहाँ है? और हिंसाका प्राबल्य किसने नहीं देखा ? अहिंसाको कौन मानेगा कि वह उससे चौथाई भी प्रबल है ? लेकिन, फिर भी, हम क्रोधको कहेंगे असत्, हिंसाको कहेंगे असत्।

किसीको असत् कह कर व्यक्तिके ऊपर जिम्मेदारी आ जाती है कि वह सिद्ध करे, अपने आचरण और उदाहरणद्वारा प्रमाणित करे, कि जिसको उसने सत् माना है वह उससे कहीं शक्तिशाली है— अर्थात् क्रोध शान्तिकी शक्तिके सामने अपदार्थ है और हिंसा अहिंसाकी सात्त्विक शक्तिके आगे सदा ही पराजित है।

मैं विश्वास करना चाहता हूँ कि इस सत्-असत्‌के युद्धमें साहित्यिक सत्‌के पक्षमें अपनेको खपायेंगे; यानी, लिखेंगे तो उसपर आरूढ़ भी होंगे। इस भावनाके साथ—

आपका

नवंबर १९३४ जैनेन्द्रकुमार

आलोचकके प्रति*

कई बातें जो आलोचकको उलझाती हैं अपनी ख़ातिर इतनी ध्यान देने योग्य नहीं हैं।—उन्हें जल्दी पार कर लें।

पहली बात है भाषा। भाषापर मैं किसीको रोकना नहीं चाहता हूँ। भाषा है माध्यम,—मन उलझा है तो भाषा सुलझी कैसे बनेगी? इसलिए, भाषाके निमित्तको लेकर भी ध्यान यदि मनका रक्खा जाय, तो क्या उत्तम न हो? मनके भीतरसे भाषाका परिष्कार स्थायी होगा। पर, एक कठिनाई भी है। वह यह कि गहन गहराईमें उतरकर चलना ऐसा सरल नहीं होता जैसा ऊपर मैदानमें चलना। लिखना क्यों है? अपने भीतरकी उलझनोंको खोलनेके लिए ही तो वह है।—वहाँ भीतर बड़ी अँधेरी गलियाँ हैं,—वहाँ प्रकाश हो जाय तो बात ही क्या? इससे, वहाँ पैठकर राह खोजनेवालेकी गति कुछ धीमी या कुछ दुर्बोध या चकरीली-सी हो जाय तो क्षम्य मानना चाहिए। यह उसके लिए गर्वकी बात नहीं है, लाचारीकी बात है।

आलोचकको एक नई कृतिमें भाषाके प्रयोग कहीं कुछ अनहोनेसे लगेंगे ही। ऐसा न होना चिंताका विषय हो सकता है, होना तो स्वाभाविक है। प्रत्येक व्यक्ति अद्वितीय है। उसकी वह अद्वितीयता खुरचकर मिटानेसे भी बाहरसे और भीतरसे नहीं मिट सकती। राह यही है कि विनम्र भावसे उस अद्वितीयताके साथ

* 'सुनीता' की आलोचना करनेवाले आलोचकोंको लक्ष्य करके लिखा गया।

समझौता कर लिया जाय। उससे विरोध नहीं ठाना जा सकता। परन्तु, भाषाके प्रयोग मनमाने हों और चौंकानेके लिए हों तो बुरा है। पाठकको चौंकाये, इसमें तो लेखकका अहित ही है,—चौंकाकर वह किसीको अपना मित्र नहीं बना सकता। फिर भी, यदि चौंका देता है तो उसे क्षमाप्रार्थी भी समझिए,—इसे अकुशलताका परिणाम मान लेना चाहिए। अगर, अपनी ओरसे कहूँ कि वह आग्रहका परिणाम नहीं है, तो पाठकको इसे असत्य माननेका आग्रह नहीं करना चाहिए।

भाषापर मैं क्वचित् ही ठहरता हूँ। राह दीर्घ है, यहाँ ठहरना कहाँ? जब ठहरनेका अवकाश नहीं है तब सोच-विचार कहाँसे हो कि भाषाको ऐसा बनाओ अथवा ऐसा न बनाओ। *बनानेसे भाषाके बिगड़नेका अँदेशा है*। सोचकर चलनेसे भाषापर व्यक्तिका अहंकार लद जाता है। यों भाषा बढ़िया भी लगे, पर, कृत्रिम हो जाती है। बढ़िया-घटिया तो फैशनकी बातें हैं। फैशन बदलता रहता है। बढ़ियापनका लालच पाकर मैं कृत्रिम भाषा पाठकको कैसे दूँ? यदि मैं पूर्ण तरह परिष्कृत नहीं हूँ तो यह मेरा अपराध है; पर, जो हूँ वही रहकर मैं पाठकके समक्ष क्यों न आऊँ? बन-ठनकर कैसे आऊँ? पाठकका तिरस्कार मुझे सह्य होगा; पर, पाठकको धोखेमें मैं नहीं रक्खूँगा। यह विश्वास रक्खा जाय कि मैं सुगम होना चाहता हूँ, क्योंकि, पाठकसे घनिष्ठ और अभिन्न होना चाहता हूँ।—साधारण और स्वच्छ रहना चाहता हूँ, क्योंकि, अपने और सबके प्रति संभ्रमशील रहना चाहता हूँ। दर्प दयनीय है। तब, मैं भला किसकी रुचिको चुनौती देनेकी ठानूँ?

एक बात और भी। किताबोंमें प्रेसकी भूलें भी होती हैं। वे ऐसी दक्षतासे किताबमें अपनी जगह बना लेती हैं कि अति सावधान

पाठक भी उन्हें नहीं पकड़ सकता । वे वहाँ वाक्योंके बीचमें जम बैठती हैं और मनमानी करती हैं। दूसरे यह, कि हिंदीमें पंक्चुएशन किसी निश्चित और अनुकूल पद्धतिपर अभी नहीं जम पाया है। उसे स्थिर होना चाहिए। भाषाको वशमें लानेके लिए वह आयुध हिन्दीमें अभी पूरा काम नहीं देता।

फिर यह, कि प्रत्येक परिचयमें कुछ नवीनता होती है। परिचयकी प्रथमता धीरे धीरे जब दूर होगी तब भाषाके पहनावेपर ध्यान गौण होता जायगा,—उसकी आत्माके साथ घनिष्ठता बढ़ेगी। यहाँ घबराहट उचित नहीं है; क्योंकि, पहनावा ही आदमी नहीं है, अतः, वह वृत्ति भली नहीं है जो नवीनताको शनैः शनैः पककर अपने साथ घनिष्ठ नहीं होने देना चाहती।

अपने लेखन-कालमें पाठककी हैसियतसे मैंने एक बात सीखी है। वह यह कि जगत्के प्रति विद्वान् बनकर रहनेसे कुछ हाथ नहीं लगता। जो पाना चाहता हूँ वह, इस भाँति, कुछ दूर हो जाता है। जगत्के साथ विद्वत्ताका नाता मीठा नाता नहीं है। विद्वान्के निकट जगत् पहेली हो जाता है,—जगत् अज्ञेय बनता है, और विद्वान्, उसी कारण, उसे स्पर्द्धा-पूर्वक ज्ञेय-रूपमें देखता है। फलतः, विद्वान्में एक रसहीन कुण्ठा और धारदार आग्रह पैदा होता है। जगत् उसके लिए प्रेमकी और आनन्दकी चीज़ नहीं हो पाता। विद्वान् प्रत्याशा बाँधता है कि जगत् उसकी *थियरी*में,—उसके '*वाद*'में, चौखूँट बैठ जायगा; पर, ऐसा होता नहीं और विद्वान् अपनी प्रत्याशाओंमें विफल अतः जगत्के प्रति रूक्ष और रुष्ट रहता है। विद्या-गर्वके ऊपर जीवन जीनेकी यह पद्धति सम्पूर्ण नहीं है।—यह सच्चिदानन्दकी ओर नहीं ले जाती।—उपलब्धिकी यह राह नहीं। अपना एक 'कोड'

बना लिया जाय और दुनियाके प्रति अधीर और असन्तुष्ट रहा जाय कि वह क्यों सीधे तौरपर उस 'कोड'में बँधकर नहीं बैठती है,—ऐसे क्या मिलेगा? इस मनोवृत्तिमें सुधारका नशा मिल सकता है, पर, किसी हित अथवा किसी विद्याकी अभिवृद्धि इस भाँति कठिनतासे ही हो सकती है।

इस वृत्तिसे पाठक बचे तो ठीक। उसे रसग्राही वृत्ति चाहिए। वह अपनेको खुला रक्खे,—जमकर निर्जीव बन गई हुई धारणाएँ अपने पास न रक्खे। विद्वत्ताका बोझ बोझ ही है। उससे जीवनानन्दके प्रति खुले रहनेकी शक्ति ह्रस्व होती है।

मैंने अपने सम्बन्धमें पाया है कि जब जब चीज़को स्पर्द्धापूर्वक मैंने अधिकृत कर लेना चाहा है, तभी तब मेरी दरिद्रता ही मुझे हाथों लगी है। और जितना मैंने अपनेको किसीके प्रति खोलकर बहा दिया है उतना ही परस्परके बीचका अन्तर दूर हुआ है और एकता प्राप्त हुई है। ऐक्य-बोध ही सबसे बड़ा ज्ञान है, और तबसे मैंने जाना है कि *आत्मार्पणमें ही आत्मोपलब्धि है, आग्रह-पूर्ण संग्रहमें लाभ नहीं है।*

एक और तत्त्व ज्ञातव्य है।—कुछ भी, कोई भी, अपने आपमें महत्त्वपूर्ण नहीं है। कोई कथन अपने शब्दार्थमें और कोई घटना अपने सीमित अर्थमें सार्थक नहीं होती। सबका अर्थ विस्तृत है,—वह अर्थ निस्सीममें पहुँचनेके लिए है।—उसी ओर उसकी यात्रा है। इससे, सब-कुछ मात्र संकेत रूपमें,—इंगित रूपमें, ही अर्थकारी है। समग्रसे टूटकर अपने खंडित गर्वमें वह निरर्थक रह जाता है। निरर्थक ही क्यों,—इस भाँति वह अनर्थक भी है। इसलिए, प्रत्येक

विवरणको, जहाँ तक हो वहाँ तक, मूल जीवन-तत्त्वके साथ योग-युक्त देखना होगा।

पुस्तकमें भी यही बात है। हर बात वहाँ पात्रकी मनोदशाकी अपेक्षामें आशय-युक्त बनती है। पात्रकी मनोदशाको व्यक्त, अर्थात् पुस्तकगत जीवन-तत्त्वको उद्घाटित, करनेके लिए जो आवश्यक नहीं है वह वर्णन परिहार्य है। ऐसा मोह न लेखकको भला, न पाठकको उचित। 'यह और भी लिख दूँ,—कैसा अच्छा आइडिया है!—अरे! आगे क्या हुआ? फिर क्या हुआ? हमें यह लेखकने बीचमें कहाँ छोड़ दिया!'—इस तरहकी बातें मोहजन्य हैं। अपने आपमें कुछ उल्लेखनीय नहीं हैं। जो सर्वांशतः पुस्तकके प्राणके प्रति समर्पित और सम्मुख नहीं है वह वर्णन बहुमूल्य होनेपर भी त्याज्य बनता है। ऐसे बाह्य वर्णनपर लेखक अपनी लुब्ध दृष्टि कैसे डाल सकता है? इस भाँति, स्पष्ट है कि, बड़ीसे बड़ी वस्तु भी अनुपयोगी और छोटीसे छोटी घटना भी व्यक्ति और ग्रंथके जीवनमें विराट्-आशय बन सकती है। तुच्छ इस सृष्टिमें कुछ भी नहीं; किन्तु, यह सृष्टि इतनी अछोर, अपार, अनंत है कि यहाँ बड़ीसे बड़ी चीज़ भी अपने आपके गर्वमें उपहासास्पद हो जाती है।

यहाँ साहित्यकी मर्यादा भी हम समझें। पुस्तकमें और हमारी आँखोंके सामनेके ठोस जगतमें अन्तर है। पुस्तक दर्पण नहीं है। साहित्य ज्योंका त्यों बाज़ारी दुनियाके प्रतिबिम्बको अंकित करनेके लिए नहीं है। इस दृष्टिसे साहित्य विशिष्टतर है,—यह विशिष्टता उसकी मर्यादा भी है। साहित्यके नायक और पात्र दुनियाके आदमीकी तुलना नहीं कर सकते। यहाँ दीन-हीन आदमी भी मन-भरसे ऊँचा तुलता है

और पुस्तकोंके महापुरुष मिलकर भी तराजूमें फूँक जितने भी नहीं तुल सकते। फिर भी, वे सत्यतर हों, तो यह कम सत्य नहीं है।—इस अन्तरको खूब समझ लेना चाहिए। पुस्तकके पात्र अशरीरी होते है,—हमारी भावनाएँ ही हैं उनका शरीर।—यों एक ही दम सामाजिक मनुजसे वे अतुलनीय हो जाते हैं। वे नहीं दीख सकते, क्योंकि, जड़ शरीर उनके पास नहीं है। फिर भी, वे सतत रूपसे हमारे सामने हैं, हमारे भीतर हैं और अमर हैं,—ठीक इसीलिए कि वे पंच-भूतजड़ित नहीं हैं। उनका अस्तित्व मानसिक है, उनका जीवन-तर्क हमारी जीवन-नीतिसे भिन्न है, वह और ही तलपर हैं और हमारे मनोविज्ञान-शास्त्रका बंधन उनपर नहीं है। हमारी संभव-असंभवकी मर्यादा भी उनपर लागू नहीं है। वे हमारी ही कृति हों और हैं, पर, हमसे कहीं चिरजीवी सूक्ष्मजीवी हैं। वे हमारी Rarefied वृत्तियाँ हैं जो हमारे भीतर घिरी नहीं हैं, बाहर भी नहीं हैं। देखा जाय, तो भीतर और बाहरसे हम ही उनमें घिरे हैं। साहित्यमें भूत हो सकते हैं और परियाँ भी हो सकती हैं। वहाँ चर-अचर, मानव-अमानव, समाज और प्रकृति, देवता और दैत्य,—सब हो ही नहीं सकते प्रत्युत सब आपसमें एकम-एक भी हो जा सकते हैं। गूँगी पृथ्वी अपनी सूनी, फटी, तप्त आँखोंसे ताकती रहकर काले रोषसे घुमड़ते हुए बिजलीसे भरे आसमानमेंसे झर झर आँसू खींच ला सकती है और उस आदमीको अपनी अथाह करुणामें क्षमा कर सकती है जो इन आँसुओंमें झरती पीरको बस, बारिश कहकर विद्वान् बना बैठा है। वहाँ समन्दरकी मछली उड़कर सातवें आसमानमें बैठे परमात्माके पास भी फरियाद ले जा सकती है और न सुननेपर घोषणा कर

सकती है कि परमात्मा दयालु नहीं है।—यह सब कुछ हो सकता है। जो अपनी विज्ञानकी खोजमें सच्चा है, वह जानता है कि *मानव परिमित है, पंगु है। वह जानता है कि जो 'मानवीय' है झूठ है, और झूठका सहारा लेकर ही बेचारा मानव सत्यकी ओर बढ़ सकता है। समस्त ज्ञान छल-ज्ञान है। यहाँ सत्याभिमुखता ही सत्य है।*

आशय मेरा, झूठकी बढ़ाईसे पाठकको आतंकित करना नहीं है। सीमित धारणाओंमेंसे उठाकर पाठकको असीममें पटक देने जैसी भी इच्छा नहीं है। हमारा वहाँ वश भी नहीं। उद्दिष्ट मात्र यह दिखाना है, कि हम अपनी ससीमता सत्यपर जब ओढ़ाते हैं तब मानो अपनी ही तुच्छता स्वीकार करते हैं। यदि हम असीमको और अरूपको स्वरूपवान् बनाकर ही हृदयंगम कर सकते हैं, तो अवश्य ऐसा करें। ऐसा करे बिना गति कहाँ ? पर, हमारा सब-कुछ मात्र इस प्रतीतिके पारस-स्पर्शसे स्वर्ण बन जाता है कि हममें अव्यक्त ही व्यक्त हो रहा है, हमारे ज्ञान-विज्ञानकी यात्रा अज्ञेयकी ओर है। यह प्रतीति नहीं तो हमारा सब-कुछ मिट्टी ही है।

इसीसे जिज्ञासा एक वस्तु है स्वप्न और। साहित्य मर्यादा-हीनता नहीं है, जिज्ञासा संशय नहीं है। पुस्तकके पात्रोंमें उनकी अपनी ही एक एक मर्यादा होती है। उनका तर्क उनके ही भीतर सन्निहित रहता है। मनोविज्ञानकी किसी प्रवेशिकामेंसे उनका नियामक नियम नहीं निकाला जा सकता। यदि पुस्तकके चरित्र हमारी इस दुनियाके आदमियोंके अनुरूप चलते दीखते हैं तो इस हेतु नहीं कि वैसी अनुरूपता उनका लक्ष्य है, प्रत्युत, केवल इसलिए कि उस

अनुरूपताके सहारे लेखक अपनेको दुनियाके उन लोगोंके निकट और उन्हें अपने निकट पहुँचाना चाहता है। किन्तु, साहित्यकी प्रेरणा आदर्श है। जब तक वह है (और वह तो सर्वथा सनातन है), तब तक चरित्र आदर्शानुगामी होंगे, जगदनुगामी नहीं भी हो सकते हैं। उनका हक है कि वे सामान्य पथपर न चलें, सामान्यतया साधारण न हों, किसी भी परिचित पद्धतिका समर्थन न करें और दुस्साहसिक होकर भी उर्द्ध्वगामी बनें।

इस स्थलपर वे शब्द दोहराये जा सकते हैं जो 'सुनीता' पुस्तककी प्रस्तावनामें आ गये हैं; वे बहुत कामके मालूम होते हैं।

'....पुस्तकमें रमे हुए लेखकको जैसे चाहो समझो, किसी पात्रमें वह अनुपस्थित नहीं है और हर पात्र हर दूसरेसे भिन्न है। पात्रोंकी सब बातें लेखककी बातें हैं, फिर भी, कोई बात उसकी नहीं है; क्योंकि, उसकी कहाँ?—वह तो पात्रोंकी है। कहानी सुनाना लेखकका उद्देश्य नहीं। (उन सबका नहीं जो अपने साहित्यमें जीवन-लक्ष्यी हैं।) इस विश्वके छोटेसे छोटे खण्डको लेकर चित्र बनाया जा सकता है। उस खंडमें सत्यके दर्शन पाये जा सकते हैं और उस चित्रमें उसके दर्शन कराये भी जा सकते हैं। जो ब्रह्माण्डमें है वह पिण्डमें भी है।....थोड़ेमें समग्रताको दिखाना है....।'

असल बात उस झाँकीको देना और लेना है जिसको लेकर अक्षर शब्दमें खो गये हैं,—शब्द वाक्योंमें और वाक्य पुस्तकके प्राणोंमें। अपने आपमें वाक्य भी निरर्थक है, शब्द भी निरर्थक हैं, अक्षर भी निरर्थक हैं। वे अपनेमें ग़लत भी नहीं हो सकते, सही भी नहीं हो सकते। वे वही हो सकते हैं जो हैं; और वे मात्र जड़ हैं।

उनकी सार्थकता उस जीवन-तत्त्वके वाहन होनेमें है जिसकी सेवामें वे नियोजित हैं।

वह जीवन-तत्त्व मनोविज्ञानिक नहीं है। वह व्यवहारसिद्ध नहीं, लोकस्वभावसे घिरा नहीं। वहाँ हमारा ज्ञान-विज्ञान लय होता है, जैसे नदियाँ समुद्रमें लय हो जाती हैं। वही इन सबको फिर पोपण भी देता है, पर, वह इन सबसे अतीत है, इनकी रक्षाके दायित्वसे वह परिबद्ध नहीं है, क्योंकि, वह तो उनकी आत्मा है।

पुस्तकके भौतिक विवरण भी इसी भाँति स्वाधीन समझे जावें जैसे सजीव पात्र। पुस्तकका हरिद्वार (प्रेमचंदकी 'कर्मभूमि'का) भूगोलवाला हरिद्वार नहीं है। ह्यूगोका पैरिस फ्रांससे अधिक ह्यूगोका है। वह नकशेमें नहीं हो सकेगा, क्योंकि, वह ह्यूगोके मनमें ही होने लायक था। किन्तु, नामोंमें क्या है ? पैरिसका वर्णन देनेवाली हर कोई पुस्तिका तो अपने लेखकको ह्यूगो नहीं बना दे सकती। इससे, उचित है कि, पाठक इनपर अटके नहीं। इस प्रकारकी स्थान-रूपकी प्रामाणिकता कोई बहुत अंतिम वस्तु नहीं है।

ये ऊपरी बातें हैं। वैसी त्रुटियाँ तो होती ही हैं। कहाँ वे नहीं होतीं ? खंडित करके देखा गया चित्र धब्बोंके अतिरिक्त क्या दीखेगा ? प्रत्येक लेखक अपने लेखमें वर्कमैनशिपकी ऐसी अनेक भूलोंको आलोचकके हाथों स्वयं गिरफ्तार करा दे सकता है। सच पूछा जाय तो इस दृष्टिसे सब-कुछ भूल ही है। ठीक Perspective पास न हो तो कौन चित्र असुन्दर नहीं है ? पर, इस प्रकारकी त्रुटियाँ लेखककी चिन्ताका विषय नहीं हैं। आलोचकके लालचका विषय भी उन्हें नहीं होना चाहिए। जिसके लिए आलोच्य विषय

कलेवर है, लेखकका हृदय उसकी ओर भूखी निगाहोंसे देखता रह जाता है। कलेवरके भीतरसे तो झाँक हृदय रहा है। वह हृदय अपनी स्वीकृति चाहता है, वह अपनेको पहिचनवाना चाहता है। जो कलेवर लेकर उसीके साथ शल्य-क्रिया करते और हृदयको छूछा समझ छोड़ देते हैं, उनको कृतज्ञ दृष्टिसे देख सकनेके लिए वह हृदय तरसता ही रह जाता है।

एक आलोचकने रविबाबूके 'घर और बाहर'का जिक्र किया। मुझे इससे खुशी हुई। दिन हुए मैंने वह पुस्तक पढ़ी थी। तब मेरा लिखना आरम्भ न हुआ था। मुझे अब भी उसकी याद है। बेशक जो 'घर और बाहर'में है वही 'सुनीता'में भी है।—वही समस्या है। अनजाने ऐसा नहीं हो गया है, जान-बूझकर ऐसा हुआ है। किन्तु, 'घर और बाहर'की समस्या रविबाबूकी समस्या तभी तो बनी, जब कि वह जगत्की समस्या है। उसे उस रूपमें रविबाबूसे पहले भी लिया गया, उन्होंने भी लिया, और पीछे भी लोग लेंगे। जगकी केन्द्रीय समस्याको व्यक्ति-हृदयकी परिभाषामें रखकर जब भी देखा और सुलझाया जायगा, तब उसका वही रूप रहेगा।

समस्या सदा तिखूँट है। जगतमें मूल पक्ष दो हैं—'स्व' और 'पर'। 'स्व', यानी 'मैं'। 'मैं', अर्थात् भोक्ता और ज्ञाता। 'पर' अर्थात् भोग्य और ज्ञेय। अपनेको भोक्ता मानकर अपनी भोग्य बुद्धिके परिमाणके अनुसार 'मैं' 'पर'को फिर दो भागोंमें बाँट डालता हूँ—पहला जो मेरा है, दूसरा जो मेरा नहीं है। इसी स्थानपर समस्या बन खड़ी होती है। जिसे 'मेरा' माना उसपर मैं

कब्जा चाहता हूँ, जो 'मेरा' नहीं है उससे विरोध ठानता हूँ। इस भाँति, 'मैं' जीता और बढ़ता हूँ।—यही जीवनकी प्रक्रिया है।

असलमें 'स्व' और 'पर'का विभेद माया है। जीवनकी सिद्धि उनके भीतर अभेद-अनुभूतिमें है। पर अभेद कहनेहीसे तो संपन्न नहीं हो जाता,—उसीके लिए है साधना, तपस्या, याग-यज्ञ। जाने अनजाने प्रत्येक 'स्व' उसी सिद्धिकी ओर बढ़ रहा है। कुछ लोग वस्तु-जगत्को अपने भीतरसे पाना चाहते हैं, दूसरे उसे बाहरसे भी ले रहे हैं। संसारमें इस प्रकारकी द्विमुखी प्रवृत्तियाँ देखनेमें आती ही हैं जिन सबके भीतरसे 'स्व' विशद ही होता चलता है,—'मेरा'का परिमाण संकीर्ण न रहकर विस्तृत ही होता है। जितना वह 'मैं' विशद और विस्तीर्ण होता है, अहंकारके भूतका जोर उसपरसे उतना ही उतरता जाता है।

'मैं' और 'मेरा' इन दोनोंको मिलाकर व्यक्ति अपना घर बनाता है। उस घरमें व्यक्ति अपना विसर्जन देता और शेष विश्वसे आहरण करता है।—दुनियामेंसे कमाता है, घरमें खर्च करता है; जगत्से लड़ता है, घरकी चौकसी करता है; संसारपर अपनी शक्तिका परीक्षण करता है, घरमें प्रेमका आदान-प्रदान। घर उसके लिए हाट नहीं है। इस 'घर'का ही नाम विकास-क्रमसे परिवार, नगर, समाज, जाति, राष्ट्र आदि होता है।

इसलिए, अगर समस्याको आब्जेक्टिव विज्ञानकी राहसे नहीं सब्जेक्टिव कला और हृदयकी राहसे अवगत और आयत्त करना है, तो उसका यही तिखूँट रूप होगा—मैं, मेरा, मेरा नहीं।

अब यहाँ एक और भी तत्त्व है जिसे मैं अपना मानता हूँ;

अर्थात्, मेरी संपत्ति, मेरी चीज़ आदि,—वह भी अपने आपमें अहं-शून्य नहीं है। उसमें भी सब्जेक्टिविटी है। फिर भी, जो अंश मेरा बन चुका है उसकी सब्जेक्टिविटी कुछ अनुगत हो गई हुई है। इसीसे, समस्याके चित्रणमें मानव-सम्बन्धोंकी अपेक्षा 'मेरा'का प्रतीक बन जाती है पत्नी। पत्नी घरका केंद्र है। वह 'मेरी' है पर स्वयं भी है, अनुगत है पर जड़ पदार्थ नहीं है,—सहृदय है और उसमें भी व्यक्तित्व है।

इन स्वामी और पत्नीके साथ ही, किसी कदर उनके बीचमें, आता है तीसरा व्यक्ति जो 'पर'का प्रतीक है। वह भी एकदम अपरिचित नहीं है (अपरिचित कैसे हो सकता है भला?) प्रत्युत स्पृहणीय है, और वह स्वाधीनतापूर्वक प्रबल है।

कवि रवीन्द्रने 'घर'में 'बाहर'का प्रवेश कराया। 'घर' इससे विक्षुब्ध हो उठा है। वहाँ 'बाहर' संदीपके रूपमें अनिमंत्रित है पर प्रबल है। 'घर'की विक्षुब्धता गहन होती जाती है; मानो, 'बाहर'के धक्केसे घर टूट जायगा। 'बाहर'का धक्का दुर्निवार है, सर्वग्रासी है। समस्या घोरतरसे घोरतम होती जाती है। तब क्या होता है?—तब कुछ होता है जिससे समस्या बन्द हो जाती है। संदीप पलायन कर जाता है। पत्नी मुड़कर पतिके प्रति क्षमाप्रार्थिनी बनती है और फिर पत्नीत्वमें अधिष्ठित होती है। एवं, मानो तय होता है कि, 'घर'को 'बाहर'के प्रति निरभिलाषी विमुख होकर ही बैठना होगा।

'कवि'की लेखनीकी समता ही क्या! वह अतुलनीय ही है। पर मेरे मनको समाधान नहीं मिला। 'घर' अपने आपमें अपनेको 'बाहर'के प्रति दुष्प्राप्य और प्रतिकूल बनाकर बैठे और उस

'बाहर'को सर्वथा बहिष्कृत और विरुद्ध बनाये रक्खे,—क्या यह समाधान है ? क्या यह सिद्धि है ? यहाँ अभेद कहाँ है, यहाँ तो भय है। प्रेम कहाँ है, यहाँ तो अप्रेम भी है।—ऐसा हो तब तो समस्या ही क्या हुई ! ऐसा कुछ समाधान क्या चिर-प्राप्त अहंसिद्ध कंज़र्वेटिव समाज-नीतिमेंसे भी नहीं प्राप्त हो सकता ?

सो, मनके इस तरहके असंतोषका भी 'सुनीता'के जन्ममें प्रभाव है। मैंने 'सुनीता'में अपनी बुद्धिके अनुसार दुस्साहसपूर्वक भी समस्याको ठेलकर आगे बढ़ाया है। मैंने इसमें अपनेको बचाया नहीं है और वहाँ तक मैं उसके साथ चला हूँ जहाँ तक समस्याने चलना चाहा है।

क्या 'सुनीता'का 'घर' टूटा है ? नहीं, वह नहीं टूटा। क्या उस 'घर'को 'बाहर'के प्रति बंद किया गया है ? नहीं, ऐसा भी नहीं। दोनोंमेंसे कौन किसके प्रति सहानुभूतिसे हीन है ? शायद कोई भी नहीं।

दोनों शाश्वत रूपमें क्या परस्परापेक्षाशील नहीं हैं ?

मैंने, चुनाँचे, समस्याके रूपमें भी कुछ भिन्नता देखी और रखी है 'बाहर'को निरे आक्रमणके रूपमें मैंने 'घर'के भीतर नहीं प्रविष्ट किया। हरिप्रसन्न (पुस्तकमें वही 'बाहर'का प्रतीक पुरुष है) किंचित् प्रार्थी भी है। वह निरा अनिमंत्रित वहाँ नहीं पहुँचा, प्रत्युत् वहाँ मानो उसकी अभीष्टता है। उसके अभावमें 'घर' एक प्रकारसे प्रतीक्षमान् है। वहाँ अपूर्णता है, वहाँ अवसाद है,—मानो उस 'घर'में 'बाहर'के प्रति पुकार है। इधर हरिप्रसन्न स्वयं अपने आपमें अधूरेपनके बोधसे मुक्त नहीं है; और वह जैसे

एक प्रकारके उत्तरमें और एक नियतिके निर्देशसे ही एक रोज अनायास 'घर'के बीचमें आ पहुँचा है। पहुँच कर वह वहाँ स्वत्वारोपी लगभग है ही नहीं। अपनेसे विवश होकर ही जो है सो है।

कवीन्द्रका 'घर' भिन्न है और 'बाहर' भी भिन्न है। वह 'घर' आत्म-तुष्ट-सा है, मानो 'बाहर' उसके निकट अभी अनाविष्कृत है। 'बाहर'का आगमन वहाँ एक रोज अप्रत्याशित अयाचित घटनाके रूपमें होता है। वह संदीप मित्र है; पर, यह मित्रत्व उसके व्यक्तित्वका अप्रधान पहलू है। मानो मित्र होना उसे मात्र सह्य है। वह आग्रहशील है, अधिकारशील है,—मानो सहानुभूतिशील है ही नहीं। घरकी रानीका संदीपकी ओर खिंचना स्पष्ट गिरना है। जैसे संदीप अहेरिया है, जाल फैलाता है, और मक्खी फँसनेको ही उस ओर खिंच रही है। संदीप इस तरह कुछ अति-मानव,—अप-मानव हो उठता है।

तदनुकूल भिन्नता सुनीता और कविकी मधुरानीमें भी है। मधुरानी बीचमें मानो स्खलन-मार्गपर चलकर अन्तमें प्रायश्चित्तपूर्वक पति-निष्ठामें पुनः प्रतिष्ठित होती है। संदीपका गर्व खर्व होता है और मधुरानीकी मोह-निद्रा भंग होती है। संदीपके लिए पलायन ही मार्ग है; क्योंकि, मधुरानी अब पति-परायणा है।

सुनीताको पतिपरायणता इतनी दुष्प्राप्य किसी स्थलपर नहीं हुई है कि प्रायश्चित्तका सहारा उसे दरकार हो। पतिमें उसकी निष्ठा उसे हरिप्रसन्नके प्रति और भी स्नेहशील और उद्यत होनेका बल देती है। आरम्भसे उसकी आँख खुली है और अन्त तक जो उसने किया और उससे हुआ है, उसमें वह मोह-मुग्ध नहीं है। आरम्भसे वह जागरूक है और कहीं गृहिणी-धर्मसे च्युत नहीं है। उस 'घर' में

अन्त तक इतना स्वास्थ्य है कि हरिप्रसन्नको हठात् स्मृतिसे दूर रखना उसके लिए जरूरी नहीं है। प्रत्युत, हरिप्रसन्नके प्रति सदा वह 'घर' अपना ऋण मानेगा और उसकी याद रक्खेगा।

असलमें 'घर' और 'बाहर'में परस्पर सम्मुखता ही मैं देखता हूँ। उनमें कोई सिद्धान्तगत पारस्परिक विरोध देखकर नहीं चल पाता।

रवीन्द्र कवि हैं। अपनी भाव-प्रवणतामें मानवको उसके मानवीय कॉन्टेक्स्टसे उठाकर उसे अतिमानुषिक बना देनेकी उनमें क्षमता है। यह उनकी शैलीकी विशेषता है। यह उनकी दक्षता उपन्यास-पाठकके बूतेसे बड़ी चीज़ भी हो सकती है। नित्य नैमित्तिक जीवनके दैनिक व्यापारकी संकीर्णतासे कविके उपन्यासका पात्र सहज उत्तीर्ण है। दुनियाके धरातलसे उठकर कविके हाथों वह दार्शनिक भावनाओंके धरातलपर जा उठता है। वहाँ उसके लिए विचरण अधिक बाधाहीन और उसकी संभावनाएँ अधिक मनोरम बनती हैं।

पर, हर किसीको वह सामर्थ्य कब प्राप्त है? उपन्यासकारको तो कदाचित् वह अभीप्सित भी नहीं। 'सुनीता'के पात्रोंके पैरोंको मैं इस धरतीके तलसे ऊँचा नहीं उठा सकता। न वहाँ मेरी क्षमता है, न कांक्षा है। फिर भी, मैं उनके मस्तकको धूलमें नहीं लोटने दूँगा,—वे आसमानमें देखेंगे। इस दृष्टिसे सुनीताके पात्रोंका बनना असाधारण भी हुआ है। फिर भी, उनके चित्रणमें साधारणताके सम्मिश्रणकी कमी नहीं है। इससे 'सुनीता' पुस्तक अतिशय भावनात्मक नहीं हो सकी,—उसके अवयवोंमें पर्याप्त मात्रामें स्थूल साधारणता है।

खैर, वह जो हो। याद रखनेकी बात यह है कि हमारा ज्ञान आपेक्षिक है। वह अपूर्ण है। जगत्की विचित्रता उसमें कहाँ

आती है? अपनेको मानव कब पूरा जान सका है? जाननेको शेष तो रह ही जायगा। इसलिए, सदा वह घटित होता रहता है जो हमारे ज्ञानको चौंका देता है। Truth is Stranger than Fiction के, नहीं तो, और माने क्या हैं? Truth को क्या यह कहकर बहिष्कृत करें कि वह ज्ञात नहीं है? तब फिर बढ़नेके लिए आस क्या रक्खें? जीवनकी टेक किसे बनावें?

आलोचकके समक्ष मैं नत-मस्तक हूँ। साविनय कहता हूँ कि 'जी हाँ, मैं त्रुटिपूर्ण हूँ। आपको संतोष नहीं दे सका इसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ। शायद, मैं आपकी चिन्ताके योग्य नहीं हूँ। पर जब आप जज हैं, तब अभियुक्त बने ही तो मुझे गुजारा है। क्या हम दोनों बराबर आकर मिल नहीं सकते? मान लीजिए कि आप जज नहीं हैं, और भूल जाते हैं कि मैं अभियोगी हूँ, तब उस भाँति क्या आदमी आदमीकी हैसियतसे हम एक-दूसरेको ज़्यादा नहीं पायेंगे? मैं जानता हूँ, जजकी कुर्सीपर बैठकर अभियुक्तको कठघरेमें खड़ा करके उसके अभियोगकी छान-बीनका काम करनेमें आपके चित्तको भी पूरा सुख नहीं है। तब क्या चित्तका चैन ऐसी चीज नहीं है कि उसके लिए आप अपनी ऊँची कुरसी छोड़ दें? आप उस कुर्सीपर मुझसे इतने दूर, इतने ऊँचे, हो जाते हैं कि मैं संकुचित होता हूँ। आप जरा नीचे आकर हाथ पकड़कर मुझे ऊपर तो उठावें, और फिर चाहे भले ही कसकर दो-चार झिड़कियाँ ही मुझे सुनावें। क्योंकि, तभी मेरे मनका संकोच दूर होकर मुझे हर्ष होगा। और तब, आप पायेंगे कि और कुछ भी हो, मैं आपका अनन्य ऋणी बना हूँ।'

जीवन और साहित्य

भाइयो,

आपके सामने मैं साहित्यके कानूनोंको नहीं गिनाना चाहता। वहुत-सी कितावें यह काम करती हैं, लेकिन, कानूनोंके आसरे चलकर आप साहित्यकी असली चीज़को नहीं पा सकते। इसलिए, सबसे पहले मैं कहना चाहता हूँ कि आप मेरे विचारोंको मेरे विचार ही समझें,—किसी तरहकी प्रामाणिकता उन्हें न दें। वैसे, कितावकी बातें भी तभी सच होती हैं जब कि उनके पीछे आपकी अनुभूति भी हो, आपका दिल गवाही दे।

ताक़त बदलती रहती है। आज जो बड़ा है वह पचास वर्षकी दूरीपर क्षुद्र हो जाता है। आज ईसा वड़ी शक्ति है, लेकिन, अपने जमानेमें उसकी मान्यता नहीं थी, यहाँ तक कि दुनियाको लाचार होना पड़ा था कि उसे सूली दे दे। उस समयके पैमानेने हमें यह भी बताया कि वह नाचीज़ है, लेकिन, आजके पैमानेसे हम देखते हैं कि हम उसे पूजा ही दे सकते हैं। सत्य आन्तिम नहीं है। हम उसपर आपत्ति (=question) करते हैं,—जब हमें दीखता है कि हम इतने बड़े संसारमें छोटे-से हैं तब सोचते हैं कि हम मर क्यों न गये? लेकिन, हमारा छोटापन ही हमें ज़िन्दा रखता है,—हमारी इच्छाएँ और हमारा ज्ञान भी बन्धन है पर वह हमें जीता रखता है। हमें ज्ञानमें हमेशा यह ध्यान रखना चाहिए कि हम अज्ञानी हैं।

बाहिरी ऊँच-नीचको देखकर हम दंभ करने लगें या अपनेको

छोटा अनुभव करें, तो यह गलत चीज़ है। हमें सीमाओंसे ऊपर उठना है। विभाजन एक तरहसे ज़रूरी है,—हमारी लाचारी है, लेकिन, अगर हम उसमें एकताको भूल जाते हैं तो वह एक क़ैद हो जाती है।

हमारी असमर्थताएँ और सीमाएँ हमें बाध्य करती हैं कि हम समाजमें दर्ज़ोंको,—श्रेणियोंको देखें,—उनका अनुभव करें। इतना तो हम सीख गये हैं कि समय मात्र बड़ा-छोटा नहीं बनता, पर, जो अँग्रेजी पढ़-लिख सकता है वह बड़ा माना जाता है और स्वयं भी अपनेको बड़ा मानता है; क्योंकि, वह कहता है कि मैं पैसेके ज़ोरसे नहीं, अक़्लके ज़ोरसे ही, बड़ा बना हूँ। यह भी दम्भ ही है। हमें एक-दूसरेको विशिष्टता देकर भी बराबर ही रहना है और हम रह सकते हैं।

आप कह सकते हैं कि यह सपना है,—हमारी वास्तविक दुनियामें ऐसा नहीं है। यह ठीक है कि ऐसा मानना भी दम्भ हो सकता है। मैं आपसे नहीं कहता कि आप वास्तविक जीवनमें ऐसा समझिए। यहींपर साहित्यका काम आता है। हमारे जीवनके पैमाने साहित्यमें काम नहीं करते। एक गरीब हमारे पाससे निकल जाता है, उसे देखकर हम नहीं पिघलते, लेकिन, साहित्य हमें उसपर रुला सकता है। इससे भी आगे, वह हममें इस समस्याकी जड़ खोदनेकी इच्छा भी पैदा करा सकता है। इस प्रकार, हमारे मौलिक असाम्य (=Unbalance) को वह दूर करनेकी प्रेरणा देता है। साहित्यमें हमारे विद्वेष और दम्भ दूर होते हैं। साहित्य वह चीज़ है जो हमें इस फ़र्क़के नीचे एकता देखनेको बाध्य करती है और हमें शांति दिलाती है,—वह उस गहरी भीतरी सचाईको दिखाती है जो बाहरी सचाईके नीचे है।

दूसरी बात जिसपर कि साहित्यका असर है,—वह है हमारा घर। घर क्या है? पहले घर होते थे तो उसका मतलब होता था कि लोग अपनेको घेर लेते थे। आजकल बंगले हैं जो खुले रहते हैं। कहा जा सकता है, कि उस दिनके लोग आजसे अधिक मजबूत थे, लेकिन, वह बंद रहनेकी वजहसे नहीं था। वह इसलिए था कि उन्हें अधिकसे अधिक खुले मैदानमें और संघर्षके जीवनमें रहना पड़ता था। कमसे कम, घरमें दरवाज़ा जरूर चाहिए। नहीं तो, उसमें रहनेवाला दम घुटकर मर जाएगा। एक आदर्श यह भी हो सकता है,—जीवन ऐसा भी हो सकता है, कि हम घर ही क्यों बनाएँ?—हरएक छतके नीचे ही अपना घर हो। इस आदर्श जीवनकी बात आपसे नहीं कहूँगा। घर हमें चाहिए, लेकिन, द्वार उसके खुले रहें। वैसे घर हम चाहे कहीं बना सकते हैं,—हिन्दुत्वमें, इस्लाममें, हिन्दीमें, उर्दूमें,—घर हो पर द्वार खुला रहे। यही है साहित्यका दूसरा उद्देश्य या function।

कहानी लिखी गई, पढ़ी गई, मनोरञ्जन हो गया।—पर अनाज तो नहीं मिला! आप पूछें कि तब साहित्यकी बात क्यों करते हैं? पेट भरनेका,—रोज़गारीका कोई नुस्खा बताइए! बादमें आर्ट को भी देखेंगे। लेकिन, आपको एक बात महसूस होनी चाहिए। आपको खाना ज़रूरी हो गया है, तभी तो आपमें उसकी माँग है? जिस चीज़की चाह नहीं वह आप नहीं माँगते।—हवा आप नहीं माँगते। इसी तरह, कहा जा सकता है कि, हम साहित्यकी माँग नहीं करते, क्योंकि, हम उसकी कमीको अनुभव नहीं कर पाये। यदि आपमें साहित्यकी माँग नहीं तो यही कारण है कि आप असली गहरी

चीज़ोंसे आँख फेरे हुए हैं। यदि कोई आपको रोटी बनानेके लिए अनाज नहीं देता, कविता करता है, तो यह न समझिए कि वह बेवकूफ है। वह जानता है कि वह आपको पेटकी चीज़ नहीं दे रहा है और यह भी कि आप कृतज्ञ नहीं होंगे। लेकिन, यह मत समझिए कि वह ऐसा काम कर रहा है जिसकी आपको ज़रूरत नहीं है। आपकी हवाको जो स्वच्छ रखता है आप उसकी ओर ध्यान नहीं देते।—साहित्यिक आपके ख़यालकी दुनियाको साफ रखता है। दूरदर्शी पहले यह देखता है कि ख़यालकी दुनियामें क्या होता है। जो बात वास्तविक दुनियामें आती है वह पहिले हमेशा ख़यालकी,—आइडियाकी, दुनियामें हो चुकी होती है। क्रांति जहाँ भी हुई है पहिले मनमें हुई है। गाँधी हमारे संसारमें रहता है, फिर भी, वह पहिचानता है कि हमारे मनमें क्या दूषित है। इसीलिए, वह महात्मा है, न कि इसलिए कि वह हमसे भिन्न है या कमज़ोर है।

साहित्य हमारी सुख और तृप्तिकी भावनाओंसे ऊपर है। जिसमें तृप्तिकी माँग है, वह चीज़ साहित्य हमें नहीं दे सकता। वह हमें एक चटनी दे सकता है जो भोजनका ज़ायक़ा बढ़ा सकती है, लेकिन, वह अधिक सीधी, रूखी और मौलिक या Fundamental चीज़ है।

सत्य बड़ी भयङ्कर चीज़ है। हम जब समझते हैं कि हममें यह है, वह है, तब हम दम्भमें पड़ते हैं। फिर, सत्य ही उसे काटता भी है। यह बारीकी है। आपको तो यही देखना चाहिए कि लेखक आपमें कोई प्रतिध्वनि उठाता है? आपको निकट खींचता है?—यदि हाँ, तो वह साहित्य है। वह अपना सुख दूसरेको देता है, दूसरेका सुख माँगता है। जायदाद नहीं माँगता, दूसरेके

दुखहीको बँटाता है और निरंतर अपना दान देता रहता है। इसीमें उसकी सफलता है।

आज फिर ईसा पैदा हो सकता है और हम फिर उसे सूली दे सकते हैं, लेकिन, यह नहीं हो सकता कि उसका प्रेमका सन्देश कभी फलित न हो।

किसी ज़मानेमें मुझे डिक्शनरीसे प्रेम था, मैं चाहता था कि उसके द्वारा अपना शब्द-ज्ञान बढ़ा लूँ और दूसरोंपर रौब डालूँ। लेकिन, ऐसे मैंने एक शब्द भी नहीं सीखा, क्योंकि, मैंने डिक्शनरीका दुरुपयोग किया। उसका ठीक उपयोग यह है कि जब मुश्किल हुई तब हमने उसमें खोजा और उत्तर पाया। पुस्तकोंके बारेमें भी ऐसा ही समझिए। हमें रहना है दुनियामें, किताबोंमें नहीं। किताबोंमें,—पुस्तकालयोंमें, कोई ज्ञान नहीं है। उनसे तभी लाभ है जब कि हममें माँग हो,—तड़प हो कि हम पाएँ। पुस्तकसे आपका सम्बन्ध हो सकता है तो जीवनके द्वारा ही। जिल्दसाज़ किताबको जानता है उसके जुज़से, विक्रेता जानता है उसकी कीमतसे, लेकिन आपको गहरे जीवनके ही ज़रियेसे उसे जानना चाहिए; क्योंकि, इसी जिज्ञासाके उत्तरमें साहित्य उत्पन्न होता है।

प्रश्नोत्तर

प्रश्न—साहित्यका जीवनसे क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर—जीवनकी अभिव्यक्तिका एक रूप साहित्य है। कहा जा सकता है कि व्यक्ति-जीवनकी सत्योन्मुख स्फूर्ति जब भाषाद्वारा मूर्त्त और दूसरेको प्राप्त होने योग्य बनती है, तब वही साहित्य होती है।

प्रश्न—क्या साहित्यके बिना जीवन अपूर्ण है ?

उत्तर—कहना पड़ेगा कि अपूर्ण ही है। अपूर्ण न होता तो साहित्य जन्मता ही क्यों ? यह तो जातिकी और इतिहासकी अपेक्षासे समझिए। व्यक्तिकी अपेक्षासे आप पूछ सकते हैं कि स्वप्नके बिना क्या व्यक्ति नहीं जी सकता ? असल बात तो यह है, कि स्वप्नके साथ भी व्यक्ति अपूर्ण है। क्या स्वप्न किसी क्षण भी सम्पूर्णताका आकलन कर सकता है ? पर वह सम्पूर्णताकी ओर उड़ता तो है, उसे छूता तो है; फिर भी, स्वप्नके योगके साथ भी व्यक्ति क्या अपूर्ण नहीं है ? स्वप्नके बिना तो है ही। तब, आप उत्तर यही समझें कि साहित्यके साथ भी जीवन सम्पूर्ण नहीं है। इतना अवश्य है कि साहित्यके बिना तो वह और भी अपूर्ण है। अपूर्णताका आधार लेकर जो सम्पूर्णताकी चाह प्राणीमें उठती है, वही साहित्यकी आत्मा है।

प्रश्न—रोटी मुख्य है या साहित्य ?

उत्तर—यह सवाल तो ऐसा है जैसे यह पूछना कि जब आप पानी पीते हैं, तो हवाकी आपके लिए क्या ज़रूरत है ? आदमी सिर्फ पेट ही नहीं है। और मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि पेट भी वह चीज़ नहीं है जिसे सिर्फ रोटीकी ही ज़रूरत

हो,—हृदय बिना पेटका भी काम नहीं चलता। जव आपने रोटीके मुक़ाबिलेमें साहित्य रक्खा है, तो मैं समझता हूँ आपका आशय किसी जिल्द बँधी पोथीसे नहीं है। आशय उस सूक्ष्म सौन्दर्य-भावनासे है जो साहित्यकी जननी है। मैं तो उस स्थितिकी भी कल्पना कर सकता हूँ जब रोटी छूट जायगी, साहित्य ही रह जायगा। जातीय आदर्श रोटी नहीं है,—रोटीमें नहीं है। रोटी तो जीनेकी शर्त मात्र है। रोटी ही क्यों, क्या और प्राकृतिक कर्म नहीं हैं जो जीवनके साथ लगे है? लेकिन, उनके निमित्त हम नहीं जीते और न उनके लिए हम मरते हैं। आदर्श रोटीमय नहीं है,—रोटी-सा पदार्थमय भी नहीं है। वह चाहे वायवीय ही हो, लेकिन, उस आदर्शके लिए हम मरते रहते हैं, —उसीमेंसे मरनेकी शक्ति पाते हैं। साहित्य उस आदर्शको पानेका, उसे मूर्त्त करनेका, प्रयास है। रोटीके बिना हम कई दिन रह लेंगे, हवाके विना तो कुछ क्षणोंमें ही हमारा काम तमाम हो जायगा,— साहित्य उस हवासे सूक्ष्म, किन्तु, उससे भी अधिक अनिवार्य है। लेकिन, साहित्य और रोटीमें विरोध ही भला आपको कैसे सूझा? वैसा कोई विरोध तो नहीं है। यह ठीक है कि जो रोटीको तरसता है उसके फैले भूखे हाथोंपर साहित्यकी किताव रखना विडम्बना है। लेकिन, यह भी ठीक है कि भारतके भूखे कृषक-मजूर रामायणके पाठमेंसे रस लेते हैं। उनके उस रसपर प्रश्न करना, उसे छीन लेना, भी क्या निरा असम्भव नहीं है? अन्तमें, मैं कहूँगा कि आपके प्रश्नमें संगति नहीं है। साहित्य आदमीसे सर्वथा अलग करके रखी जानेवाली चीज़ नहीं है। रोटीका अस्तित्व मनुष्यसे अलग है, साहित्यका वैसा अलग है ही नहीं।

हिन्दी और हिन्दुस्तान*

भाइयो,

आपने इस संघके वार्षिकोत्सवपर इतनी दूरसे मुझे बुलाया, इसमें मेरे संबंधमें कुछ आपकी भूल मालूम होती है। आ तो मैं गया, क्योंकि, इनकार करनेकी हिम्मत मुझे नहीं हुई। लेकिन, अब तक मुझको आश्वासन नहीं है कि आपने मुझे बुलाकर और मैंने आकर सत्कर्म किया है।

लेकिन, जो हुआ हो गया। अब तो हम सबको उसका फल-भोग ही करना है। और इस सिलसिलेमें आपके समक्ष पहले ही यह कहना मेरी किस्मतमें बदा है कि मैं साहित्यका ज्ञाता नहीं हूँ; साहित्यमें विधिवत् दीक्षित भी नहीं हूँ।

लेकिन, साहित्य-सम्बन्धी उत्साहके बारेमें भी मेरा अनुभव है कि किन्हीं लौकिक हेतुओंपर टिककर वह अधिक प्रबल नहीं होता। लाभ और फलकी आशा मूलमें लेकर कुछ काल बाद वह उत्साह मुर्झाने भी लगता है। स्थूल लाभ वहाँ नहीं है। इसलिए, साहित्य-संबंधी उत्साहको अपने बलपर ही जीवित रहना सीखना है। अँधेरेसे घिरकर भी बत्ती जैसे अपनी लौमें जलती रहती है और जलकर उस अंधकारके हृदयको प्रकाशित करती है, उसी भाँति, उस उत्साहको अपने आपमें जलते रहकर स्व-परको प्रकाशित करना है। साहित्यका यही विलक्षण सौभाग्य है,—दुर्भाग्य इसे नहीं मानना चाहिए। अमान्यताके बीचमें वह पलता और जीता है, फिर भी,

---

* सुहृद्-संघके (मुजफ्फरपुर) वार्षिकोत्सवपर दिया गया भाषण।

चूँकि श्रद्धा-स्नेहका बल उसे थामे है, वह हारता नहीं, गिरता नहीं, —अपनी यात्रापर बढ़ता ही जाता है। इससे देखनेमें आता है कि आज विपुल अंधकारसे घिरकर भी उससे लड़ते रहनेवाला साहित्य कलके नन्हेंसे उजालेको भी जन्म देता है। आजका साहित्य कलकी राजनीति बनता है; क्योंकि, भावना है साहित्य तो घटना है राजनीति। प्रत्येक घटनाके हृदयमें भावना है। घटना भावनाका प्रकट फल है और वह हमको चमत्कृत करती है। पर, घटनाका मूल तो भावनामें है, जो अदृश्य है इसीसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

इसलिए, इस ओर जिसने कदम उठाया है उसको मान लेना चाहिए कि उसके एवजमें किसी ऐहिक फलकी कामना और प्रत्याशा उसको नहीं हो सकती,—दावा कुछ नहीं हो सकता। प्रेमकी राह उसकी राह है और प्रेमकी राह दूभर है। प्रेम मूक सेवामें सफल होता है। प्रेम यदि गहरा है तो मुखर नहीं है। वहाँ आवेश इसीलिए नहीं हो सकता कि वहाँ भावनाकी इतनी न्यूनता ही नहीं है।

यह मैं इसलिए कहता हूँ कि व्यक्तिके कुछ लौकिक कर्तव्य भी होते हैं।—व्यक्ति निरा आदर्श-पुंज ही नहीं है। ऐसा हो, तो आदर्शका कुछ मूल्य ही न रहे। व्यक्ति सामाजिक प्राणी है। समाजसे बाहर उसे साँस लेनेमें भी कठिनाई होती है। एक तलपर पहुँचकर सामाजिक कर्म राजनीतिक स्वरूप इख्तियार कर लेते हैं। मानव-कर्ममें राजनीतिका भी समावेश है। राजनीतिमें युद्ध और विग्रह भी आता है।—आता क्या, वहाँ विग्रह प्रधान बनता है। वह उपादेय भी है,—राजनीति किसी भाँति वर्जनीय नहीं है। उस

राजनीतिमें अनिवार्य्यतया दल बनते हैं। उन दलोंमें परस्पर रगड़ होती है और जोश पैदा होता है। उस जोशसे ज़िंदगीका बहुत काम निकलता है और वह आवश्यक भी मालूम होता है।

लेकिन, उन सब लौकिक कर्मोंकी भीड़में, विग्रह-घमासान और जय-पराजयके बीच, क्या हमको शांतिकी स्थापना और उसकी साधना ही नहीं करनी है? युद्ध यदि क्षम्य है, और क्षम्यके बाद जायज है, तो तभी कि जब वह शांतिकी चाहमें किया जाता और उसे निकट लाता है। इस लिहाज़से युद्धके बीचमें भी शांतिपर ज़ोर देना अप्रासंगिक नहीं है। बल्कि, शुद्ध प्रासंगिक वह तभी है। मानसिक शांति धारण करनेसे सच्चा युद्ध करनेकी व्यक्तिकी क्षमता कुछ बढ़ ही जाती है। अतः, अपने लौकिक कर्तव्योंका समर्थन हमें अधिक व्यापक, अथच मानव-कर्त्तव्यकी धारणामेंसे पाना होगा,—राजनीतिका समर्थन सर्व-सामान्य मानव-नीतिमेंसे पाना होगा। वह कर्म बंधन-कारक है जिसमें हित-भावना नहीं है, और जिसमें सर्व-हित-भावना है उसीको कहना चाहिए साहित्य। जब और जहाँ प्रवृत्ति उस दिशाकी ओर न चले,—सर्वहितात्मकतासे उलटी चले, वहाँ मानवका भ्रम मानना चाहिए। शक्तिके अथवा किसी और मोहमें ऐसा होता देखा जाता है।—स्व-पर-हितका ध्यान भूल जाता है और कर्ममें आसक्ति-भाव आ जाता है। ऐसे स्थलपर उस अविवेकका आतंक कभी स्वीकार नहीं करना चाहिए; क्योंकि, वैसा करनेमें आतंककारीका अहित है।

ये बातें कहते समय मेरा ध्यान अपने हिंदुस्तानकी हालत और हिन्दी-साहित्यकी हालतपर जाता है। भारत-राष्ट्रकी स्थिति आज

आदर्श नहीं है। वह पराधीन है, दीन है, हीन है। फिर भी, आत्मा उसकी जर्जर नहीं हो गई है,—उसमें पराक्रमका बीज है। पिछले कुछ वर्ष इस सत्यको भले प्रकार प्रमाणित कर देते हैं। वह जाग गया है और अब समर्थ होकर ही दम लेगा। पर, हिंदुस्थानकी कठिनाइयाँ उसकी अपनी हैं। कौन जानता है कि उन कठिनाइयोंके हल करनेमें भारतके भविष्यकी उज्ज्वलताका भेद भी नहीं छिपा है। आज भारत पराधीन है, लेकिन, उसका भविष्य उतना ही उज्ज्वल क्यों नहीं हो सकता जितना पिछली रातकी अँधेरीके बादका प्रभात उज्ज्वल होता है। मेरा उस भविष्यमें और भारतकी क्षमतामें विश्वास है। मैं उस संस्कृतिको मरा हुआ नहीं मानता जिसने भारतके महिमामय अतीतको संभव बनाया और जिसने उसे अब तक क़ायम रक्खा है। नहीं तो मिस्र, यूनान, रोम आदिकी प्राचीन सभ्यताएँ आज कहाँ हैं? मुझे जान पड़ता है कि उस भारतीय संस्कृति-तत्त्वके व्यापक परीक्षणका यह समय आया है और मुमकिन है दुनियाको उससे लाभ हो।

परस्थितिकी विषमता भी स्पष्ट है।—उसपर आँख मींचना नहीं है। भारत आज बँटा है। अनेक स्वार्थ हैं और वे अपने अपने दायरोंमें घिरे और चिपटे हैं। भेद-विभेद इतने और ऐसे हैं कि यहाँ छूत-छातका प्रश्न सम्भव बनता है और लूट-मारकी नौबत आती है। जब तब सांप्रदायिक दंगोंकी ख़बरें सुन पड़ती हैं और हरिजन-प्रश्नसे भी कोई अनजान नहीं है। जान पड़ता है, जैसे शासन,—विशेषकर विदेशी शासन, स्थितिको सँभाले हुए भी है, नहीं तो, हिन्दुस्तान चौपट हो गया होता। दोमें फूट हो तो तीसरेका शासन सहज होता है। मानों,

हम मिले हैं,—मिले रह सकते हैं, तो तीसरेके संरक्षणके नीचे। यह हालत अस्वस्थ है, लज्जाजनक है और इससे हमें उबरना होगा।

स्थितिकी इस विषमताको मुख्यतासे मेरी समझमें दो बातें थामे हुए हैं—शासनशक्तिका आतंक और उस दृष्टिसे आत्मोद्योगका अभाव तथा अँग्रेज़ीका मोह और अपनोंके प्रति तिरस्कार।

इसमें पहली शिकायतको राजनीतिक जागरण और लोकसंग्रहात्मक कर्मोंद्वारा दूर करना होगा। दूसरे कामका ज़िम्मा मुख्यतः साहित्य-पर है; क्योंकि, वह व्यापक और सांस्कृतिक काम है। वह मिज़ाज़का रोग है और ज़रा सूक्ष्म है।

आज यदि सच्ची राष्ट्र-भाषा नहीं है या दुर्बल है, सच्चा राष्ट्रीय साहित्य यदि नहीं है या निर्बल है, और प्रान्त-प्रान्तके और सम्प्रदाय-सम्प्रदायके आपसी सम्बन्ध यदि आज निर्भीक और सद्भावनाशील नहीं हैं, तो विशेषकर इसलिए कि हम जिस माध्यमसे परस्पर मिलते रहे हैं, यानी अँग्रेज़ीसे, वह हमारे मनका माध्यम नहीं है। जो मनका नहीं वह सच्चा माध्यम भी नहीं। उससे ऐसा ही मेल हो सकता है कि प्रयोजनको लेकर ऊपर ऊपर हम मिले रहें, भीतर मन हमारे फटे रहें। अँग्रेज़ी भाषाका यह अवलम्बन हमारी एकताको खोखला और हमारे अनैक्यको ही हमारे निकट सह्य बनाता है। हमारे साहित्यकी न्यूनता और दीनताका मुख्य कारण यह है कि हमारे जीवनमें इस अँग्रेज़ीके कारण फाँक पड़ गई है, जीवन कट-फँट गया है, घर अलग और दफ्तर अलग हो गया है; गाँव एक ओर रह गया है, शहरी ज़िन्दगी और ही तरफ़ बढ़ रही है। गाँवमें और शहरमें, जन-सामान्यमें और समाज-मान्यमें

बिलगाव इतना बढ़ गया है कि बीचमें पूरी खाई दीख पड़ती है। ज्ञात होता है कि उन दोनोंमें रिश्ता है तो शोषणका, नहीं तो जैसे और कुछ उनमें आपसमें वास्ता ही नहीं है। भद्र-वर्ग अँग्रेज़ी पढ़ता-लिखता है और मानता है कि देहाती देहाती है,—संसर्ग-सम्पर्कके बिल्कुल योग्य नहीं है। वह यह नहीं जानता कि गाँववालेकी भाषासे अपनेको तोड़कर और विशिष्ट समझे जानेवाले अधिकारप्राप्त वर्गसे अपना नाता जोड़कर शेक्सपियरकी भाषाके सहारे वह सच्चे अर्थोंमें अपनेको मज़बूत और ज्ञानी नहीं, बल्कि, कमज़ोर और घमण्डी बनाता है। उधर, इस तरह, गाँवका आदमी संस्कृति-विहीन दीन-हीन रह जाता है,—यह तो स्पष्ट है ही।

मुझे जान पड़ता है कि अपनी,—देश या साहित्यकी, भलाईकी बात करते समय पहली आवश्यकता यह है कि हम मनकी भाषा अपनाएँ, अँग्रेज़ीकी परावलंबिता तज दें। अँग्रेजी पढ़ें-लिखें सही, क्योंकि, मुख्यतासे उसीके द्वारा भारत औरोंको स्वयं पा सकता और उन्हें अपना दान कर सकता है, पर, उसपर निर्भर न हो रहें। छोटे-बड़े सब देशवासी अपनी भाषामें अपनेको कहने-लिखने लगें तो साहित्य चहुँओर भरा-पूरा होनेसे कैसे रह सकता है?

और, देश जिस भाषाको लेकर एक हो सकता है, जो भाषा राष्ट्र-भाषा हो सकती है, वह हिन्दी है। इस प्रकार भारतके भावी-निर्माणमें योग देनेकी सबसे भारी ज़िम्मेदारी हिन्दीपर आ जाती है। और हिन्दी, अंग्रेज़ीके समान, हिन्दुस्तानके लिए केवल राज-काजोपयोगी ही भाषा नहीं है,—वह तो समूचे राष्ट्रकी ऐक्य-भाषा बने, ऐसी भी संभावना है।

तब, हिन्दीके साहित्य और साहित्यकारोंपर भारी दायित्व आता है। निस्संदेह, इस क़ीमती बोझके आ पड़नेका कारण हिन्दीके साहित्यकारोंके कंधोंकी मज़बूती और चौड़ाई नहीं है, बल्कि, इस भाषाकी साधारणता है। यह भाषा भारतके भारी भू-भागमें अब भी सुगम है और भारतीय जनताके सबसे निकट है। यह अभी एकदम अंतिम रूपमें बन चुकी हुई भाषा नहीं है,—उग रही है, बढ़ रही है, और स्वरूप स्वीकार कर रही है। इसके राष्ट्र-भाषा बननेके अधिकांश कारण यही हैं। लेकिन, अब इस राष्ट्रकी भाषासे उत्तरोत्तर श्रेष्ठता भी क्यों नहीं माँगी जायगी ?

अब इसके स्वरूपके संबंधमें विवाद भी चले हैं। 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी' चीज़ क्या है ? 'हिन्दुस्तानी' कहकर हम उर्दूके आधिपत्यको तो जाने-अनजाने निमंत्रित नहीं करते हैं ?—कमसे कम उर्दूके मेलके ख़ातिर हिन्दीको गर्दन पकड़कर इस भाँति उसके सामने झुकाया तो अवश्य जाता है। और वह उर्दू डेढ़-दो प्रान्तोंको छोड़कर और है कहाँ कि जिसके लिहाज़में 'हिन्दी'के आगे यह 'हिन्दुस्तानी' पद हठात् बैठाया जाता है ? हिन्दीकी एक निश्चित धारा है, निश्चित संस्कार हैं। इसी प्रकार, उर्दूका एक अपना रुख़ है और अपनी तरतीब है। ज़बरदस्ती दोनोंके मेल करानेका नतीजा दोनोंकी अपनी खूबियोंसे हाथ धोना होगा और, इस तरह जो चीज़ बनेगी, वह भाषा तो होगी नहीं, विडम्बना होगी।

ऐसे विचार और ऐसी शंकाएँ प्रकट की गई हैं। उनपर प्रति-शंकाएँ भी उठी हैं और उत्तर-प्रत्युत्तर भी हैं। भाषाके जानकार पंडितोंको बेशक इस सम्बन्धमें सचेत रहना योग्य है। वे अधिकारी

व्यक्ति हैं। पर, जिस अर्थमें मैं साहित्यको समझता हूँ उस अर्थमें, स्वयं अपनी खातिर, इस प्रश्नमें साहित्यकारको विशेष महत्त्व और रस नहीं मिलेगा। भाषा उसके लिए शास्त्रगत तत्त्व नहीं है, कुछ उससे अधिक आत्मीय है, अधिक सजीव है। वह एक माध्यम है जिसके साथ उसका अतिशय पवित्रता और सस्नेह सावधानतका सम्बन्ध है,—आग्रहका सम्बन्ध नहीं है। भाषाका सहारा लेकर वह अपने भीतरके अमूर्तको मूर्त करता है। इस भाँति, जो भी भाषा प्रस्तुत है, साहित्यकार उसीके प्रति कृतज्ञ है। साहित्यकार भाषाके द्वारपर भिखारी है।—जो वहाँसे पा जाय उसीको लेकर वह अप्रस्तुतका आह्वान करता है और इस पद्धतिसे अनायास ही वह उस भाषाको भावनोत्कर्षका लाभ भी देता है।

इस दृष्टिसे राष्ट्र-भाषाके स्वरूपके बारेमें मैं एक ही बात जानता और कह सकता हूँ। वह बात यह कि जो भाषा जितने अधिक राष्ट्रके भागके साथ हमें स्पर्शमें ले आती है वह उतनी ही अधिक राष्ट्रभाषा है, जितने घनिष्ठ और आत्मीय स्पर्शमें लाती है उतनी ही उत्कृष्ट (=राष्ट्र) भाषा है। किन्तु, इस भारतवर्षमें न जाने कितनी भाषाएँ, कितनी जातियाँ, और कितने वर्ग हैं! उनके अपने स्वार्थ हैं, अपने आग्रह और अपने अहंकार हैं।—सबको अपने संस्कार रुचिकर हैं। लेकिन, राष्ट्रभाषा किसीका तिरस्कार नहीं कर सकती। जो राष्ट्रके लिए ऐक्य-विरोधी है, उसीका विरोध राष्ट्र-भाषामें हो सकता है, अन्यथा उसकी गोद सबके लिए खुली है। उस राष्ट्र-भाषाके साहित्य-निर्माणमें सबको योग-दान करनेका अधिकार क्यों न हो? उसके बनाव-सँवारमें भी प्रेम-परामर्श क्योंकर तिरस्कृत किया

जाय ? इसमें हिन्दीके वर्तमान रूपपर,—आजकी बनावटपर, निस्सन्देह बहुत दबाव पड़ेगा। लेकिन, जिसको बड़ा बनाया जाता है उसको उतना ही अपना अहंकार छोड़कर सबका आभार स्वीकार करना होता है। इसी तरह, जब हिन्दीके कन्धोंपर भारी दायित्व आ गया है, तब उस हिन्दीको अपना जीवन सर्व-सुलभ, विशद और निराग्रही बनानेमें आपत्ति नहीं करनी होगी। उसे अपने योग्य ऊँचाई तक उठना होगा। और, जो हिन्दीका साहित्यकार इस विषयमें जाग्रत् न होकर आग्रही होगा, मुझे भय है कि वह राष्ट्र-भाषा हिन्दीसे की जानेवाली प्रत्याशाएँ पूरी न कर सकेगा।

अब दिन दिन हमारे जीवनका और अनुभूतियोंका दायरा बढ़ता जाता है। हमारी चेतना घिरी नहीं रहना चाहती। हम रहते हैं तो अपने नगरमें, पर जिले और प्रान्तके प्रति भी आत्मीयता अनुभव करते हैं। इसके आगे हमारा देश भी हमारे लिए हमारा है। उसके भी आगे अगर हम सच्चे हैं और जगे हुए हैं, तो इतनेमें भी हमारी तृप्ति नहीं है। हम समूची मानवताको, निखिल ब्रह्मांडको, अपना पाना चाहते हैं। 'हम सबके हों', 'सब हमारे हों'— यह आकांक्षा गहरीसे गहरी हमारे मानसमें बिंधी हुई है। यह आकांक्षा अपनी मुक्ति-लाभ करनेकी ओर बढ़ेगी ही। उस सिद्धिकी ओर बढ़ते चलना ही सच्ची यात्रा और सच्ची प्रगति है।

अब निरन्तर होती हुई प्रगतिके बीच बिलकुल भी गुंजाइश नहीं है कि हम अपनेको समस्तसे काटकर अलहदा कर लें। वैसी पृथक्ता भ्रम है, झूठ है। और जहाँ उस पार्थक्यकी भावनाका सेवन है, जहाँ पार्थक्य सहा नहीं वरन् आसक्ति-पूर्वक अपनाया जाता

है, वहाँ जीवन निस्तेज और जड़ हो चलता है। यही प्रतिगामिता है, क्योंकि, इसके सिरोंपर केवल अहंकार है और मौत है।

इसलिए, हिन्दीको भी बंद रहने और बंद रखनेमें विश्वास नहीं करना होगा। बंद तो वह है ही नहीं,—बंद इस जगतमें कुछ भी नहीं है। सब-कुछ सबके प्रति खुला है। और साहित्य वह वस्तु है जो सब ओर ग्रहणशील है। वह सूक्ष्म चिन्ता-धाराओंके प्रति भी जागरूक है, हलका-सा स्पर्श भी उसे छूता और उसपर छाप छोड़ता है। ऐसी अवस्थामें, हिन्दीके साहित्यको विश्वकी साहित्य-धाराओंसे अलग समझना भूल होगी। आदान-प्रदान, घात-संघात, चलता ही रहा है। हम जानें या न जानें, वह संवर्ष न कभी रुका न रुक सकता है। आज, जब कि बातचीत और आने-जानेके साधन विद्युद्गामी हो गये हैं, उस संघर्षको काफ़ी स्पष्टतामें चीन्हा जा सकता है। अतः, आज यदि हिन्दीके प्रस्तुत साहित्यको आँकना हो तो उसे इसी परस्परापेक्षामें रखकर देखना होगा। और इस प्रकारकी उस सम्यक्-समीक्षा और विद्वान् समीक्षकोंकी हिन्दीको आवश्यकता है।

आदमी आदमीके, देश देशके, द्वीप द्वीपके, क्षण क्षण पाससे और पास आता जा रहा है। निस्सन्देह, इस ऐक्यकी साधनामें मानवताको बड़े प्रयोग और परिश्रम भी करने पड़ रहे हैं। आदमी आदमीमें, देश देशमें, द्वीप द्वीपमें डाह और बैर भी दीखते हैं। महायुद्ध होकर चुका है; छुट-मुट युद्ध आँखों-आगे नित्य-प्रति हो रहे हैं और आसन्न भविष्यमें अगले महायुद्धकी घटाएँ छाई हैं। उस युद्धकी बिभीषिका अब भी मनुष्यके मानसपर दबाव डाल रही है।

पर, चाहे मार्ग विकट हो, मानवताको उसपरसे बढ़ते ही चलना है। मेरी अंतिम प्रतीति है कि जाने-अनजाने अपनी दुर्भावनाओं और दुर्वासनाओंकी मार्फ़त भी हम अंततः एक दूसरेके निकट ही आ रहे हैं। इससे हमें परीक्षणों और विफलतासे घबराना नहीं होगा और लक्ष्यपरसे आँख नहीं हटाना होगा।

जीवनकी आस्थाको और अपनी अंतस्थ लौको सँभाले रखकर व्यक्ति राहके ऊबड़-खाबड़को पार करता, दुःख-विषाद झेलता, जिये ही चलता है। कभी त्राससे घिर जाता है, कभी अश्रद्धासे भर आता है। तब, वह एकांतमें ऊपरके सूनेको देखता और दो-एक भरी साँस छोड़कर फिर अपने जीको कसकर चल पड़ता है। कभी कभी यह सब-कुछ बहुत भारी हो आता है। यहाँ तक कि मृत्यु उसे प्रिय और जीवन विष मालूम होता है। ऐसे समय, वह आत्म-घात भी कर बैठता है। लेकिन, जब तक बस है, वह जीवनको भाग्यकी धाराके साथ आगे खेये ही चलेगा। जीवनके अनेकानेक व्यापारोंके मंथनमेंसे जो कटुताका, कल्मषका, व्यथाका गरल उसके कंठमें भरता है, नानाविध उपायोंसे वह अपने भीतरकी, आस्थाके संयोगसे उसीको अमृत बना लेगा। उसे पियेगा, पिलायेगा, और चलता रहेगा।

इसी व्यथा-विसर्जनके यत्नमें उस मानवद्वारा कलाके नाना स्वरूपोंको जन्म मिलता है और साहित्यको जन्म मिलता है। मानवकी अन्तस्थ जीवन-प्रेरणा चुक भले जाय, पर चुप नहीं रह सकती; और वह, बिना चैन, बिना विराम, नये नये भावोंमें अभिव्यक्त होती है। उससे जीवन-यापनमें, जीवन-संवर्धनमें, बल मिलता है,—उससे एकसे दूसरेको रस मिलता है।

इस भाँति, जीवनमें सभी अनुभूतियाँ उपयोगी हैं। उन्हें जब हम अपनी आसक्तिमें संकीर्ण बनाते हैं तभी वह निषिद्ध बनती हैं। उन्हींको जब मुक्त करके विस्तीर्ण करते हैं, तब वे साहित्यकी निधि हो रहती हैं। इस दृष्टिसे, दुःख है कि सुख है जो है सब वरदान है और भाग्यके सम्पूर्ण दानके लिए हमें उसका कृतज्ञ होना चाहिए। इस भावसे देखनेपर साहित्यके निमित्त जीवन, अपने हलके या गहरे, तीखे या मीठे, सब रंगों और रसोंके साथ हमारी प्रीति और अभिनन्दनका भाजन बनता है।

पर, स्वीकृतिकी इतनी विशाल क्षमता सहसा व्यक्तिमें नहीं होती। उत्तरोत्तर ही उसकी ओर उठना होता है। इससे, व्यक्तिके साथ बराबर निषेध भी लगा है। वह सब-कुछ नहीं चाह सकता। कुछ है जो उसे नहीं चाहना होगा। कुछ उसके लिए निषिद्ध रहेगा, अतः कुछ और विधेय। इस द्वित्वके उल्लंघनको वह अपने दर्पमें शक्य बनाना चाहेगा तो सिवा व्यर्थताके उसे और कुछ हाथ न लगेगा। हाँ, कोरा शून्य यानी मौत हाथ लगे तो लग सकती है।

आदि-कालसे मानव-प्राणीकी चिन्ता उठते उठते इसी प्रश्नसे जा टकराई है और सदा ही टकरा कर पछाड़ खाकर रह गई है। विधि-निषेधकी वह अन्तर-रेखा कहाँ है? वह रेखा खिची-खिचाई कहीं नहीं मिली है और युग-युगमें मानव-मनीषा इस बातपर उद्भ्रान्त हो गई है। मानव-जातिके अनेकानेक कल्याण-साधक पथिक उस रेखाकी खोजमें दिग्भ्रान्त होकर अकल्याणमें जा भटके हैं। मैं अल्पमति उस चर्चामें बढ़नेकी स्पर्द्धा नहीं कर सकता। कहना यही

चाहता हूँ कि मुझे आशंका है कि पच्छिमी बुद्धि वैसे विभ्रममें पड़कर कुछ चकरा रही है।

पच्छिम आज शक्ति-प्राप्त, विभुता-प्राप्त है। इसका मोह-मद भी उसमें घुस गया है। इसीसे वहाँ संकटके बादल भी छाये हैं। उसके नीचे वहाँका जीवन मानों भ्रमित भावसे गतिशील है। मानों वेग अपने जोरमें विवेकको खींचे लिये जाता हो। वहाँ व्यस्तता है, बेचैनी है, और मँहगी है। वही सब-कुछ वहाँके साहित्यमें और भी उभारके साथ झलक रहा है। उस अवस्थाका त्रास और दाह उस साहित्यमें है और उन्माद भी है। निस्सन्देह, उनका दूसरा पहलू भी वहाँ हैं और वह अत्यन्त करुण है। शक्तिकी पूजा है तो उसके प्रति विद्रोह भी है। पर, सब मिलाकर कुछ ऐसा असामंजस्य है कि जैसे लहरें अपने आपमें टकराकर फेनिल और उद्भ्रान्त हो उठी हैं और किसीको अपनी दिशाका पता नहीं है।

निस्सन्देह, पच्छिममें जीवन अधिक चुस्त और सजीव है। जड़ताके लिए वहाँ छिपकर बैठनेको भी जैसे ठौर नहीं है। पर, मेरी प्रतीति है कि स्वास्थ्यका जो तापमान है, उष्णताका माप पच्छिममें उससे ऊँचा पहुँच गया है और वह, स्वास्थ्य नहीं, ज्वर है।

मेरी प्रार्थना है कि हम लोग पश्चिमसे ईर्ष्या न करें। ईर्ष्या वैसे भी दुर्गुण ही है। वह अपनी हीनताके बोझमेंसे जन्म लेती है और उस हीनताको दूर नहीं करती, सिर्फ दबाती है। मेरी विनय है कि वैसे भावकी आवश्यकता भी नहीं है। हमारे भीतर जो जड़ता है उससे रुष्ट होकर बुखारको निमंत्रण देना योग्य नहीं है। उद्भ्रान्त पुरुष निर्वीर्य मनुष्यसे बेहतर हो, पर इस कारण वह भ्रान्ति स्तुत्य

न होगी। पश्चिमसे हमें बहुत-कुछ सीखना है, पर, सीखना विवेकपूर्वक ही हो सकेगा। अपनेको खोकर सीखा कुछ न जायगा, उल्टे यों स्वयं मिटनेका उपाय हो जायगा। पुरुषका असल पुरुषार्थ तो अपनेको पाना है।

उस आत्मलाभोन्मुख पुरुषार्थकी हिन्दीमें आवश्यकता है। पश्चिमकी विभुताके आलोकमें अपनेको खोनेकी उद्यतताके लक्षण हिन्दीमें अनुपस्थित नहीं हैं, इसीसे ऊपरकी बात कही गई है। जहाँसे लाभ लेना है वहाँसे लाभ न लेकर आतंकपूर्वक उसका अनुकरण करने लगना सही उपाय नहीं है। और मुझको स्वीकार करना चाहिए कि आजके प्रचलित पच्छिमी साहित्यमें मुझे मिर्च अधिक मालूम होती है, पोषक तत्त्व कम। मिर्चका असर तुरन्त होता है, जरा आदत पड़नेपर उसका स्वाद भी अच्छा लगने लगता है, पर वास्तव जीवनको तो पोषक तत्त्वकी ही अधिक आवश्यकता है। इस दृष्टिसे मुझे यह भी कहना चाहिए कि इधरके साहित्यसे पच्छिम कुछ ले भी सकता है और वह ले रहा है।

अपने प्रति सगर्व होना अहंकारका लक्षण है और आजके हिन्दी साहित्यकी अवस्थापर गर्व-स्फीत होनेका कोई बहाना भी नहीं है; पर आत्म-ग्लानिकी तो और भी किसी प्रकार गुञ्जाइश नहीं है, और न अन्य भाषाओंके प्रति तनिक भी डाह-पूर्ण लालसासे देखनेका अवकाश है। मुझे हिन्दीके प्रेमचन्द, मैथिलीशरण और प्रसादपर तनिक भी लज्जा नहीं है। तुलनाएँ भ्रामक होती हैं, लेकिन गहरी समीक्षा-बुद्धिके साथ देखनेपर भी मुझे हिन्दीकी ओरसे क्षमा-प्रार्थी होनेकी आवश्यकता इधर वर्षोंसे कभी प्रतीत नहीं हुई।

तिसपर हिन्दीकी कुछ अपनी लाचारियाँ हैं। उसका कोई एक प्रान्त नहीं है, कोई एक विशिष्ट संस्कृति-केन्द्र नहीं है। उसकी लिखनेकी भाषा ज्योंकी त्यों शायद ही कहीं बोलनेकी भी भाषा है। इस प्रकार, उसको वह घनिष्ठ सहयोग और सामाजिक अथवा प्रान्तीय भाई-चारेकी सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं जो भारतकी अन्य प्रान्तीय भाषाओंको उपलब्ध हैं। लेकिन, कौन जानता है कि ये ही असुविधाएँ आगे जाकर उसकी हित-साधक ही न बन जावें? और, इधर आकर जिस वेगसे हिन्दी बढ़ रही है, देखकर हर्ष होता है।

किन्तु, साहित्यकी बात करते समय किसीको किसीका प्रतिनिधि बननेकी आवश्यकता नहीं है। और मुझे जान पड़ता है कि एक भाषाके माध्यमद्वारा आत्म-साधन अथवा आत्म-दान करनेवाला साधक साहित्यकार उस अमुक भाषाकी बपौती नहीं होता। भाषा उसकी एक है, पर प्राण उसके व्यापक हैं। वह उस भाषाकी राहसे संपूर्णतया उस महाचेतनाके आलिंगनमें पहुँचना चाहता है जिसके लिए सब समान है। वह कवि इसलिए नहीं है कि एक भाषा उसके नामको लेकर फूले और दूसरी भाषाको तिरस्कृत करे। वह अपनी भावनाओंकी व्यापकताके कारण सबके लिए प्रार्थनीय और आत्मीय बनता है।

फिर भी, हम हिन्दीके इतने अपने हैं कि उससे असंतुष्ट होनेका हमारा हक़ है। सतत अभिलाष जीवनका लक्षण है और हममें असंतोष नहीं है तो हमारी उन्नतिकी संभावना भी नहीं है। इस दृष्टिसे, मैं कुछ उस दिशाकी ओर संकेत करना चाहता हूँ जिधर संगठित प्रयत्नकी आवश्यकता है।

जीवनकी कशमकश बढ़ती ही जाती है। आदर्शोन्मुख भावनाएँ उसके बीच पनपती नहीं। युवावस्था पार होते न होते व्यक्ति आदर्शसे मानों हाथ धो लेता है और ग़नीमत मानता है। फिर, दुनियादारीको ऐसा पकड़ता है मानों वही सार है शेष सब निस्सार है। तब बड़े शब्द खोखले, ऊँची भावनाएँ भ्रम, और सदाशयता उसके लिए भावुकता हो जाती है। वह इस प्रकार अपनी अंतरात्माकी अवज्ञा करता है और अनात्मकी सेवामें लीन होता है।

पर इसका उपाय? प्रतिस्पर्द्धाके क्षेत्रमें सद्भावनाकी ज्योतिको जगाए रक्खा जाय तो कैसे? साधारणतया वह जोत जगती है कि झोंका आता है और वह बुझ जाती है। समाजका आर्थिक विभाजन ऐसा विषम है और परिणामतः जीवन ऐसा दुरूह कि अकेली सद्भावनाको टिकाए रखना कठिन होता है। उपाय यही है कि परस्परके सहयोग और संस्पर्शसे उस जागृतिको कायम ही न रक्खा जाय, प्रत्युत उसे ज्योतिर्मय और कार्यकारी बनाया जाय। आशय यह कि सर्व-हितभावनाको बीज-भूत और फलरूप दोनों भावसे स्वीकार करके आपके सुहृद्संघके समान संघ जगह जगह बनें। वे उतने विधान-जड़ित दल न हों जितने चैतन्यके केन्द्र हों। बुद्धिका विकास, बुद्धिकी मुक्ति और सर्वहित-साधन, यह उनका लक्ष्य हो और विज्ञापनकी मनोवृत्तिसे वे परे हों।

दूसरे एक ऐसे केन्द्रकी भी आवश्यकता है जो तमाम हिन्दी साहित्यकी प्रगतिको एकताके दृष्टि-कोणसे देखे,—स्थानीय दृष्टि-कोणसे बिल्कुल न देखे। उसके द्वारा साहित्यिक जागरणको संगठित किया जा सके और विकृत-विपरीत साहित्यकी बाढ़को रोका जा सके।

इसके जन्ममें और विधानमें विशुद्ध सांस्कृतिक और नैतिक भावना होनी चाहिए। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ऐसे केन्द्रके निर्माणमें बहुत उपयोगी हो सकता है।

लोक-जीवनको बनाने और सँभालनेमें साहित्यका जो भाग है, उसपर यहाँ कुछ कहना आवश्यक है। साहित्य समाजको व्यक्ति-हृदयके द्वारा छूता और जगाता है। मुझे जान पड़ता है कि जीवनका वास्तव निर्माण उसी राहसे होगा। नहीं तो, समाज अपनेमें स्वरूप-हीन चीज़ है। व्यक्ति नहीं सुधरता तो समाज कैसे सुधरे? समाज कितना भी बिगड़ा हो, व्यक्ति अपनेसे तो सुधारका काम उसी क्षणसे आरम्भ कर सकता है। ऐसा न करके प्रस्ताव और प्रचारका पीछा पकड़कर सुधारकी आशा करना दुराशा है। आत्म-निर्माणमें समाज-निर्माणका बीज तो है ही, फल भी है। व्यक्ति समाजकी इकाई है, और ईकाई ही नहीं वह असलमें स्वयं समाजका बीज है। साहित्य उस व्यक्तिके हृदयको ही लक्ष्यमें रखता है, क्योंकि, सब महान् परिवर्तन हृदयमें ही जन्म लेते हैं। ऊपरी कुछ परिवर्तन यदि किया भी जा सके तो तब तक निरुपयोगी है जब तक हृदय भी अनुरूप परिवर्तित नहीं हुआ है। इस प्रकार, लोक-जीवनके निर्माणका सच्चा उपाय वह साहित्य रह जाता है जो व्यक्तिके हृदयको स्पर्श करके उसे संस्कारी बनाता है। व्यक्तिका संस्कार समाजमें फिर फैलता ही है। और अगर चिनगारी सच्ची है तो आग दहकनेमें थोड़ी फूँक ही चाहिए और फिर तो वह फैली ही रक्खी है।

इस निगाहसे राजनीतिक कर्म तब तक अधूरा है जब तक

साहित्यिक परिपोषण उसे प्राप्त नहीं है। प्रस्तावोंके पीछे प्राणोंका बल न हो तो वह उस कागजकी कीमतके भी नहीं जिसपर वे लिखे हों। आशा करनी चाहिए कि जीवन-चिन्तक और लोक-नायक दोनों इस विषयमें सचेत होकर संगठित उद्योग करेंगे।

यहाँ आते वक्त एक हितैषीने कहा था कि साहित्य-सर्जनमें योग देनेवाले साथियोंसे तो मैं खुलकर ही बात करूँ, लेकिन, साहित्यके बारेमें प्रामाणिक जानकारी मेरे पास क्या है? थोड़ा पढ़ा हूँ उसके बाद सीखा भी विशेष नहीं हूँ, यह सुनकर लोग कहते हैं, 'देखा! पहले तो घमंड, और फिर उसपर दंभ!' वह समझते हैं यह मेरा पाखंड है और भीतरके घमंडपर ज़रा मिठासका लेप देनेके लिए है। वे मुझपर अदया करते हैं। कुछ मित्र अपने मनमें और साथियोंके द्वारा मानो कहना चाहते हैं कि 'थोड़ा पढ़े हो तो लज्जित क्यों नहीं होते? गर्वके साथ बघारते क्या फिरते हो? धिक् है इस तुम्हारी गुस्ताख़ीको। अपने मुँहसे बड़ी बड़ी बातें निकालते हो, फिर कहते हो मेरा मुँह छोटा है! छोटा मुँह है तो उसे मत खोलो! क्यों बड़ी बातोंको भी उस मुँहसे निकालकर उपहास्य बनाते हो?' सच, नहीं जानता कि मैं इन बातोंका क्या जवाब दे सकता हूँ। जवाब मेरे पास है ही नहीं। मैं अपनेको दोषी कबूल करता हूँ। लेकिन, दोष तो तभी हो गया जब पहले पहल क़लम मैंने उठाई। आप कहोगे—'क़लम उठाई ही क्यों? कुछ जानते नहीं थे तो क़लम उठानेकी हिम्मत क्यों की?' बेशक, यह संगत प्रश्न है, और यही मैं अपनेसे पूछा करता हूँ। पर, उत्तरमें सिर झुका रह जाता है, कुछ बोल नहीं मिलता। आज भी मुझे अचरज है कि किस बूतेपर मैंने क़लम

उठाई और किस बलपर मैं उसे चलाता भी रहा। लेकिन, सच बात यह है कि यदि मुझे स्वप्नमें भी कल्पना होती कि मेरा लिखा छापेमें आ जायगा तो लिखनेका दुस्साहसिक कर्म मुझसे न बनता। इसीसे जब मैं पढ़ता हूँ कि ईश-कृपासे बहरा भी सुन पड़ता और मूक बोल उठता है, और उस ईश-महिमासे पंगु भी गिरि लाँघ जाता है, तब, यह देखकर कि मैं आज लिखता हूँ, मुझे उस सब अनहोनीके होनेका भी विश्वास हो जाता है। इसलिए, घमंड-पाखंडकी सब बात परमात्मा ही जाने। उसकी कृपा ही हुई होगी कि मैं कुछ लिख भी सका, नहीं तो—

लेकिन, उसे छोड़िए। अब मैं पूछता हूँ कि जो मैंने आरंभमें लिखा, क्या 'स्वान्तः सुखाय' लिखा? मुझे नहीं मालूम। जो करता हूँ मैं अन्तःसुखके लिए करता हूँ या परिस्थितियोंके कारण करता हूँ,—यह मैं कुछ खोल कर समझ नहीं पाता हूँ। अलबत्ता इतना जानता हूँ कि आरंभमें जो लिखा, वह किसी भी प्रकार, किसीके उपकार, सुधार या उद्धारका प्रयोजन बाँध कर मैं नहीं लिख सका था। मैं तब इतना अज्ञातनाम, अपने आपमें इतना संत्रस्त, हीन, निरीह प्राणी था कि परहितकी कल्पना ही उस समय मुझे अपनी विडम्बना जान पड़ती। इसलिए, मैं किस प्रकार इन चर्चाओंमें जाऊँ कि साहित्य-कला किसके लिए है, अथवा किसके लिए हो? यह बात महत्त्वपूर्ण होगी, लेकिन, मैं उस बारेमें कोरा हूँ।

हाँ, इधर आकर एक विश्वास मेरी सारी चेतनामें भरता-सा जाता है कि जो कुछ हो रहा है, वह सब-कुछ 'एक' के लिए हो

यही प्रेम है। मुझे जान पड़ता है कि साहित्यका भी दूसरा कोई मंत्र नहीं है। प्रेमसे बाहर होकर साहित्यके अर्थमें कुछ भी जानने योग्य बाक़ी नहीं रहता। 'ढाई अच्छर प्रेमके पढ़ै सो परिडत होय' यह बात निरी कल्पना मुझे नहीं मालम होती, सबसे सच्ची सचाई मालूम होती है। एक जगह कबीरने बालक प्रह्लादके मुँहसे गाया है—

> मोहे कहा पढ़ावत आल-जाल,
> मोरी पटियापै लिख देउ 'श्रीगोपाल'।
> ना छोड़ूँ रे बाबा राम नाम
> मोकों और पढ़नसों नहीं काम।

कबीरकी बानीमें उसी प्रेमके माहात्म्यका गान मुझे सुन पड़ता है। न ऊपरकी उक्तिका, न कबीर-बानीका, यह आशय समझा जाय कि सब पढ़ना-लिखना छोड़ देना होगा। पर, यह मतलब तो ज़रूर है कि जो प्रेम-विमुख है, ऐसा, पढ़ना हो या लिखना, सब त्याज्य है। जिसमें केवल बुद्धिका विलास है, जिससे अपने भीतर सद्भावना नहीं जागती और जगकर पुष्ट नहीं होती, वैसा पढ़ना-लिखना वृथा है। और यदि वह पठन-पाठन निरुद्देश्य है, तो वृथासे भी बुरा है, हानिकारक है।

ग़लत समझा जाऊँ, इस खतरेको भी उठाकर मैं यह प्रतीति अपनी स्पष्ट कहना चाहता हूँ कि, जो जानता है कि वह विद्वान् है, ऐसे महापंडितको सँभालनेकी शक्ति शायद साहित्यमें नहीं है। साहित्य जिस तरल मनोभावनाके तलपर रहता है, ऐसे महापंडितका स्थान उससे कहीं बहुत ऊँचेपर ही रह जाता है।

जान जान कर जितना जो मैंने जाना है वह ऊपर कह दिया है। वह एकदम कुछ न जाननेके बराबर हो सकता है। ऐसा हो, तो कृपापूर्वक आप मुझे क्षमा कर दें। शायद, आपकी कृपाके भरोसे ही उसका दुर्लभ उठाकर, ऊपर कुछ अपने मनकी निरर्थक-सी बात कह गया हूँ।

आधुनिक हिन्दी-साहित्यकी समीक्षामें मैं नहीं जा सकूँगा। वह अधूरा है, अपर्याप्त है, पर यह भी निश्चित है कि वह सचेत है और यत्नशील है। वह बराबर बढ़ रहा है, गद्यके क्षेत्रमें वह तेजस्विताकी ओर भी बढ़ चला है। पद्यमें सूक्ष्मताकी ओर अच्छी प्रगति है। हिन्दी-साहित्यमें चहुँ-मुखता बेशक अभी नहीं है। वह इसलिए, कि जीवन ही अभी चहुँओर नहीं खुला है। पराधीन देशमें राष्ट्रीयता इतनी जरूरी-सी प्रवृत्ति हो जाती है कि वह समूचे जीवनको उसी ओर खींचकर मानो नुकीला बनानेका प्रयास करती है। स्वाधीनताकी ज़रूरत है तो मुख्यतः इसीलिए कि जिंदगी सब तरफकी माँगोंके लिए खुले और फैले। अनिवार्यतया राष्ट्रीय भावकी प्रधानता अपने साहित्यमें रही और अब, जब कि हिन्दी राष्ट्र-भाषा है, संभावना है कि उस प्रकारकी साहित्यकी एकांगिता दूर होनेमें कुछ और भी समय लगे। आधुनिक समाजवाद भी साहित्यकी सर्वाङ्गीनताको संपन्न करनेमें विशेष उपयोगी नहीं हो रहा है। उपाय इसका यही है कि साहित्यकार व्यापक और विस्तृत जीवनकी ओर बढ़े,—नगरसे गाँवकी ओर, गाँवसे प्रकृतिकी ओर, प्रकृतिसे परमात्माकी ओर बढ़े। हमारे साहित्यकारको प्राण-वायु, शुद्ध जीवन और आसमानकी अधिक आवश्यकता है। वह

नगर-जीवनकी कृत्रिम समस्याओंसे घुटता जा रहा है। उसको शहरकी तंग गलियों और सटी दीवारोंको लाँघकर, न हो तो तोड़कर, खुले मैदानमें साँस लेने बढ़ना चाहिए। उससे फेंफड़े मज़बूत होंगे और सबका भला होगा।

हिन्दी-साहित्यके सम्बन्धमें बात करते हुए यह कहना भी ज़रूरी मालूम होता है कि जैसे सुचारुताके लिए व्यक्तिमें विविध वृत्तियोंका सामंजस्य आवश्यक है, उसी भाँति, साहित्यमें आदर्शोन्मुख भावनाओं और परिणामोंके सामंजस्यकी ओर हमें ध्यान देना होगा। ऐसा न होनेसे साहित्य जब कि रोमांटिक (=कल्पना-विलासी) हो उठता है तब उसकी ओट लेनेवाला जीवन संगति-हीन और उथला हो चलता है। कल्पनाका विलास तथ्य वस्तु नहीं है। इस प्रकार, जो अध्यात्मका अथवा दर्शन-ज्ञानका वातावरण बनता है वह भ्रामक होता है, प्रेरक नहीं होता। वह छलमें डालता है, बल नहीं देता। स्वप्न खूब मनोरम हो, पर वह स्वप्न ही है तो किस कामका? उसी स्वप्नकी कीमत है जिसके पीछे प्रेरणा,—Will भी है। और ऐसा स्वप्न स्वप्न कम, संकल्प अधिक हो जाता है। साहित्यके मूलमें यदि कल्पना है तो वह श्रद्धामूलक है; अन्यथा, विवेक-वियुक्त कल्पना धोखा दे सकती है, निर्माण और सर्जन नहीं कर सकती।

यूरोपके साहित्यको जो बात प्रबल बनाती है वह उसकी यही प्रेरक शक्ति है। स्वप्न उनके उतने ऊँचे न हों,—और नहीं हैं, लेकिन, उनके संकल्पों और उन स्वप्नोंमें उतनी दूरी भी नहीं है कि विरोध मालूम हो। मन-वचन-कर्मका यह सामंजस्य,—यह ऐक्य, ही असली तत्त्व है। इस समन्वयसे मनकी भावना अधिक प्रेरक, वचन

अधिक सफल और कर्म अधिक सार्थक बनता है। इस एकताके साथ तीनों (भावना, शब्द, कृत्य) अलग अलग भी अपने आपमें सत्यतर बनते हैं। उस एकताके अभावमें तीनों झूठ हो जाते हैं। तभी तो प्रमत्तका स्वप्न, दम्भीके मुखका शास्त्र-वचन, और पाखण्डीका धर्म-कर्म अपने आपमें सुन्दर होते हुए भी असत्य हो जाता है। राजनीतिसे अधिक साहित्यके क्षेत्रमें यह एकता जरूरी है। क्योंकि स्थूल कर्मका परिणाम तो थोड़ा बहुत होता भी है पर शब्दमें तो वैसी स्थूल शक्ति है नहीं, उसमें उतनी ही शक्ति है जितनी अपने प्राणोंसे हम उसमें डाल सकते हैं। अतः, साहित्यकारके लिए मन-वचन-कर्मकी एकता साधना जरूरी मानना चाहिए।

एक बात और, और बस। एक प्रकारसे वह ऊपर भी आ गई है, पर उसको स्पष्ट कह देना भला ही हो सकता है। वह यह कि हमको सबके प्रति विनयशील होना होगा। अविनय जड़ता है। जीवन पवित्र तत्त्व है और साहित्यके निकट, क्योंकि, सब कुछ सजीव है इससे साहित्य-रसिकके लिए सब कुछ पवित्र है। उसके मनमें किसीके लिए अवज्ञा नहीं हो सकती। ऐसी अवज्ञाके मूलमें अहंकार और अपूर्णता है।

इस बातके संबंधमें अधिकसे अधिक सावधानी भी इसलिए कम है कि आज चारों ओर राजनीतिक प्रचारके कारण सहानुभूतिकी मर्यादा-रेखाएँ खींच दी गई हैं और प्रेम दलोंमें बँट गया है। इस भाँति अवज्ञाकी भावना सहज भावमें घर कर जाती है और वह उपयुक्त भी जान पड़ने लगती है। पर निश्चय रखिए कि

अनादरकी भावनामेंसे कोई निर्माण नहीं हो सकता। सर्जन स्नेहद्वारा ही संभव है।

पर यहाँ भूल न हो। जीवन निरी मुलायम चीज़ नहीं है। वह युद्ध है। वह इतना सत्य है कि काल भी उसे कभी तोड़ नहीं सकता। निरंतर होती हुई मृत्युके बावजूद जीवनकी धारा अनवच्छिन्न भावसे बहती चली आ रही है, बहती चली जायगी। सत्यको सदा ही असत्से मोर्चा लेना होगा, जबतक व्यक्ति है तब तक युद्ध है। वहाँ कोई समझौता नहीं है, और कोई अंत नहीं है।

पर युद्ध किससे? व्यक्तिसे नहीं, घनीभूत मैलसे। पापीसे नहीं, पापसे। क्योंकि जिसे पापी माना है, उसके भीतर आत्माकी आग है और आग सदा उज्ज्वल है। वह पापको क्षार करती है। यह पापसे अडिग भावसे जूझनेकी क्षमता पापीको प्रेम और उसके भीतरकी आगमें विश्वास करनेकी साधनामेंसे आवेगी।

मैंने आपका बहुत समय लिया। इस समयमें जो सूझा है मैं कहता रहा हूँ। आप मेरे प्रति करुणाशील हुए तो मैं यह अपना कम लाभ नहीं मानूँगा। आप देखते तो हैं कि आपकी कृपाका मैंने कैसा फ़ायदा उठा लिया है। मैं उस सबके लिए आपसे क्षमा चाहता हूँ और आपको फिर धन्यवाद देता हूँ।

प्रेमचन्दजीकी कला

श्रीप्रेमचन्दजीका ताज़ा उपन्यास 'ग़बन' हाल ही निकला है। निकला तभी मैंने इसे पढ़ लिया। लेकिन, जो मुझे वक्तव्य हो सकता है, वह लिखता अब हूँ। चीज़को समझने और पुस्तकके असरको ठंडा होने देनेके लिए मैंने कुछ समय ले लिया है। ठंडा होकर बात कहना ठीक होता है,—जब व्यक्ति पुस्तकसे अपनेको अलहदा खड़ा करके मानों उसपर सर्वभक्षी निगाह डाल सके।

प्रेमचन्दजी हिन्दीके सबसे बड़े लेखक हैं। हम हिन्दीभाषाभाषी उनके मूल्यको ठीक आँक नहीं सकते। हम चित्रके इतने निकट हैं कि उसकी विविधता, उसका रंग-वैषम्य हमें आच्छन्न कर देता है; उसमें निवास करती हुई और उस चित्रको सजीवता प्रदान करती हुई एकता हमारी पकड़में नहीं आती। जो एकाध दशाब्दि अथवा एक-दो भाषाका अंतर बीचमें डालकर प्रेमचन्दको देखेंगे, वे, मेरा अनुमान है, प्रेमचन्दको अधिक समझेंगे, अधिक सराहेंगे। वर्तमानकी अपेक्षा भविष्यमें और हिन्दीको छोड़कर जहाँ अनुवादोंद्वारा अन्य भाषाओंमें पहुँचेंगे, वहाँ उनको विशेष सराहना प्राप्त होगी।

लेकिन, यत्नद्वारा हम अपनी दृष्टिमें कुछ कुछ वैसी क्षमता ला सकते हैं कि बहुत पासकी चीज़को मानों इतनी दूरसे देख सकें कि वह हमें अपनी सम्पूर्णतामें, अपनी एकतामें, दीखे। अगर रचनाओंके भीतर पैठकर, मानों इस सीढ़ीसे, हम रचनाकारके हृदयमें पहुँच

जाँय जहाँसे कि उसकी रचनाओंका उद्गम है और जहाँसे उसे एकता प्राप्त होती है, तो हम रसमें डूब जायँ।

अपने भीतरके स्नेह, सहानुभूति और कौशलको विविध भाँतिसे कलमकी राह उतार कर कलाकारने तुम्हारे सामने ला रक्खा है। तुम उन शब्दों, भाषा, प्लाट, और प्लाटके पात्रोंका मानों सहारा भर लेकर यदि हृदयमेंसे फूटते हुए झरनों तक पहुँच जा सकते हो, तो वहाँ स्नान करके आनंदित और धन्य हो जाओगे। नहीं तो, कालिजीय विद्वानकी तरह उसकी भाषाकी खूबी और त्रुटि और उसके व्याकरणकी निर्दोषता-सदोषतामें फँसे रहकर उसकी छान-बीनका मज़ा ले सकते हो।

मुझे व्याकरणकी चिन्ता पढ़ते समय बहुत नहीं रहती। भाषाकी चुस्तीका या शिथिलताका ध्यान उसीके ध्यानकी ग़रज़से मैं नहीं रख पाता। भाषाकी खूबी या कमीको, सम्पूर्ण वस्तुके मर्मके साथ उसका किसी न किसी प्रकार सामंजस्य बैठाकर, मैं देख लेना चाहता हूँ। अतः, यह नहीं कि मैं उस ओरसे नितांत उदासीन या क्षमाशील हो रहता हूँ, किन्तु वहाँ समाप्त करके नहीं बैठ रहता।

प्रेमचंदजीकी कलमकी धूम है। बेशक, वह धूमके लायक है। उनकी चुस्त-दुरुस्त भाषापर, उनके सुजड़ित वाक्योंपर, मैं किसीसे कम मुग्ध नहीं हूँ। बातको ऐसा सुलझाकर कहनेकी आदत, मैं नहीं जानता, मैंने और कहीं देखी है। बड़ीसे बड़ी बातको बहुत उलझनके अवसरपर ऐसे सुलझा कर, थोड़ेसे शब्दोंमें भरकर कुछ इस तरहसे कह जाते हैं जैसे यह गूढ़, गहरी, अप्रत्यक्ष बात उनके लिए नित्य-प्रति घरेलू व्यवहारकी जानी-पहचानी चीज़ हो। इस तरह, जगह

जगह उनकी रचनाओंमें ऐसे वाक्यांश बिखरे भरे पड़े हैं, जिन्हें जी चाहता है कि आदमी कंठस्थ कर ले। उनमें ऐसा कुछ अनुभवका मर्म भरा रहता है!

प्रेमचन्दजी तत्त्वकी उलझन खोलनेका काम करते हैं, और वह भी सफ़ाई और सहजपनके साथ। उनकी भाषाका क्षेत्र व्यापक है, उनकी कलम सब जगह पहुँचती है; लेकिन, अंधेरेसे अंधेरेमें भी वह धोका नहीं देती। वह वहाँ भी सरलतासे अपना मार्ग बनाती चली जाती है। सुदर्शनजी और कौशिकजीकी भी कलम बड़े मजे-मजेमें चलती है, लेकिन, जैसे वह सड़कोंपर चलती है, उलझनोंसे भरे विश्लेषणके जङ्गलमें भी उसी तरह सफ़ाईसे अपना रास्ता काटती हुई चली चलेगी, इसका मुझे परिचय नहीं है।

स्पष्टताके मैदानमें प्रेमचन्द सहज अविजेय हैं। उनकी बात निर्णीत, खुली, निश्चित होती है। अपने पात्रोंको भी सुस्पष्ट, चारों ओरसे सम्पूर्ण बना कर वह सामने लाते हैं। उनकी पूरी मूर्ति सामने आ जाती है। अपने पात्रोंकी भावनाओंके उत्थान-पतन, घात-प्रतिघातका पूरा पूरा नकशा वह पाठकके सामने रख देते हैं। तद्गत कारण, परिणाम, उसका औचित्य, उसकी अनिवार्यता आदिके संबन्धमें पाठकके हृदयमें संशयकी गुंजायश नहीं रह जाती। इसलिए, कोई वस्तु उनकी रचनामें ऐसी नहीं आती जिसे अस्वाभाविक कहनेको जी चाहे, जिसपर विस्मय हो, प्रीति हो, बलात् श्रद्धा हो। सबका परिपाक इस तरह क्रमिक होता है, ऐसा लगता है, कि मानों बिल्कुल अवश्यम्भावी है। अपने पाठकके साथ मानों वे अपने भेदको बाँटते चलते हैं। अँग्रेजीमें यों

कहेंगे कि वह पाठकको Confidence में, विश्वासमें, ले लेते हैं। अमुक पात्र क्यों अब ऐसी अवस्थामें हैं,—पाठक इस बारेमें असमंजसमें नहीं रहने दिया जाता। सब-कुछ उसे खोल खोलकर बतला दिया जाता है। इस तरह, पाठक सहज रूपमें पुस्तककी कहानीके साथ आगे बढ़ता जाता है, इसमें उसे अपनी ओरसे बुद्धि-प्रयोगकी आवश्यकता नहीं होती,—पात्रोंके साथ मानों उसकी सहज जान-पहचान रहती है। इसलिए, पुस्तकमें ऐसा स्थल नहीं आता जहाँ पाठक अनुभव करे कि वह पात्रके साथ नहीं चल रहा है,—ज़रा रुककर उसके साथ हो ले। वह पुस्तक पढ़नेको ज़रा थामकर अपनेको सँभालनेकी जरूरतमें नहीं पड़ता। ऐसा स्थल नहीं आता जहाँ आह खींचकर वह पुस्तकको बन्द करके पटक दे और कुछ देर आँसू ढालने और पोंछनेमें उसे लगाना पड़े; और फिर, तुरत ही फिर पढ़ना शुरू कर दे। पाठक बड़ी दिलचस्पीके साथ पुस्तक पढ़ता है, और उसके इतने साथ साथ होकर चलता है कि कभी उसके जीको ज़ोरका आघात नहीं लगता जो बरबस उसे रुला दे।

'ग़बन'में मार्मिक स्थल कम नहीं हैं, पर, प्रेमचन्दजी ऐसे विश्वास ऐसी मैत्री और परिचयके साथ सब-कुछ बतलाते हुए पाठकको वहाँ तक ले जाते हैं कि उसे धक्का-सा कुछ भी नहीं लगता। वह सारे रास्ते-भर प्रसन्न होता हुआ चलता है, और अपने साथी ग्रंथकारकी जानकारीपर, कुशलतापर, और उसके अपने प्रति विश्वासपर, जगह जगह मुग्ध हो जाता है। पग-पगपर उसे पता चलता रहता है कि इस कहानीके स्वर्गमेंसे उसका हाथ पकड़कर ले जाता हुआ उसका पथदर्शक बड़ा सहृदय और

विलक्षण पुरुष है। पाठक बिलकुल उसका होकर रहनेको तैयार होता है। वह बहुत सतर्क और उद्‌बुद्ध होकर नहीं चलता, क्योंकि, उसे भरोसा रहता है कि ग्रंथकार उसे छोड़कर इधर-उधर भाग नहीं जायगा, उसको साथ लिये चलेगा। इसलिए, ग्रंथकारको भागकर छूनेका अभ्यास करके उसके साथ रहने और, इस प्रकार, अपरिचित रास्तेपर झटकों-धक्कोंको खाते कभी उनपर हँसते और कभी रोते हुए चलनेका मज़ा पाठकको नहीं मिलता; पर पाठक इस स्वादको भी चाहता है।

मैं 'ग़बन' पढ़ते हुए कहीं भी रो नहीं पड़ा। रवीन्द्रकी एकाध किताब पढ़नेमें, वंकिम पढ़नेमें, शरद पढ़नेमें, कई बार बरबस आँखोंमें आँसू फूट आये हैं। फिर भी, प्रेमचन्दकी कृतियोंसे जान पड़ता है कि मैं उनके निकट आ जाता हूँ, उनपर विश्वास करने लगता हूँ। शरद पढ़ते हुए कई बार गुस्सेमें मैंने उसकी कृतियोंको पटक दिया है, और रोते रोते उसे कोसनेको जी किया है। 'कम्बख़्त न जाने हमें कितना और तंग करेगा!', इस भावसे फिर उसकी पुस्तक उठा कर पढ़ना शुरू कर दी है। ऐसा मेरे साथ हुआ है। इसके प्रतिकूल, प्रेमचन्दकी कृतियोंसे उनके प्रति अनजाने सम्मान और परिचयका भाव उत्पन्न होता है।

शरद और कई अन्यकी रचनाएँ पढ़ते वक्त जान पड़ता है जैसे इनके लेखक हमसे परिचय बनाना नहीं चाहते; हमारी,—अर्थात् पाठककी, इन्हें बिलकुल पर्वाह नहीं है; हमारे भावोंकी रक्षा करनेकी इन्हें बिल्कुल चिन्ता नहीं है; जैसे हमारा जी दुखता है या नहीं दुखता, हम नाराज़ होते हैं या ख़ुश, हमें अच्छा लगता है या बुरा,—इसके

ख्याल करनेका ज़रा भी दायित्व उनपर नहीं है; हमारे लिए उनके पास ज़रा दया नहीं है। ये लेखक निरपेक्ष और निश्चिन्त होकर हमें जी चाहे जितना रुला सकते हैं, परन्तु, प्रेमचंद हमारे प्रति निरपेक्ष नहीं हो सकते।

शायद इसी निरपेक्षताकी आवश्यकताको विचार कर अँग्रेजीकी उक्ति वन गई थी,—Art for Art's sake (=कला कलाके लिए)। किन्तु, यह वचन मेरी समझमें सत्यको बहुत अधूरे ढंगमें प्रकट करता है; या, कहें, सत्यको खोलकर प्रकट नहीं करता, उसे मानों वाँध कर बन्द करनेकी चेष्टा करता है। मुझे कहना हो तो कहूँ,—Art for God's sake (=कला परमात्माके लिए)।

रवीन्द्र आदिकी कृतिमें किसी एक स्थलपर उँगली रखकर कहना कठिन है कि,—'कैसा अच्छा है!' शरदकी खूबी समझमें नहीं आती कि किस खास जगह है। एक एक वाक्य करके देखो तो कहीं कोई खास वात नहीं दिखाई देती। इधर प्रेमचंदका कहींसे कोई वाक्य उठा लें;—मानों, स्वयं संपूर्ण है,—चुस्त, कसा हुआ, अर्थपूर्ण।

पहले ढंगकी किताबको जी अकुलायगा तभी हम उठाकर देखने लग जायँगे। चाहे कितनी ही बार पढ़ी हो हमें वह नवीन-सी लगेगी। प्रेमचन्दकी किताबको एक बार पढ़ लेनेपर उसे फिर फिर पढ़नेकी तबीयत कम शेष रहती है।

मैंने कहा है,—Art for God's sake अर्थात्, परमात्माके प्रति,—सत्यके प्रति कलाकारका दायित्व है। इसको कलाकार जब समझेगा तो पायेगा कि उसका अपने प्रति दायित्व है, इसलिए, वह पाठक-समाजकी धारणाओंकी ओरसे निरपेक्ष और निश्चिन्त होकर

अपने प्रति सच्चा रहकर अपनेको प्रकट कर सकता है। एक व्यक्ति, समाज या पुस्तकके पात्रकी भावनाओंकी रक्षाके प्रति अत्यन्त आतुर हो उठनेका कलाकारको अधिकार नहीं है। इस सम्बन्धमें उसे अत्यंत निरंकुश होकर चलना पड़ता है। जिस प्रकार परमात्मा अपने विश्वका संचालन (हमारी-तुम्हारी परिमित समझके अनुसार) अत्यंत निरंकुश होकर करते हैं; विश्वको जरा-व्याधि, रोग-शोक और जन्म-मृत्युसे भरा बनाये रखते हैं; किसी खास व्यक्ति या समूहकी कोई विशेष चिन्ता करते नहीं मालूम होते;—इतना होनेपर भी वे परम दयालु हैं। उनकी दयालुता किसी विशेष वस्तु या प्राणीके अच्छा लगने न लगनेपर निर्भर होकर नहीं रहती। वह इतनी मर्मगत, इतनी व्याप्त और इतनी बृहद् है कि उसका कार्य-परिणामन हम छोटी बुद्धिवालोंको निरंकुश जँचता है। उसी सबके पिता सिरजनहारके अनुरूप सर्जनका अधिकार रखनेवाले कलाकारको रहना पड़ता है। वह रचनामें अत्यंत निरंकुश होगा, किसीके प्रति उसमें विशेष ममताभाव है, ऐसा वह नहीं दिखला सकेगा। विद्वान्‌पर मौत आयेगी तो उसे दिखला देगा, शठ समृद्धिवान् बनता होगा तो उसे बनने देगा। फिर भी, सहानुभूति और प्रेमसे उसका हृदय भरा होना ही चाहिए। वह सहानुभूति या स्नेह इतना उथला न हो कि छलकता फिरे।

संसारमें प्रकटमें दीखनेवाली निरंकुशताके मार्गसे एक बृहद् सत्यकी लीला सम्पन्न हो रही है। हम नहीं जानते, इसलिए रोते-झींकते हैं। हम जिन छोटी-मोटी बातोंको सिद्धान्त बनाकर काम चलाते हैं, उनकी ज्योंकी त्यों रक्षा जब हमें होती नहीं दीखती तब

हम दुखी होते और अस्थिर होते हैं। इस तरह, अपने अहं-ज्ञानको बीचमें डालकर, हम जिस परमात्माका विश्वास हमारे लिए सहज होना चाहिए था, उसीको अपने लिए दुष्प्राप्य और दुर्बोध्य बना लेते हैं। सबमें निवास करती हुई उसकी दयालुता हम नहीं देख पाते, इसलिए कहते हैं, 'वह है नहीं; है तो दयालु नहीं है, मनमाना (= Capricious) है।' हमारा तर्क यह होता है—'हम भलेमानस हैं, फिर भी गरीब हैं; इसलिए, ईश्वर नहीं है; है, तो ठीक नहीं है।' इसी तरह, कलाकारकी वृत्तिमें किसी अन्तरतर सत्यको पाने और सम्पन्न करनेकी चेष्टा होती है,—दुनियाकी बनाई धारणाओंकी रक्षा करनेकी चिन्ता उसे नहीं होती। सदाचारके और अन्य भाँतिके अपने नियम कानून बनाकर जीती रहनेवाली दुनिया अपनी सब धारणाओंका समर्थन वहाँ पाये ही, ऐसा नहीं होने पाता। ऊपरके तर्कसे चलनेवाली दुनियाकी तुष्टिके लिए और उसके अहं-समर्थनके लिए कलाकार नहीं लिखता। इसीसे कहा गया है कि Art for Art's sake,—कला कलाके लिए, जिसका कि सम्पूर्ण शुद्ध रूप है Art for God's sake, और जिसका कि अर्थ है कि कला अहंवादी, बुद्धिवादी दुनियाको खुश रखनेकी खातिर नहीं होती; वह God अर्थात् सत्यकी प्रतिष्ठाके लिए होती है।

प्रेमचंदजीमें उक्त प्रकारकी निरपेक्षता पूरे तौरपर नहीं आई है। वे पाठककी बराबर परवाह करते हुए चलते हैं, और अपनी किसी बातसे सहसा दुनियाको धक्का नहीं देना चाहते। उन्होंने कोशिश करके जिसे सुन्दर और शिवरूप समझा है, लोगोंकी वर्त्तमान स्थितिको किसी विशेष गड़बड़में न डालनेकी चिन्ता रखते हुए, वह

उसीको लिखते हैं। उनके पात्र अशरीरी नहीं होते, सूक्ष्म-शरीरी भी नहीं होते; वे अतर्क्य नहीं हो पाते। वे जो कुछ भी होते हैं, Common sense (=सामान्य साधारण-बुद्धि) के मार्गसे ही होते हैं। असाधारणता उनमें यदि प्रेमचन्द कहीं कुछ रखते भी हैं तो मानों साधारणताके मार्गसे ही उसे प्राप्त और प्राप्य बना लेते हैं। पाठकके दिलमें प्रेमचंदजीके पात्रोंसे एक प्रकारका संतोष होता है, कोई गहरी बेचैनी नहीं जाग उठती, कोई गहरा खिंचाव जो मित्रतासे आगे हो, एक गंभीर तृप्ति जो संतोषसे गहरी हो, नहीं होती। प्रेमचंदजी पाठकका मन रख लेते हैं; अपना ही मन पाठकके सामने रख दें, यह नहीं करते।

मैं फिर भी प्रेमचन्दजीको, हिन्दीका नहीं, संसारका लेखक मानता हूँ। बहुत जल्दी संसार भी यह मान लेगा।—क्यों?

सामयिकताको लाँघकर, मानो सामयिकताका आधार पकड़ गहरी उतरकर, जो कृति जितनी ही सत्यके अनुरूप होकर चलती है, वह उतने ही अंशमें सर्वकालीन और सर्वदेशीय होती है;—उतने ही अंशमें वह कालको चुनौती देती हुई चिरजीवी और देश और भाषाकी परिधियोंको फाँदती हुई विश्वव्यापी हो जाती है।

सत् है एक, अर्थात् सत्य है ऐक्य। संपूर्ण सत्ताको सचेतन एकमय देखो, वही है परमात्मा। इस सनातन ऐक्यको पानेकी चेष्टाका नाम है, 'प्रेम'। पर वह प्रेम सहज सम्पन्न नहीं होता। यह जो चारों ओर लुभाती हुई, भरमाती हुई, भिन्नता फैली है,— उस सब लोभ और भ्रम और मायाके समुद्रमें, आँख-कान मूँदकर गहरी डुबकी लगाकर पैठनेसे वह प्रेम कुछ कुछ दिखाई पड़ सकता है। इसके लिए

गहरी साधनाकी आवश्यकता है। तो भी, इस ऐक्यको पानेकी भूख भी प्राणोंमें कम गहरी नहीं है। पर, बहुत-कुछ उसकी तृप्तिमें आड़े आता है और वह भूख बहुत तरफसे परिमित, संकुचित भूखी रहती है। और तो क्या, यह शरीर ही रुकावट बनकर सामने आता है। यह हमको सबसे एकाकार तो होने दे सकता ही नहीं, फिर भी, इसकी सहायतासे भी हम आगे बढ़ते हैं। स्त्री, माँ, भाई, बहिन, पिता आदि नातोंद्वारा, जो इस शरीरके कारण बन जाते हैं, हम अपने प्रेमका विस्तार फैलाते हैं। वह प्रेम नाना स्थानोंपर नाना रूपमें प्रकट होता है। वह प्रेम तत्कालको पारकर जितना चिर-स्थायी और शरीरके प्रतिबंधको लाँघकर जितना अखिलव्यापी और सूक्ष्मजीवी होता है,—और इस तरह, तात्क्षणिक स्थूल तृप्तिमें न जीकर वह जितना उत्सर्गजीवी होता है, उतना ही वह सत्यके अनुरूप, अर्थात् शुद्ध, वास्तविक और आनंदमय होता है। लेकिन, काल और प्रदेशकी रेखाओंसे घिर कर ही तो जीवकी जीवनयात्रा चलती है, इसलिए, उसका प्रेम पूर्ण निर्विकार सत्यानुरूपी नहीं हो पाता। इस तरह, व्यक्तिके जीवनमें सदा ही द्वन्द्व चलता है।

इस दृष्टिसे देखा जाय तो कलुषित कुत्सित प्रेम कुछ नहीं होता। विस्तृत ऐक्यके जिस तल तक मनुष्य उठ आया है उस तलसे नीचेकी चेष्टाएँ जब किसीमें देखता है, तो उसे कुत्सित आदि कहने लगता है।

तो, नाना रूपिणी माया जब व्यक्तिको अन्य सबके प्रति एक प्रकारके विरोधसे उकसा कर उसे अहं-भावमें दृढ़ रखनेका आयोजन करती है, तब उसके भीतरका गुप्त सच्चिदानंद इस आयोजनको तोड़-फोड़ कर स्वयं प्रतिष्ठित रहनेको सतत उत्सुक रहता है। यह द्वंद्वावस्था ही जीवनकी चेष्टाका और उपन्यासका मूल है। यही साहित्य-क्षेत्र है।

प्रेमचन्दजी इस द्वंद्वावस्थाको अच्छी सूक्ष्म दृष्टि और सहानुभूतिके साथ चित्रित करते हैं और इस द्वन्द्वमें वह जिस निर्मल प्रेमभावकी प्रतिष्ठा करते हैं वह देहातीत होता है,—वह बीतते हुए क्षणके साथ मिटता नहीं। वह सेवामय प्रेम दुनियादारीकी ग़लतफ़हमियोंकी, अज्ञानताकी, विफलताकी, हीनताकी कितनी ही कठिनाइयोंके साथ लड़ता-झगड़ता हुआ भी अक्षुण्ण और उत्सर्ग-तत्पर रहता और रह सकता है,—इसका चित्र प्रेमचन्दजी सजीव करके उठा देते हैं। वही सजीव प्रेम, अर्थात् सत्य, जो स्वयं टिकाऊ है, उनकी कृतिको भी चलते समयके साथ मरने नहीं देगा। मैं कहता हूँ कि प्रेमचन्दजीने अपनी कृतिमें जो चिरस्थायी और कर्मशील प्रेमका बीज रख दिया है, वह सामयिक नहीं है, उसमें स्थायित्व है।

सामयिकतासे प्राण खींचकर कइयोंने रचनाएँ की हैं जो रंगीन होकर सामने आ गई हैं, पर अगर आज वह हाथों-हाथ बिकती हैं तो, हमने देखा है, कल वह मर भी जाती हैं। जो रचना शाश्वत सत्यके श्वाससे जितनी अनुप्राणित होगी, वह उतनी ही शाश्वत और अमर होगी। मायामेंसे रस खींचकर, देश और कालके प्रतिक्षण और प्रति-पग बदलते जाते हुए आदर्शों और भावोंको आधार बनाकर, सामयिकताकी लहर पर नाचती हुई जो कृति हमें लुभाने आती है, वह आज हमें लुभा ले सही, पर कल हमें ही उसकी याद भूल जायगी, इसका हम विश्वास रखें।

प्रेमचन्दजीकी कृति सामयिकताकी परिधिको लाँघकर और हिन्दी भाषाकी परिधिको लाँघकर किसी न किसी हदतक विश्व और भविष्यकी ओर बढ़ेगी। निस्संदेह, उसमें ऐसा बीज है।

नेहरू और उनकी 'कहानी'

जवाहरलालजीका जीवन-चरित मैंने मूल अँग्रेज़ीमें पढ़ा है। हिन्दी अनुवादको जहाँ-तहाँसे एक निगाह देख सका हूँ। मूलमें क्या और अनुवादमें क्या, पुस्तक तो जवाहरलालजीकी आत्म-कथा है। उधर ही हमारा लक्ष्य रहना चाहिए।

जो जवाहरलालजी राजनीतिके आँगनमें दीखते हैं, 'वही इस चरितमें घनिष्ठतासे व्यक्त होते हैं। राजनीतिमें उनके व्यक्तित्वकी एक झाँकी दीखती है। वहाँ, वह आज और कलमें बँटे हुए हैं। पुस्तकमें उनके व्यक्तित्वका वह संचित समग्र रूप व्यक्त हुआ है जो बँटा हुआ नहीं है,—जो उनके आज और कलको एक सूतमें पिरोए रखता है। जवाहरलालका जो व्यक्त रूप है उसकी विविधताको कौनसे जीवन-तत्त्व थामे हुए हैं, उसके भीतर आत्मा क्या है,—इसीको जानने और खोलनेका यत्न पुस्तकमें है। ज़िन्दगीकी घटनाओंका वर्णन नहीं है,—उस ज़िन्दगीका सिद्धान्त पानेकी कोशिश है।

अनुवादमें पुस्तकका नाम 'मेरी कहानी' है। हमारा बीता हुआ जीवन हमारे निकट 'कहानी' हो जाता है। बीती घटनाओंके प्रति हममें वासना शेष नहीं रहती, केवल भावना रहती है। उस भावनामें रस रहता है, वासनाका विष नहीं रहता। इसीलिए, बहुत पहलेकी ज़िन्दगीका शत्रु अन्तमें हमारा शत्रु नहीं रहता। आगे निकल कर शत्रु-मित्र कुछ रहता ही नहीं,—वहाँसे हम स्वयं अपने ही दर्शक बन जाते हैं। साधारणतया जीवनमें हम ही अपने प्रदर्शक

होते हैं,—अपनेको दिखाते चलते हैं और अहंकारमेंसे रस लेते रहते हैं। पर, अगर हम ज़रा अपने ऊपर ही आँखें मोड़ कर देखना शुरू करें तो दृश्य भी बदल जाता है, हमारा चित्त भी बदल जाता है। तब, जीवनका अर्थ हम स्वयं नहीं रहते। मालूम होता है, हम बस यात्री हैं और उस यात्रा-पथको चिह्नित कर जाना ही हमारा उद्देश्य था जो हम करते चले आये हैं।

इस तरह, बड़ीसे बड़ी बात 'कहानी' हो जाती है और कोई घटना अपने आपमें महत्त्व-पूर्ण अथवा सम्पूर्ण नहीं रह जाती। मालूम होता है, छोटी चीज़ क्या बड़ी चीज़ क्या, सब बस उतने अंशमें अर्थ-पूर्ण है कि जितनेमें वह हमारी पथ-यात्रामें सहायक अथवा बाधक हुई है, अन्यथा वह नहीं जैसी है।

जवाहरलालका आत्म-चरित आरंभसे ही काव्य-सा लगता है। अपना बचपन, अपना युवाकाल,—लेखक सब एक मधुर तटस्थतासे देखते और लिखते गये हैं। मानो, उस अतीतसे उनका नाता तो है, पर लगाव नहीं रह गया है। वह अपने ही अभिनयके एक ही साथ दर्शक भी हैं।

जहाँ पुरानी याद छिड़ गई है और जहाँ आलोचना है वहाँ वह स्थल अपना ही मधुर काव्य-सा जान पड़ता है। वहाँ साहित्यकी छटा है और ऐसे स्थल पुस्तकमें कम नहीं हैं। इस प्रकार, पुस्तक शुद्ध साहित्य भी है। साहित्यका लक्षण है, वह वेदनाकी वाणी जो निरी अपनी न हो, अर्थात् प्रेमकी हो। वैसी वेदना पुस्तकमें पर्याप्त है। वह ही उसे साहित्य बनाती है।

उस वेदनाको हृदयंगम करके हम फिर तनिक जवाहरलालकी जीवन-धाराकी ओर मुड़ें और स्रोतपर पहुँचें—

युवा नेहरूने जीवनमें प्रवेश किया है। उत्साह उसके मनमें है, प्रेम और प्रशंसा तथा सम्पन्नता उसके चारों ओर है और सामने विस्तृत जीवनके अनेक प्रश्न हैं,—अनेक आकांक्षाएँ और भविष्यकी यवनिकाके शनैः शनैः खुलनेकी प्रतीक्षा है। अभी तो वह अज्ञेय है, अँधेरा है।

जवान नेहरू आशासे भरा है। आशा है, इसीलिए असंतोष है। भविष्यके प्रति उत्कंठा है, क्योंकि वर्तमानसे तीव्र अतृप्ति है। वह विलायतमें रहा है, वहीं पला है। जानता है, आज़ादी क्या होती है। जानता है, ज़िन्दगी क्या होती है। साहित्य पढ़ा है और उसके मनमें स्वप्न हैं। लेकिन, अब यही आदमी हिन्दुस्तानमें क्या देखता है? देखता है गुलामी! देखता है गंदगी!! देखता है निपट ग़रीबी!!! उसके मनमें हुआ कि यह क्या अन्धेर है? यह क्या ग़जब है?—उसका मन छटपटाने लगा। ऐसे और भी युवा थे जो परेशान थे।—जहाँ-तहाँ राष्ट्रीय यत्न चल रहे थे। वह इधर गया उधर मिला, पर कहीं तृप्ति नहीं मिली। ये लोग और ऐसे स्वराज्य लेंगे?—वह अशान्त रहने लगा। जिनका प्रशंसक था उनकी आलोचना उसके मनमें जागने लगी। वह युवक था आदर्शोन्मुख, अधीर, सम्पन्न और विद्वान्। कुछ वह चाहने लगा जो वास्तव इतना न हो जितना स्वप्न हो। पर, स्वप्न तो अशरीर होता है और मानव सशरीर। स्वप्न भला कब कब देह धारण करते हैं? लेकिन, इस जवाहरका मन उसीकी माँग करने लगा। उसके छटपटाते मनने कहा कि ये

उदार,—लिबरल लोग बूढ़े हैं। ये क्रान्तिकारी लोग बच्चे हैं। होमरूलमें क्या है? समाज-सुधारसे न चलेगा। ये छोटे छोटे यत्न क्या काम आयेंगे?—अरे! कुछ और चाहिए, कुछ और!—बैरिस्टर जवाहरकी सम्पन्नता और उसकी पढ़ाईने उसमें भूख लहकाई—कुछ और, कुछ और!!

और जवाहरलालको वह 'कुछ और' भी मिला। स्वप्न चाहता था, वह स्वप्न भी मिला! जवाहरलालको गाँधी मिला!!

जवाहरलालने अपने पूरे बलसे गाँधीका साथ पकड़ लिया। साथ पकड़े रहा, पकड़े रहा। पर गाँधी यात्री था। जवाहरने अपने रास्तेपर गाँधीको पाया हो और, इस तरह, उसे अपने ही मार्गपर गाँधीका साथ मिल गया हो, ऐसी तो बात नहीं थी। इसलिए, थोड़ी ही दूर चलनेपर जवाहरलालके मनमें उठने लगा, 'हैं, यह क्या' मैं कहाँ जा रहा हूँ? क्या यही रास्ता है? यह आदमी कहाँ लिये जा रहा है? हैं, यह आदमी सच्चा जादूगर भी है! लेकिन, मुझे तो सँभलना चाहिए।

गाँधीका साथ तो पकड़े रहा, लेकिन, शंकाएँ उसके मनमें गहरा घर करने लगीं। लेकिन, जब साथ पकड़ा, तो छोड़नेवाला जवाहरलाल नहीं। हो जो हो। और वह अपनी शंकाओंको अपने मनमें ही घोंट घोंट कर पीनेका यत्न करने लगा।

उसके मनमें क्लेश हो आया। शंकाएँ दावे न दबती थीं। उसने आखिर लाचार हो जादूगर गाँधीसे कहा—ठहरो, ज़रा मुझे बताओ कि यह क्या है? और वह क्या है? आओ, हम ज़रा ठहर कर सफ़रके बारेमें समझ-बूझ तो लें!

गाँधीने कहा—यह तो यह है; और वह वह है। मैं जानता हूँ, सब ठीक है। पर ठहरो नहीं, चले चलो।

जवाहरने कहा—ठहरो! ठहरो!! बिना समझे-बूझे मैं नहीं चलूँगा।

गाँधीने कहा—यह बहुत ज़रूरी बात है। ज़रूर समझ-बूझ लो। लेकिन मैं चला।

गाँधी रुका था कि चल पड़ा। जवाहरलालने कहा—चलनेमें मैं पीछे नहीं हूँ, लो, मैं भी साथ हूँ। लेकिन, समझूँ बूझूँगा ज़रूर।

गाँधीने चलते चलते कहा—हाँ! हाँ!! ज़रूर!

लेकिन, जवाहरलालकी मुश्किल तो यह थी कि गाँधीका धर्म उसका धर्म नहीं था। गाँधी बड़ी दूरसे चला आ रहा था। जानता था कि किस राह जा रहा हूँ और कहाँ जा रहा हूँ। जवाहरलाल परेशान, जानेके लिए अधीर, एक जगह किसी स्वप्न-दूतकी राह देख रहा था। उसने कोई राह नहीं पाई थी कि आया गाँधी। और जवाहर उसी राह हो लिया। पर, उस राहपर उसे तृप्ति मिलती तो कैसे? *हरेकको अपना मोक्ष आप बनाना होता है। इससे, अपनी राह भी आप बनानी होती है, यह तो सदाका नियम है।* इसलिए, चलते चलते एकाएक अटक कर जवाहरलालने गाँधीसे कहा—नहीं! नहीं!! नहीं!!! मैं पहले समझ लूँगा और बूझ लूँगा। सुनो तो, इकोनॉमिक्स यह कहती है और पॉलिटिक्स वह। अब बताओ, हम क्यों न समझ-बूझ लें?

गाँधीने कहा—ज़रूर समझ लो और ज़रूर बूझ लो। इकोनॉमिक्सकी बात भी सुनो। पर रुकना कैसा? मेरी राह लम्बी है!

जवाहरलालने कहा—मैं बच्चा नहीं हूँ।

गाँधीने कहा—तुम वीर हो।

जवाहरलालने कहा—मैं हारा नहीं हूँ, चलना नहीं छोड़ूँगा।

गाँधीने कहा—चले तो चलो।

वह यात्रा तो हो ही रही है। लेकिन, जवाहरलालके मनकी पीड़ा बढ़ जाती है। उसके भीतरका क्लेश भीतर समाता नहीं है।—गाँधी स्वप्न-पुरुषकी भाँति उसे मिला। अब भी वह जादूगर है!.... लेकिन, अरे! यह क्या बात है? देखो, पॉलिटिक्स यह कहती है, इकोनॉमिक्स वह कहती है। और गाँधी कहता है, धर्म। धर्म? दकियानूसी बात है कि नहीं?....है गाँधी महान्, लेकिन, आखिर तो आदमी है। पूरी तरह पढ़ने-पढ़ानेका उसे समय भी तो नहीं मिला। इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स ज़रा वह कम समझे, इसमें अचरजकी बात क्या है?....और हाँ, कहीं यह रास्ता तो गलत नहीं है?.... पॉलिटिक्स....इकोनॉमिक्स....लेकिन गाँधी महान् है, सच्चा नेता है।

जवाहरलालने कहा—गाँधी, सुनो, तुम्हें ठहरना ज़रूर पड़ेगा। हमारे पीछे लाखोंकी भीड़,—यह कांग्रेस, आ रही है। तुम और हम चाहे गड्ढेमें जायँ, लेकिन कांग्रेसको गड्ढेमें नहीं भेज सकते। बताओ, यह तुम्हारा स्वराज्य क्या है जहाँ हम सबको लिये जा रहे हो?

गाँधीने कहा—लेकिन ठहरो नहीं, चलते चलो। हाँ, स्वराज्य? वह राम-राज्य है।

—राम-राज्य! लेकिन हमको तो स्वराज्य चाहिए,—आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक...।

—हाँ ! हाँ ! ! ठीक तो है, आर्थिक, राजनीतिक....पर धीमे न पड़ो, चले चलो।

—धीमे ? लेकिन, आपका रास्ता ही ग़लत हो तो ?

—सही होनेकी श्रद्धा नहीं है तो अवश्य दूसरा रास्ता देख लो। मैं जा रहा हूँ।

जवाहरलाल समझने-बूझनेको ठहर गया। गाँधी अपनी राह कुछ आगे बढ़ गया। जवाहरलालने चिल्लाकर कहा—लेकिन सुनो ! अरे ज़रा सुनो तो ! ! तुम्हारा रास्ता ग़लत है। मुझे थोड़ा थोड़ा सही रास्ता दीखने लगा है।

गाँधीने कहा—हाँ होगा, लेकिन जवाहर, मुझे लम्बी राह तय करनी है। तुम मुझे बहुत याद रहोगे।

जवाहरलालको एक गुरु मिला था, एक साथी। वह कितना जवाहरलालके मनमें बस गया था ! उसका प्यार जवाहरलालके मनमें ऐसा ज़िन्दा है कि खुद उसकी जान भी उतनी नहीं है। उसका साथ अब छूट गया है।—लेकिन, राह तो वह नहीं है, दूसरी है,—यह बात भी उसके मनके भीतर बोल रही है। वह ऐसे बोल रही है जैसे बुखारमें नब्ज़। वह करे तो क्या करे !

इतनेमें पीछेसे काँग्रेसकी भीड़ आ गई।

पूछा—जवाहर, क्या बात है ? हाँफ क्यों रहे हो ? रुक क्यों गये ?

जवाहरलालने कहा—रास्ता यह नहीं है।

भीड़के एक भागने कहा—लेकिन, गाँधी तो वह जा रहा है !

जवाहरलालने कहा—हाँ, जा रहा है। गाँधी महान् है। लेकिन, रास्ता यह नहीं है। पॉलिटिक्स और कहती है।

भीड़मेंसे कुछ लोगोंने कहा—ठीक तो है। रास्ता यह नहीं है। हम पहलेसे जानते थे, आओ जरा सुस्ता लें, फिर लौटेंगे।

जवाहरलालने कहा—हाँ, रास्ता तो यह नहीं है और आओ जरा सुस्ता भी लें। पर लौटना कैसा? देखो, दायें हाथ रास्ता जाता है।—इधर चलना है।

भीड़मेंसे कुछ लोगोंने कहा—लेकिन गाँधी...?

जवाहरलालका कण्ठ आर्द्र हो आया। बड़ी कठिनाईसे उसने कहा—गाँधी महान् है, लेकिन रास्ता...

आगे जवाहरलालसे न बोला गया। वाणी रुक गई, आँखोंमें आँसू आ गये।

इसपर लोगोंने कहा—जवाहरलालकी जय!

कुछने वही पुराना घोष उठाया—गाँधीकी जय!

और गाँधी उसी रास्तेपर आगे चला जा रहा था जहाँ इन जयकारोंकी आवाज़ थोड़ी थोड़ी ही उस तक पहुँच सकी।

ऊपरके कल्पना-चित्रसे जवाहरलालकी व्यथाका अनुभव हमें लग सकता है। उस व्यथाकी कीमत प्रतिक्षण उसे देनी पड़ रही है, इसीसे जवाहरलाल महान् है। उस व्यथाकी ध्वनि पुस्तकमें व्यापी है, इसीसे पुस्तक भी साहित्य है। जिसकी ओर बरबस मन उसका खिंचता है, उसीसे बुद्धिकी लड़ाई ठन पड़ी है। शायद, भीतर जानता है, यह सब बुद्धि-युद्ध व्यर्थ है, लेकिन व्यर्थताका चक्कर एकाएक कटता भी तो नहीं। बुद्धिका फेर ही जो है। आज उसीके व्यूहमें घुसकर योद्धाकी भाँति जवाहरलाल युद्ध कर रहा है, पर निकलना नहीं जानता।

यहाँ मुझे अपने ही वे शब्द याद आते हैं जो न जाने कहाँ लिखे थे—
" While Gandhi is a consummation, Jawaharlal is a noble piece of tragedy. Describe Gandhi as inhuman if you please, but Jawaharlal is human to the core. May be, he is concertingly so."

जहाँसे जवाहरलाल दूसरी राह टटोलते हैं और अपना मत-भेद स्पष्ट करते दीखते हैं, उसी स्थलसे पुस्तक कहानी हो जाती है। वहाँ जैसे लेखकमें अपने प्रति तटस्थता नहीं है। वहाँ लेखक मानो पाठकसे प्रत्याशा रखता है कि जिसे मैं सही समझता हूँ, उसे तुम भी सही समझो, जिसे ग़लत कहता हूँ उसे ग़लत। वहाँ लेखक दर्शक ही नहीं, प्रदर्शक भी है। वहाँ भावनासे आगे बढ़कर वासना भी आ जाती है। यों वासना किसमें नहीं होती?—वह मानवका हक़ है। लेकिन, लेखकका अपनी कृतिमें वासना-हीनका ही नाता खरा नाता है। वही आर्टीस्टिक है। जवाहरलालकी कृतिमें वह आ गया है जो इनार्टिस्टिक है, असुन्दर है। आधुनिक राजनीति (या कहो कांग्रेस-राजनीति) में जिस समयसे अधिकारपूर्वक प्रवेश करते हैं, उसी समयसे अपने जीवनके पर्यवेक्षणमें लेखक जवाहरलाल उतने निस्संग नहीं दीखते।

आत्म-चरित लिखना एक प्रकारसे आत्म-दानका ही रूप है। नहीं तो, मुझे किसीके जीवनकी घटनाओंको जानने अथवा अपने जीवनकी घटनाओंको जतानेसे क्या फायदा? परिस्थितियाँ सबकी अलग होती हैं। इससे घटनाएँ भी सबके जीवनमें एक-सी नहीं घट सकतीं। लेकिन, फिर भी, फायदा है। वह फायदा यह है कि दूसरेके जीवनमें हम अपने जीवनकी झाँकी लेते हैं। जीवन-तत्त्व

सब जगह एक है और हर एक ज़िन्दगीमें वह है जो हमें लाभ दे सके। वस्तुतः जीवन एक क्रीड़ा है। सबका पार्ट अलग अलग है। फिर भी, एकका दूसरेसे नाता है। लेकिन, यदि एक दूसरेसे कुछ पा सकता है तो वह उसका आत्मानुभव ही, अहंता नहीं।

इस भाँति, आत्म-चरित अपनी अनुभूतियोंका समर्पण है। जवाहर-लालजीका आत्म-चरित सम्पूर्णतः वह ही नहीं है। उसके समर्पणके साथ आरोप भी है, आग्रह भी है। लेखककी अपनी अनुभूतियाँ ही नहीं दी गई हैं,—अपने अभिमत, अपने विधि-निषेध, अपने मत-विश्वास भी दिये गये हैं और इस भाँति दिये गये हैं कि वे स्वयं इतने सामने आ जाते हैं कि लेखकका व्यक्तित्व पीछे रह जाता है।

यहाँ क्या एक बात मैं कहूँ? ऐसा लगता है कि विधाताने जवाहरलालमें प्राणोंकी जितनी श्रेष्ठ पूँजी रक्खी उसके अनुकूल परिस्थितियाँ देनेकी कृपा उसने उनके प्रति नहीं की। परिस्थितियोंकी जो सुविधा जन-सामान्यको मिलती है, उससे जवाहरलालको वंचित रक्खा गया है। जवाहरलालजीको वाजिब शिकायत हो सकती है कि उन्हें ऊँचे घराने और सब सुख-सुविधाओंके बीच क्यों पैदा किया गया? इस दुर्भाग्यके लिए जवाहरलाल सचमुच रुष्ट हो सकते हैं और कोई उन्हें दोष नहीं दे सकता। इस खुश और बद-नसीबीका परिणाम आज भी उनके व्यक्तित्वमेंसे धुलकर साफ नहीं हो सका है।

वह हठीले समाजवादी हैं,—इतने राजनीतिक हैं कि बिल्कुल देहाती नहीं हैं।—सो क्यों? इसीलिए तो नहीं कि अपनी सम्पन्नता

और कुलीनताके विरुद्ध उनके मनमें चुनौती भरी रहती है ? वह व्यक्तित्वमें उनके हल नहीं हो सकी है, फूटती रहती है और उन्हें बेचैन रखती है।

बीससे चौबीस वर्ष तककी अवस्थाका युवक सामान्यतया अपनेको दुनियाके आमने-सामने पाता है। उसे झगड़ना पड़ता है तब जीना उसके लिए सम्भव होता है। दुनिया उसको उपेक्षा देती है और उसकी टक्करसे उस युवामें आत्म-जागृति उत्पन्न होती है। चाहे तो वह युवक इस संघर्षमें डूब सकता है चाहे चमक सकता है।

इतिहासके महापुरुषोंमें एक भी उदाहरण ऐसा नहीं है जहाँ विधाताने उन्हें ऐसे जीवन-संघर्षका और विपत्तियोंका दान देनेमें अपनी ओरसे कंजूसी की हो। पर, मैं क्या आज विधातासे पूछ सकता हूँ कि जवाहरलालको आत्मा देकर, जवाहरलालकी किस भूलसे, उसने लाड़-प्यार और प्रशंसा-स्वीकृतिके वातावरणमें पनपनेको लाचार किया ? मैं कहता हूँ, विधनाने यह छल किया।

परिणाम शायद यह है कि जवाहरलाल पूरी तरह स्वयं नहीं हो सके। वह इतने व्यक्तित्व नहीं हो सके कि व्यक्ति रहें ही नहीं। थियरी उनको नहीं पाने चलती, वही उसको खोजते हैं। शास्त्रीय ज्ञानकी टेकन उनकी टेकन है,—हाँ, शास्त्र आधुनिक हैं। (पुस्तकमें कितने और कैसे कमालके रेफरेन्स और उदाहरण हैं!) शास्त्र उनके मस्तकमें है, दिलमें नहीं। दिलमें शास्त्रका सार ही पहुँचता है, बाकी छूट जाता है। इसीसे, अनजानमें वह शास्त्रके प्रति अवज्ञा-शील हो जाते हैं। एक 'इज़्म'का सहारा लेते हैं, दूसरे 'इज़्मों' पर

प्रहार करते हैं। सच यह है कि वह पूरे जवाहरलाल नहीं हो सके हैं तभी एक 'इस्ट' (सोशलिस्ट) हैं और, ध्यान रहे, वह पैतृक 'इज़्म' नहीं है।

चूँकि उन समस्याओंसे उन्हें सामना नहीं करना पड़ा जो आये दिनकी आदमीकी बहुत क़रीबकी समस्याएँ हैं, इसीसे उनके मनमें जीवन-समस्याओंके अतिरिक्त और अलग तरहकी बौद्धिक समस्याएँ घिर आईं।

आदमीका मन और बुद्धि खाली नहीं रहते। सचमुचकी उन्हें उलझन नहीं है, तो वह कुछ उलझन बना लेते हैं। जीवन-समस्या नहीं तो बुद्धि-समस्याको वे बौद्धिक रूप ही दे देते हैं। क्या यह इसीसे है कि उनकी बौद्धिक चिन्ता रोटी और कपड़ेके राजनीतिक प्रोग्रामसे ज्यादा उलझी रहती है,—क्योंकि, रोटी और कपड़ेकी समस्याके साथ उनका रोमांसका सम्बन्ध है।

स्थूल अभावका जीवन उनके लिए रोमांस है। क्या ऐसा इसीलिए है कि उनका व्यावहारिक जीवन जब कि देहाती नहीं है तब बुद्धि उसी देहातके स्थूल जीवनकी ओर लगी रहती है? और लोग तो चलते धरतीपर हैं, कल्पना आस्मानी करते हैं! जवाहलालजीके साथ ही यह नियम नहीं है। क्या हम विधातासे पूछ सकते हैं कि यह विषमता क्यों है?

जवाहरलालजीको देखकर मन प्रशंसासे भर जाता है। पुस्तक पढ़कर भी मन कुछ सहमे बिना न रहा। जब उस चहरेपर झल्लाहट देखता हूँ, जानता हूँ कि इसके पीछे ही पीछे मुस्कराहट आ रही है।

पर उनका मुस्काराता चेहरा देखकर भय-सा होता है कि अगली ही घड़ी इन्हें कहीं झींकना तो नहीं पड़ेगा !

पुस्तकमें उसी रईस और कुलीन, लेकिन मिलनसार, वेदनामें भीनी, खुली और साफ़ तबीयतकी झलक मिलती है। मनका खोट कहीं नहीं है, पर मिज़ाज जगह जगह है।

निकट भूत और वर्तमान जीवनके प्रति असंलग्नता पुस्तकमें प्रमाणित नहीं हुई है, फिर भी, एक विशेष प्रकारकी हृदयकी सचाई यहाँसे वहाँ तक व्याप्त है।

पुस्तकमें अन्तकी ओर खासे लम्बे विवेचन और विवाद हैं। हमारे अधिकतर विवाद शब्दोंका झमेला होते हैं। जब तक मतियाँ भिन्न हैं, तब तक एक शब्दका अर्थ एक हो ही नहीं सकता। सजीव शब्द अनेकार्थवाची हुए विना जियेगा कैसे? यह न हो तो वह शब्द सजीव कैसा? पर जवाहरलालजी इसी कथनपर विवादपर उतारू हो सकते हैं। उन्होंने एक लेखमें लिख भी दिया था कि एक शब्द दिमाग़पर एक तस्वीर छोड़ता है और उसे एक ओर स्पष्टार्थवाची होना चाहिए वग़ैरह वग़ैरह....। पर, वह बात उनकी अपनी अनुभूत नहीं हो सकती। सुननेमें भी वह किताबी है। इसलिए, उन विद्वत्तापूर्वक किये गये विवादोंको हम छोड़ दें। यह अपनी अपनी समझका प्रश्न है। कोई नहीं कह सकता है कि जवाहरलाल ग़लत हैं, चाहे वह यही कहें कि वह और वही सही हैं।

जवाहरलालजी आजकी भारतकी राजनीतिमें जीवित शक्ति हैं। उनके विश्वास रेखाबद्ध हों, पर वे गहरे हैं। कहनेको मुझे यही हो सकता है कि रेखाबद्ध होनेसे उनकी शक्ति बढ़ती नहीं घटती है,

और स्वरूप साफ़ नहीं विकृत होता है। उसपर वह कर्म-तत्पर भी हैं। विभेद उनके राजनीतिक कर्मकी शिला है। वे जन्मसे ब्राह्मण, वर्गसे क्षत्रिय हैं, पर मन उनका अत्यन्त मानवीय है। सूर्योदयकी वेलाके प्रभातमें भी उन्हें प्रीति है। पशु-पक्षियोंमें, वनस्पतियोंमें, प्रकृतिमें, तारोंसे चमक जानेवाली अँधेरी-उजली रातोंमें, भविष्यमें, इस अज्ञेय और अजेय शक्तिमें, जो है और नहीं भी है,—इन सबमें भी जवाहरलालजीका मन प्रीति और रस लेता है। उस मनमें कट्टरता हो, पर जिज्ञासा भी गहरी भरी है। वही जिज्ञासासे भीना स्नेहका रस जब तनिक तनिक अविश्वस्त उनकी मुस्कराहटमें फूटता है, तब कट्टरता भी अमृतमें नहा जाती है। वह नेता हैं और चाहे पार्टी राजनीतिक भी हो, पर यह सब तो बाहरी और ऊपरी बातें हैं। जवाहरलालजीका असली मूल्य तो इसमें है कि वह तत्पर और जाग्रत् व्यक्ति हैं। उस निर्मम तत्परता और जिज्ञासु जागृतिकी छाप पुस्तकमें है और इसीसे पुस्तक सुन्दर और स्थायी साहित्यकी गणनामें रह जायगी।

~~~~~~~~
~~~~~~~~

आप क्या करते हैं ?

जब पहले पहल दो व्यक्ति मिलते हैं तो परस्पर पूछते हैं, 'आपका शुभ नाम ?' नामके बाद अगर आगे बढ़नेकी वृत्ति हुई तो पूछते हैं, 'आप क्या करते हैं ?'

'क्या करते हैं ?' इसके जवाबमें एक दूसरेको मालूम होता है कि उनमेंसे एक वकील है, दूसरा डाक्टर है। इसी तरह वे आपसमें दूकानदार, मुलाजिम, अध्यापक, इंजीनियर आदि आदि हुआ करते हैं।

पर इस तरहके प्रश्नके जवाबमें मैं हक्का-बक्का रह जाता हूँ। मैं डाक्टर भी नहीं हूँ, वकील भी नहीं हूँ, कुछ भी ऐसा नहीं हूँ जिसको कोई संज्ञा ठीक ठीक ढँक सके। बस वही हूँ जो मेरा नाम है। मेरा नाम दयाराम है तो दयाराम मैं हूँ। नाम रहीमबख्श होता तो मैं रहीमबख्श होता। 'दयाराम' शब्दके कुछ भी अर्थ होते हों, और 'रहीमबख्श'के भी जो चाहे माने हों, मेरा उनके मतलबसे कोई मतलब नहीं है। मैं जो भी हूँ वही बना रहकर दयाराम या रहीमबख्श रहूँगा। मेरा सम्पूर्ण और सच्चा परिचय इन नामोंसे आगे होकर नहीं रहता, न भिन्न होकर रहता है। इन नामोंके शब्दोंके अर्थतक भी वह परिचय नहीं जाता। क्योंकि, नाम नाम है, यानी, वह ऐसी वस्तु है जिसका अपना आपा कुछ भी नहीं है। इसलिए, उस नामके भीतर सम्पूर्णतासे मैं ही हो गया हूँ।

ख़ैर, वह बात छोड़िए। मुझसे पूछा गया, 'आपका शुभ

नाम ?' मैंने बता दिया—'दयाराम'। दयाका या और किसीका राम मैं किसी प्रकार भी नहीं हूँ। पर किसी अतर्क्य पद्धतिसे मेरे दयाराम हो रहनेसे उन पूछनेवाले मेरे नए मित्रको मेरे साथ व्यवहार-वर्णन करनेमें सुभीता हो जायगा। जहाँ मैं दीखा, बड़ी आसानीसे पुकार कर वह पूछ लेंगे, 'कहो दयाराम, क्या हाल है ?' और मैं भी बड़ी आसानीसे दयारामके नामपर हँस-बोल कर उन्हें अपना या इधर-उधरका जो हाल-चाल होगा बता दूँगा।

यहाँतक तो सब ठीक है। लेकिन, जब यह नए मित्र आगे बढ़ कर पूछते हैं, 'भाई, करते क्या हो ?' तब मुझे मालूम होता है कि यह तो मैं भी जानना चाहता हूँ कि क्या करूँ ? 'क्या करूँ' का प्रश्न तो मुझे अपने पग-पग आगे बैठा दीखता है। जी होता है, पूछूँ, 'क्या आप बताइएगा, क्या करूँ ?' मैं क्या क्या बताऊँ कि आज यह यह किया।—सबेरे पाँच बजे उठा; छह बजे घूम कर आया; फिर बच्चेको पढ़ाया; फिर अखबार पढ़ा; फिर बगीचेकी क्यारियाँ सींचीं; फिर नहाया, नाश्ता किया,—फिर यह किया, फिर वह किया। इस तरह अब तीन बजेतक कुछ न कुछ तो मुझसे होता ही रहा है, यानी मैं करता ही रहा हूँ। अब तीसरे पहरके तीन बजे यह जो मिले हैं नए मित्र, तो इनके सवालपर क्या मैं इन्हें सबेरे पाँचसे अब तीन बजेतककी अपनी सब कार्रवाइयोंका बखान सुना जाऊँ? लेकिन, शायद, यह वह नहीं चाहते। ऐसा मैं करूँ तो शायद हमारी उगती हुई मित्रता सदाके लिए वहीं अस्त हो जाय। यदि उनका अभिप्राय वह जानना है जो उनके प्रश्न पूछनेके समय मैं कर रहा हूँ, तो साफ है कि मैं उनका प्रश्न सुन

रहा हूँ और ताज्जुब कर रहा हूँ। तब क्या यह कह पड़ूँ कि, 'मित्रवर, मैं आपकी बात सुन रहा हूँ और ताज्जुब कर रहा हूँ।' नहीं, ऐसा कहना ठीक न होगा। मित्र इससे कुछ समझेंगे तो नहीं, उल्टा बुरा मानेंगे। दयाराम मूर्ख तो हो सकता है, पर बुरा होना नहीं चाहता। इसलिए, उस प्रश्नके जवाबमें मैं, मूर्खका मूर्ख, कोरी निगाहसे बस उन्हें देखता रह जाता हूँ।—बल्कि, थोड़ा-बहुत और भी अतिरिक्त मूढ़ बनकर लाजमें सकुच जाता हूँ। पूछना चाहता हूँ कि 'कृपया आप बता सकते हैं कि मैं क्या करूँ?—यानी क्या कहूँ कि यह करता हूँ?'

किन्तु, यह सौभाग्यकी बात है कि मित्र अधिकतर कृपापूर्वक यह जान कर संतुष्ट होते हैं कि दयाराम मेरा ही नाम है। वह नाम अखबारोंमें कभी कभी छपा भी करता है। इससे, दयाराम होनेके बहाने मैं बच जाता हूँ। यह नामकी महिमा है। नहीं तो, दिनमें जाने कितनी बार मुझे अपनी मूढ़ताका सामना करना पड़े।

आज अपने भाग्यके व्यंग्यपर मैं बहुत विस्मित हूँ। किस बड़भागी पिताने इस दुर्भागी बेटेका नाम रक्खा था 'दयाराम'। उन्हें पा सकूँ तो कहूँ, 'पिता, तुम खूब हो! बेटा तो डूबने ही योग्य था, किंतु तुम्हारे दिये नामसे ही वह भोला, चतुर मित्रोंसे भरे, इस दुनियाके सागरमें उतराता हुआ जी रहा है। उसी नामसे वह तर जाय तो तर भी जाय। नहीं तो, डूबना ही उसके भाग्यमें था। पिता, तुम जहाँ हो, मेरा प्रणाम लो। पिता, मेरा विनीत प्रणाम ले लो। उस प्रणामकी कृतज्ञताके भरोसे ही, उसीके लिए, मैं जी रहा हूँ, जीना भी चाहता हूँ पिता, नहीं तो, मैं एकदम मतिमंद हूँ और जाने क्यों जीने-लायक हूँ!'

पर आपसे बात करते समय पिताकी बात छोड़ूँ। अपने इस जीवनमें मैंने उन्हें सदा खोया पाया। रो-रोकर उन्हें याद करनेसे आपका क्या लाभ? और आपको क्या, मुझे क्या—दोनोंको आपके लाभकी बात करनी चाहिए।

तो मैंने कहा, 'कृपापूर्वक बताइए, क्या करूँ? बहुत भटका, पर मैंने जाना कुछ नहीं। आप मिले हैं, अब आप बता दीजिए।'

उन नए मित्रने बताया कुछ नहीं, वे बिना बोले आगे बढ़ गये। मैं भी चला। आगे उन्हें एक अन्य व्यक्ति मिले। पूछा, 'आप क्या करते हैं?'

उत्तर मिला, 'मैं डाक्टर हूँ।'

सज्जन मित्रने कहा, 'ओः आप डाक्टर हैं! बड़ी खुशी हुई। नमस्ते डाक्टरजी, नमस्ते। खूब दर्शन हुए। कभी मकानपर दर्शन दीजिए न।—जी हाँ, यह लीजिए मेरा कार्ड।....रोडपर....कोठी है। —जी हाँ, आपकी ही है। पधारिएगा। कृपा कृपा। अच्छा, नमस्ते।'

मुझे इन उद्गारोंपर बहुत प्रसन्नता हुई। किन्तु, मुझे प्रतीत हुआ कि मेरे दयाराम होनेसे उन व्यक्तिका डाक्टर होना किसी कदर अधिक ठीक बात है। लेकिन, दयाराम होना भी कोई ग़लत बात तो नहीं है!

किन्तु, मित्रवर कुछ आगे बढ़ गये थे। मैं भी चला। एक तीसरे व्यक्ति मिले। कोठीवाले मित्रने नाम-परिचयके बाद पूछा, 'आप क्या करते हैं?'

'वकील हूँ।'

'ओः वकील हैं! बड़ी प्रसन्नताके समाचार हैं। नमस्ते, वकील

साहब नमस्ते। मिलकर भाग्य धन्य हुए। मेरे वहनोईका भतीजा इस साल लॉ फाइनलमें है। मेरे लायक खिदमत हो तो बतलाइए। जी हाँ, आपहीकी कोठी है। कभी पधारिएगा। अच्छा जी नमस्ते, नमस्ते नमस्ते।'

इस हर्षोद्गारपर मैं प्रसन्न ही हो सकता था। किन्तु, मुझे लगा कि बीचमें वकीलताके आ उपस्थित होनेके कारण दोनोंकी मित्रताकी राह सुगम हो गई है।

यह तो ठीक है। डॉक्टर या वकील या और कोई पेशेवर होकर व्यक्तिकी मित्रताकी पात्रता बढ़ जाय इसमें मुझे क्या आपत्ति? इस संबंधमें मेरी अपनी अपात्रता मेरे निकट इतनी सुस्पष्ट प्रकट है, और वह इतनी निविड़ है कि उस बारेमें मेरे मनमें कोई चिंता ही नहीं रह गई है। लेकिन, मुझे रह-रहकर एक बातपर अचरज होता है। प्रश्न जो पूछा गया था वह तो यह था कि, 'आप क्या करते हैं?' उत्तरमें डाक्टर और वकीलने कहा कि वे डाक्टर और वकील हैं। मुझे अब अचरज यह है कि उन प्रश्नकर्त्ता मित्रने मुड़कर फिर क्यों नहीं पूछा कि, 'यह तो ठीक है कि आप डाक्टर और वकील हैं। आप डाक्टर रहिए, आप वकील रहिए। लेकिन, कृपया, आप करते क्या हैं?'

समझमें नहीं आता कि प्रश्नकर्ता मित्रने अपने प्रश्नको फिर क्यों नहीं दोहराया, लेकिन, मतिमूढ़ मैं क्या जानूँ? प्रश्नकर्त्ता तो मुझ जैसे कमसमझ नहीं रहे होंगे। इसलिए, डाक्टर और वकीलवाला जवाब पाकर वह असली भेदकी बात समझ गये होंगे। लेकिन, वह असली बात क्या है?

ख़ैर, इन उदाहरणोंसे कामकी सीख लेकर मैं आगे बढ़ा। राहमें एक सदभिप्राय सज्जन मिले जिन्होंने पूछा—

'आपका शुभ नाम?'

'दयाराम।'

'आप क्या करते हैं?'

'मैं कायस्थ हूँ, श्रीवास्तव।'

'जी नहीं, आप करते क्या हैं?'

'मैं श्रीवास्तव कायस्थ हूँ। पाँच बजे उठा था, छः बजे घूम कर लौटा, फिर...और फिर...'

लेकिन, देखता क्या हूँ कि वह सज्जन तो मुझे बोलता ही हुआ छोड़कर आगे बढ़ गये हैं, पीछे घूमकर देखना भी नहीं चाहते। मैंने अपना कपाल ठोक लिया। यह तो मैं जानता हूँ कि मैं मूढ़ हूँ। बिलकुल निकम्मा आदमी हूँ। लेकिन, मेरे श्रीवास्तव होनेमें क्या गलती है? कोई वकील है, कोई डाक्टर है। मैं वकील नहीं हूँ, डाक्टर भी नहीं हूँ। लेकिन, मैं श्रीवास्तव तो हूँ। इस बातकी तसदीक दे और दिला सकता हूँ। अखबार वाले 'दयाराम श्रीवास्तव' छाप कर मेरा श्रीवास्तव होना मानते हैं। मतलब यह नहीं कि मेरी श्री वास्तव है, न यही कि कोई वास्तव श्री मुझमें है; लेकिन जो मेरे पिता थे वही मेरे पिता थे। और वह मुझे अकाट्य रूपसे श्रीवास्तव छोड़ गये हैं। जब यह बात बिलकुल निर्विवाद है तो मेरे श्रीवास्तव होनेकी सत्यताको जानकर नए परिचित वैसे ही आश्वस्त क्यों नहीं होते जैसे किसीके वकील या डाक्टर होनेकी सूचनापर आश्वस्त होते हैं?

'आप क्या करते हैं ?'

'मैं डाक्टर हूँ।'

'आप क्या करते हैं ?'

'मैं वकील हूँ।'

'तुम क्या करते हो ?'

'मैं श्रीवास्तव हूँ।'

मैं श्रीवास्तव तो हूँ ही। इसमें रत्ती-भर झूठ नहीं है। फिर, मेरी तरहका जवाब देनेपर वकील और डाक्टर भी बेवकूफ क्यों नहीं समझे जाते ?

वे लोग मेरे जैसे, अर्थात् बेवकूफ़, नहीं हैं यह तो मैं अच्छी तरह जानता हूँ। तब फिर उनके वकील होनेसे भी अधिक मैं श्रीवास्तव होकर बेवकूफ़ किस बहाने समझ लिया जाता हूँ, यह मैं जानना चाहता हूँ।

'मूर्ख !' एक सद्गुरुने कहा, 'तू कुछ नहीं समझता। अरे, डाक्टर डाक्टरी करता है, वकील वकालत करता है। तू क्या श्रीवास्तवी करता है ?'

यह बात तो ठीक है कि मैं किसी 'श्री' की कोई 'वास्तवी' नहीं करता। लेकिन, सद्गुरुके ज्ञानसे मुझमें बोध नहीं जागा। मैंने कहा, 'जी, मैं कोई श्रीवास्तवी नहीं करता हूँ। लेकिन, वह वकालत क्या है जिसको वकील करता है ? और वह डाक्टरी क्या है जिसको डाक्टर करता है ?'

'अरे मूढ़ !' उन्होंने कहा, 'तू यह भी नहीं जानता ! अदालत जानता है कि नहीं ? अस्पताल जानता है कि नहीं ?'

'हाँ', मैंने कहा, 'वह तो जानता हूँ।'

'तो बस' गुरूने कहा, 'अदालतमें वकील वक़ालत करता है। अस्पतालमें डाक्टर डाक्टरी करता है।'

'अजी, तो वकालतको वह 'करता' क्या है! जैसे मैं खाना खाता हूँ, यानी, खानेको मैं खा लेता हूँ, वैसे वह वकालतको क्या करता है?'

'अरे तू है मूढ़!' उन्होंने कहा, 'सुन, वह अदालतके हाकिमसे बोलता है, बतलाता है, बहस करता है, कानूनी बात निकालता है। कानूनमें फँसे लोगोंकी वही तो सार-सँभाल करता है!'

'तो यह बात है कि वह बात करता है, बतलाता है, बहस करता है। कानूनकी बात निकालता है, उसके सताए आदमियोंकी मदद करता है। लेकिन, आप तो कहते थे कि वह 'वकालत' करता है! वकालतमें बात ही तो करता है! फिर, 'वकालत' कहाँ हुई?—बात हुई। बात तो मैं भी कर रहा हूँ। क्यों जी?'

उन्होंने झल्लाकर कहा, 'अरे, इस सब कामको ही वकालत कहते हैं।'

'तो वकालत करना, बात करना है। मैं तो सोचता था, न जाने वह क्या है। अच्छा जी, वकालतको करके वह क्या करता है?—यानी, अदालतमें वह बहुत बातें करता है। उन बातोंको करके भी, वह क्या करता है?'

उन्होंने कहा, 'रे मतिमंद, तू कुछ नहीं जानता। बातोंहीका तो काम है। बात बिना क्या? वकीलके बातोंके ही तो पैसे हैं। उन बातोंसे वह जीता है, और फिर उन्हींसे बड़ा आदमी बनता है।'

उन बातोंको करके वह बड़ा आदमी बनता है,—अब मैं समझ गया, जी। लेकिन जो बड़ा नहीं है, आदमी तो वह भी है न—क्यों जी? मैं दिनभर सच-झूठ बात करूँ तो मैं भी बड़ा हो जाऊँ? और बड़ा न होऊँ, तब भी मैं आदमी रहा कि नहीं रहा?'

उन्होंने कहा, 'तू मूढ़ है। बड़ा तू क्या होगा? तू आदमी भी नहीं है।'

'लेकिन जी, बात तो मैं भी करता हूँ। अब कर रहा हूँ कि नहीं? लेकिन, फिर भी मैं अपनेको निकम्मा लगता हूँ। ऐसा क्यों है?'

'अरे तू मतलबकी, कामकी बात जो नहीं करता है!'

'अजी, तो बात करनेका काम तो करता हूँ! यह कम मतलब है?'

वह बोले, 'अच्छा, जा जा, सिर न खा। तू गधा है।'

अब यह बात तो मैं जानता हूँ कि गधा नहीं हूँ। चाहूँ तो भी नहीं हो सकता। गधेकी तरह सींग तो अगर्चे मेरे भी नहीं हैं, लेकिन, इतना मेरा विश्वास मानिए कि यह साम्य होनेपर भी गधा मैं नहीं हूँ। मैं तो दयाराम हूँ। कोई गधा दयाराम होता है? और मैं श्रीवास्तव हूँ,—कोई गधा श्रीवास्तव होता है? वकील-डाक्टर नहीं हूँ, लेकिन श्रीवास्तव तो मैं हर वकालत-डाक्टरीसे अधिक सचाईके साथ हूँ। इसलिए, उन गुरुजनके पाससे मैं चुपचाप भले आदमीकी भाँति सिर झुकाकर चला आया।

लेकिन, दुनियामें वकील-डाक्टर ही सब नहीं हैं। यों तो इस दुनियामें हम-जैसे लोग भी हैं जिनके पास बतानेको या तो अपना नाम है या बहुत-से बहुत कुल-गोत्रका परिचय है! इसके अलावा

जिन्होंने इस दुनियामें कुछ भी अर्जित नहीं किया है, ऐसे अपने जैसे लोगोंकी तो इनमें गिनती क्या कीजिए ! पर सौभाग्य यह है कि ऐसे लोग बहुत नहीं हैं। अधिकतर लोग संभ्रान्त हैं, गणनीय हैं, और उनके पास बतानेको काफ़ी कुछ रहता है।

'आप क्या करते हैं ?'

'बैंकर हूँ।—जी हाँ, साहूकार।'

'आप क्या करते हैं ?'

'कारोबार होता है। बम्बई, कलकत्ता, हाँगकाँगमें हमारे दफ्तर हैं।'

'आप क्या करते हैं ?'

'मैं एम० ए० पास हूँ।'

'आप क्या करते हैं ?'

'मैं एम० एल० ए० हूँ,—लाट साहबकी कौंसिलका मेंबर।'

'आप क्या करते हैं ?'

'ओः! आप नहीं जानते ? हः,—हः हः राजा चंद्रचूड़सिंह मुझे ही कहते हैं। गोपालपुर,—८६ लाखकी स्टेट, जी हाँ, आपकी ही है।'

'आप क्या करते हैं ?'

'मुझ राजकविसे आप अनभिज्ञ हैं ? मैं कविता करता हूँ।'

'कविता ! उसका क्या करते हैं ?'

'श्रीमान्, मैं कविता करता हूँ। मैं उसीको कर देता हूँ, साहब। और क्या करूँगा ?'

अत्यन्त हर्षके समाचार हैं कि बहुत लोग बहुत-कुछ करते हैं

और लगभग सब लोग कुछ न कुछ करते हैं। लेकिन, मेरी समझमें न बहुत आता है न कुछ आता है।

दूकानपर बैठे रहना, गाहकसे मीठी बात करना और पटा लेना, उसकी जेबसे पैसे कुछ ज्यादा ले लेना और अपनी दुकानसे सामान उसे कुछ कम दे देना,—व्यापारका यही तो 'करना' है! इसमें 'किया' क्या गया?

पर क्यों साहब, किया क्यों नहीं गया? कसकर कमाई जो की गई है! एक सालमें तीन लाखका मुनाफ़ा हुआ है,—आपको कुछ पता भी है! और आप कहते हैं किया नहीं गया!

लेकिन, दयाराम सच कहता है कि, दो रोज़के भूखे अपने समूचे तनको और मनको लेकर भी, उन तीन लाख मुनाफेवालोंका काम उसे समझमें नहीं आता है।

और साहूकार रुपया दे देता है और ब्याज सँभलवा लेता है। —देता है उसी इकट्ठे हुए ब्याजमेंसे। देता कम है, लेता ज्यादा है। इससे वह साहूकार होता जाता है और मोटा होता जाता है।

अगर वह दे ज्यादा और ले कम,—तो क्या हम यह कहेंगे कि उसने काम कम किया? क्यों? उसने तो देनेका काम खूब किया है! लेकिन, इस तरह एक दिन आएगा कि वह साहूकार नहीं रहेगा और निकम्मे आदमियोंकी गिनतीमें आ जायगा।

तो साहूकारी 'काम' क्या हुआ? खूब काम करके भी आदमी जब निकम्मा बन सकता है तो उससे तो यही सिद्ध होता है कि साहूकारी अपने आपमें कुछ 'काम' नहीं है।

और राजा, राजकवि, कौंसिलर, एम० ए० पास,—ये सब जो जो भी हैं क्या वह वह मेरे अपने श्रीवास्तव होनेसे अधिक हैं? मैं श्रीवास्तव

होनेके लिए कुछ नहीं करता हूँ। बस, यह करता हूँ कि अपने बापका बेटा बना रहता हूँ। तब, इन लोगोंमें, इनकी उपाधियोंसे, अपने आपमें कौन-सा 'काम करना' गर्भित हो गया,—यह मेरी समझमें कुछ भी नहीं आता है।

मैं भी बात करता हूँ और कभी कभी तो बहुत ही बढ़िया बात करता हूँ;—सच, आप दयारामको झूठा न समझें! काम-बेकामकी बातें लिखता भी हूँ; अपने घरमें ऐसे बैठता हूँ जैसे कौन्सिलर कौन्सिलमें बैठता है; बच्चोंपर नवाब बना हुकूमत भी चलाता हूँ,—लेकिन, यह सब करके भी मैं बड़ी आसानीसे छोटा आदमी और निकम्मा आदमी बना हुआ हूँ। इससे मुझे कोई दिक्कत नहीं होती।

फिर, बड़ा-आदमीपन क्या? और वह है क्या जिसे 'काम' कहते हैं?

एक किताब है, गीता। ऊपरके तमाम स-'काम' आदमी भी कहते सुने जाते हैं कि गीता बड़े 'काम'की किताब है। मैं मूढ़-मति क्या उसे समझूँ! पर एक दिन साहस-पूर्वक उठाकर जो उसे खोलता हूँ, तो देखा, लिखा है, 'कर्म करो। कर्ममें अकर्म करो।'

यह क्या बात हुई! करना अकर्म है, तो वह कर्ममें क्यों किया जाय? और जब वह किया गया तो 'अकर्म' कैसे रह गया? जो किया जायगा वह तो 'कर्म' है, उस 'कर्म'को करते करते भी उसमें 'अ-कर्म' कैसे साधा जाय? और गीता कहती है,—उस अकर्मको साधना ही एक कर्म है,—वह परम पुरुषार्थ है।

होगा। हमारी समझमें क्या आवे! दुनिया तो कर्म-युतोंकी है। आप कर्मण्य हैं,—आप धन्य हैं। तब, क्या कृपा कर मुझ दयारामको भी अपने कर्मका भेद बताएँगे?

कहानी नहीं

अभी कहानीकी बात न कीजिए। मैं आज ही बाहरसे आया हूँ और मेरा दिमाग़ जिस बातसे भरा है वह कहानी नहीं है; इसलिए, खुशनुमा भी वह नहीं है। वह सच्ची सच्चाई है, साफ़ है और बदनुमा है। मैं उससे छुट्टी पाना चाहता हूँ। मैं दिमाग़ साफ़ चाहता हूँ। बेमतलबकी कोई बात मैं कहा नहीं चाहता।

मुझे किसी बहससे क्या बहस है? मैं आरामसे रहना चाहता हूँ। कमाता हूँ, खाता हूँ और चैनसे रह सकता हूँ। मुझे किसीके रोग-सोगसे क्या काम है? मै बखेड़ा नहीं चाहता। ज़िंदगी मेरी अपनी है। मौजसे बिताऊँगा और कुछ आड़े नहीं आने दूँगा।

अपनी ज़िंदगी अपने हाथ है। बनाओ, चाहे बिगाड़ो। मैं उसे बिगाड़ूँगा नहीं। मैं उसे बना-बनाकर ऐसा खूब बनाना चाहता हूँ कि सब डाह करें।—देखा तो है लोगोंको! बहकमें दसियों बिगड़ गये हैं। दिल देनेमें क्या लगता है? दिलपर काबू पाना आना चाहिए।

यहाँ जो ये सतरें लिखता हूँ इससे यह न समझना चाहिए कि दिल मेरा कमज़ोर है। बात असल यह है कि जो वाक़या अभी देखकर आ रहा हूँ उसे कह डालकर खत्म कर देना चाहता हूँ। उसपर परेशान होना मुझे मंजूर नहीं। जायदादके किराए और बैंकके सूदकी आमदनी खासी चोखी है। सो क्यों न मैं चैनसे दिन काटूँ? जितने दिन हैं उतने दिन हैं। उन्हें रोकर बिताओ तो,

ऐशमें गुजार दो तो! मैं रोनेका क़ायल नहीं। अपनी तो ऐशसे बीतेगी।

लेकिन, ये ऐसे ऐसे वाक़आत क्यों हो जाते हैं? होते हैं तो हों, लेकिन हमारी आँखके सामने क्यों आते हैं? गोया वह हमें डराना चाहते हैं! पर मैं डरना नहीं चाहता।

जी हाँ, लिटरेचर पढ़ता हूँ। मज़हबकी किताबें भी देखी हैं। वक्तपर मेरा दिल भी मुलायम होता है। आईडियलकी बात नहीं जानता सो नहीं। साधू-संत, फ़क़ीर-दरवेश, सबकी इबादत करता हूँ। क्या नहीं करता? क्या नहीं जानता? नेकीका क़ायल हूँ। हक़परस्त हूँ। हक़ीक़त पानेकी ख़्वाहिश रखता हूँ। दान देता हूँ। सोसाइटीमें आता-जाता हूँ।

यह सब सही है। लेकिन, उस सबके बाद यह और भी सही है कि मेरी ज़िंदगी मेरी है। किसी औरको उसमें उलझाना गलती है। भलाई करनी चाहिए, लेकिन खुद खटाईमें न पड़ना चाहिए। जो अपने पास है, वही अपना है। बाकी सब बेगाना है। जिसने यह पहचाना, वह रहा। जो यह भूला, वह गया।

लेकिन, सवाल यह उठता है कि बेहूदे वाक़आत दुनियामें क्यों होते हैं? उसके बाद सवाल यह है कि अगर वे होते ही हैं, तो हम जैसे खुशबख़्तोंकी आँखोंके सामने क्यों आते हैं?

मिसालके लिए लीजिए कि दुनियामें गीदड़ होते हैं। इस दिल्लीमें काफ़ी हैं, नई दिल्लीमें और भी कसरतसे हैं। रातमें वे हो-हो-हो-होकी आवाज़में भूँकते हैं। मैंने अपनी कोठीमें इंतज़ाम किया है कि एक आदमी बंदूक लेकर रात-भर बैठा जागता रहे, हो-होकी

आवाज़ आए और बंदूक दाग़ दे। यह इंतज़ाम पक्का है और मेरी कोठी भी ढंगकी बनी है। वह गीदड़ोंकी आवाज़ तो होती ही होगी, होती ही है, लेकिन मुझसे वह दूर रहती है। यानी मतलब यह, कि इंतज़ामको बीचमें डालकर मैंने अपनेको उससे दूर बना लिया है।

अब, जनाब, इसी नई दिल्लीमें वायसराय साहब भी रहते हैं। मेरी तो कोई बात नहीं, लेकिन क्या यह क़यास किया जा सकता है कि किसी भी हालतमें उनकी नींद हराम होने दी जाती होगी? गीदड़ भूँकते हैं तो भूँकें, लेकिन, क्या उनको पता भी लग सकता है कि गीदड़ भूँक रहे हैं?

यही उसूल है। बहुतसे नाखुश-गवार वाक़आत होते हैं। वे नहीं रुक सकते तो न रुकें। उन्हें होना ही है, तो हों। लेकिन, यह तो आम लोगोंका फ़र्ज़ है कि वे हम खास लोगोंके सामने न आने दिये जायँ। और पहले तो उन वाक़आतका ही फ़र्ज़ है कि वे अगर अपनी बदबख्त सूरत नहीं बदल सकते तो हम जैसे नेकमाश और खुशबख्त लोगोंके नसीबसे तो डरें, और हमारे सामने मुँह दिखानेकी जुरअत न करें।

पर ज़माना खराब है और किसीको अपने फ़र्ज़का ख्याल नहीं है। और तो और, ऊँच-नीचका भेद ही मिटा जाता है। अदना आला होनेका दम भरता है और रुतबे और हैसियतका लिहाज़ नहीं रह गया है! खैर, वह छोड़िए। दिन बुरे तो हैं ही। उनका गिला क्या? क़यामत नज़दीक ही है और बदबख्तोंको अपनी बदबख्तीका फल चखना होगा। लेकिन, सवाल यह है कि जो हुआ

यह हुआ क्यों ? और अगर उसे होना ही था तो मेरी आँखोंके आगे क्यों हुआ ? आप नहीं जानते, यह सवाल कितना अहम है और मुझे कितना तंग कर रहा है। आँखोंकी राह चीज़ दिल तक चली जाती है तो परेशानीका बायस होती है। यों, कुछ होता रहे, दिल पाक चाहिए। आँखोंके अंधेमें यही तो खूबी है। आँखें देखती हैं, पर जो देखती हैं वह कहीं भी अंदर नहीं पहुँचता,—बाहर ही बाहर रहता है; न दिमाग़को हरकत देता है, न दिलपर असर करता है। मैं कहता हूँ कि ऐसे लोग गैरत हैं। जी हाँ, गैरत हैं, उनकी आँख हुई न हुई, यकसाँ है।

मैं उन लोगोंमें नहीं हूँ। आँख रखता हूँ और उनके पीछे दिलोदिमाग़ रखता हूँ। जो देखता हूँ सो समझता हूँ और उसकी तहमें जाता हूँ। जी हाँ, तभी तो मैं इस कदर परेशान दीखता हूँ!

और आप कहते हैं,—कहानी कहानी। मैं बाज़ आया आपकी कहानीसे। कहानी न हुई बला हो गई! कहानी खेल नहीं है। यूँ, कहानी खेलसे भी बदतर है। दिलबस्तगीकी कहानी चाहिए तो हटिए, मुझे न सताइए।

किसीने आपको ग़लत ख़बर दी कि वह चीज़ मुझे मयस्सर है। दिल यहाँ यूँ ही बेकस है। मसलेपर मसले दरपेश हैं और दिल उलझनमें रहता है। एक पेंच खुलता नहीं कि दूसरा पेंच आ लड़ता है। दिमाग़वालेकी कैफ़ियत बस कुछ न पूछिए!—यह है कि पलभर चैन नहीं। कुछ न कुछ उक़दा खुलनेके लिए सिरपर अड़ा खड़ा है। यही है कि क़िस्मतने ज़रा दौलत बख्शी है तो दिल-बहलावका कुछ सामान भी हो जाता है और तबीयत ज्यूँ त्यूँ हलकी कर लिया

करता हूँ। नहीं तो, दिमाग़पर वह वह ज़िम्मेदारियोंके बोझ हैं कि क्या अफ़लातून सँभालता होगा !

मैं क्या क्या ज़िक्र करूँ ? एक बात तो है नहीं। दसियों बातें हैं। और वह ऐसी एकमें एक उलझी हैं कि एकको छेड़ा नहीं कि सब उघड़ पड़ती हैं। तब सँभालिए,—किसे सँभालिएगा ? लीजिए, दिमाग़में वह जूएँ-सी रेंग रेंग कर फिर रही हैं ! और आपने किसीको पकड़नेकी कोशिश की नहीं कि वह पंजे गाड़ सिमिट कर वहीं चिपक रहती हैं। अब किये जाइए कोशिश।—वह वहाँसे उखड़ती ही नहीं। ख़ैरियत यही है कि आप सकूनसे बैठे रहें और दिमाग़के साथ छेड़छाड़ न करें। वह दिमाग़ भी क्या अजब चीज़ है ! एक बार छेड़ा कि भन्नाकर ही दम लेता है, फिर उसे चुप करना मुश्किल है।

मुद्दा यह है,—यानी, सवाल यह है, यानी—जी, मैं क्या कह रहा था ? हाँ, यानी—

तो ठहरिए। असली बात याद कर लूँ।—जाने क्या कहना शुरू किया था ? बताइए साहब—

जी हाँ, ठीक ठीक। अब याद आया। सवाल यह है कि,—जी हाँ, यही है कि—अलीगढ़का स्टेशन था। मैं सेकिंड क्लासमें था। एक साहब और थे। वह अख़बारमें महब थे।—और ठीक वही चीज़ थी, यानी अख़बार, जिससे मैं ऊबा हुआ था। प्लेटफार्मपर बहार थी। मेल-ट्रेनसे जानेवाले दोस्तोंको छोडनेके लिए दोस्त लोग आये थे। कुछ दोस्त अपने दोस्तोंके इस्तक़बालके लिए आये होंगे। वे ही दोस्त, दो यहाँ चार वहाँ, मिल बोल रहे थे। सब अपना अपना ढब और सभी अपने बारेमें मुतमअन थे। प्लेटफार्म जीता जागता

सैरगाह था और अपनी बहारपर था। खोमचेवालोंकी बन रही थी और वह वह आवाज़ें आती थीं कि चिड़ियाघर मात था।

लेकिन, क़िस्मतकी मार देखिए कि मैं अपनी सीटपर आकर रेलकी दूसरी तरफ़ भी निगाह डालता हूँ। बोलिए, इसकी क्या ज़रूरत थी? खाली बैठे मुझे यह क्या सूझा? यह मेरा अहमक़पन था कि नहीं? क्या खुशनुमा था जो प्लेटफ़ार्मपर न था? इधर निगाह डालनेकी आख़िर ज़रूरत क्या थी? पर ग़लती की, तो उसका नतीजा भी सामने आया! देखता क्या हूँ कि चार-छः उठाईगीरे-से लड़के नीचे खड़े गिड़-गिड़ाकर पैसा माँग रहे हैं और दुआएँ दे रहे हैं। दो-एक उनमें लड़कियाँ भी थीं। जाने वे कहाँकी पैदावार थे! आँखें, कान, नाक, मुँह तो इनसान जैसे उनके थे, पर क्या वे इनसानके बच्चे थे? तौबह! तौबह! हुलिएकी कुछ न पूछिए। एक-एकके पास कपड़े वह नुमायशी थे कि क्या बात! अव्वल तो वह इतने मुख्तसर थे कि इसमें शक है कि थे भी कि नहीं। फिर नये मकूलेके मुताबिक उनमें हवा न रोकनेकी खास सिफ़त थी। झरोखे उनमें काफ़ी तदादमें और काफ़ी कुशादा थे। कपड़े वे बिना रंगरेज़की मददके सियाह थे। लड़की एक पाँच बरसकी होगी। अंधी थी और कोढ़से उसके दाँयें हाथकी दो उँगलियाँ दो ठूँठ-सी आधी आधी रह गई थीं और एक लड़का उसका हाथ पकड़कर आगे आगे खींच रहा था। जाने इन लड़कोंको दुआएँ देना कौन सिखाता है! ऐसी दुआएँ दे रहे थे कि बेतरतीब, बेसलीक़े।

एक एक डिब्बेपर ठहरते और एक साँसमें वहाँ अपनी सब दुआओंका ख़ज़ाना उड़ेल देते। फिर पैसा माँगते,—इनसानकी फ़ितरतपर उनका

भरोसा अब भी क़ायम था। ताज्जुब है, क्यों क़ायम था, क्यों उठ नहीं चुका था! वह बिना पैसा पाये आसानीसे डिब्बा न छोड़ते थे। इस डिब्बेसे वह डिब्बा और फिर अगला डिब्बा और फिर अगला और—

अजब हैरानी तो यह है कि मैं उन्हें देखकर फिर भी देखता ही रह गया। क्यों नहीं उधरकी खिड़की चढ़ाकर मैं अपना अँग्रेज़ी जासूसी नाविल पढ़ने लगा? सचमुच ख्याल आता है कि इतनी ज़रा-सी समझ मुझे उस वक्त क्यों न हुई! नाविल मज़ेदार था और हिज़ लार्डशिपके क़त्लका भेद कुछ इस तरीक़ेसे खुलता जाता था कि हर लेडीशिप परेशान थीं और अग़लब था कि क़त्लमें मुद्दई यानी हर लेडीशिपकी शरकत ही न साबित हो जाय! नाविलके उस संगीन मामलेको छोड़कर इधर इन वाहियात भिखमंगे लड़के-लड़कियोंकी वदनसीबी देखनेमें लग जाना सरासर हिमाक़त थी, लेकिन फिर भी मैं उस तरफ़ क्यों देखता रह गया, यह ताज्जुब है।

आख़िर वे मेरे डिब्बेके नीचे ही आ खड़े हुए। मैंने झिड़क कर कहा—हटो, हटो!

—बाबू, तुम्हारे लड़के-बच्चे जियें! बाबू, तुम्हें राजपाट मिले! बाबू, तुम्हारी नौकरी बढ़े! बाबू, तुम्हें धन मिले! बाबू, एक पैसा!'

मैंने कहा—यह सेकिंड क्लास है! हटो, हटो!!

—बाबू, तुम्हारे औलाद-पुत्तर जियें! बाबू, तुम्हें धन मिले! तुम्हें राज्य मिले! नौकरी बढ़े! बाबू, एक पैसा!

मैंने झिड़ककर कहा—क्या है? भीख माँगते शर्म नहीं आती है? आगे बढ़ो, आगे बढ़ो!

इस झुँडमें पीछेकी तरफ़ एक लड़की खड़ी थी। दस बरसकी उसकी उम्र होगी। वह सबसे डरपोक थी, शर्मीली थी और पीछे पीछे रहती थी। वह सबसे दुबली थी और आँखें उसकी सबसे बड़ी थीं। वह मुँहसे कुछ भी नहीं कहती थी, बस आँखोंसे देखकर रह जाती थी। ऐसा मालूम होता था कि एक डिब्बेके सामने खड़े होकर वह किसी एक आदमीपर आँखें गड़ा लेती थी। जब झुंड चलता, वह भी चल पड़ती थी। उससे पहले वहाँसे आँख न हटाती थी। मैंने देखा, उसकी आँखें मुझपर एक-टक गड़ गई हैं। इतनेमें अगले, शायद तीसरे दर्ज़ेके, डिब्बेसे किसीने उसी लड़कीको मुख़ातिब करके एक पैसा पीछेकी तरफ़ फेंका। पैसा गिरा, कई बच्चे झपटे। लड़की नज़दीक़ थी और पैसा झट झपट कर उसने उठा लिया। इतनेमें देखता क्या हूँ कि एक लड़का उसपर झपट पड़ा है और उसकी गत बना कर पैसा उसने छीन लिया है। बाल उसके और फैल गये हैं, तनपर खरौंच लग गई हैं, लेकिन लड़की फिर वैसी ही गुम-सुम सूनी आँखोंसे मेरे डिब्बेमें मुझे देखती हुई वहीं खड़ी हो गई है!

इतनेमें रेल चल दी। पहले तो लड़की खड़ी ही रही, फिर दौड़कर मेरे डिब्बेके पास आ गई और साथ साथ भागने लगी।

—बाबू! एक पैसा!

वह साथ साथ भागती रही। प्लेटफ़ार्मका क़रीब क़रीब किनारा ही आ गया था। मैंने पैसा निकाला और उसकी तरफ़ फेंक दिया।

—जी हाँ, यह बेवक़ूफ़ी भी की!

वह तो, खैर, हुआ, लेकिन सवाल यह है कि मेरी परेशानीका

सवब क्या है? यह सही है कि भिखमंगे नहीं होने चाहिए। लेकिन, यह सही क्यों है कि अगर भिखमंगे हैं तो मुझे परेशान होना चाहिए,—मेरा क्या ज़िम्मा है? मैं तो भिखारी नहीं हूँ। मेरे पास तो पैसा है और मैं तो चैनसे रह सकता हूँ। फिर रहें भिखारी तो रहें! मेरा उनसे क्या सरोकार है? क्या वास्ता है?

लेकिन, सवाल तो असल यही है कि मैं जानता हूँ, ताहम मैं परेशान हूँ। आख़िर किस वजहसे परेशान हूँ? सवब क्या? अलीगढ़ स्टेशन अब कोसों दूर गया। मैं नई दिल्लीकी कोठीमें हूँ। यहाँ बीवी है, बच्चे हैं, लायब्रेरी है, दोस्त-अहबाब हैं, सिनेमा-तमाशे हैं। तब फिर मेरा दिल आराम क्यों नहीं पा रहा है?

क्या मैं समझता हूँ कि मेरा एक पैसा हालातमें कुछ भी फ़र्क डालेगा? पैसा न देता तो क्या कोई ख़ास ख़राबी हो जाती? ताहम एक पैसा मैंने निकाल फेंका, वह क्यों?

सवाल यही है कि क्यों मैं पैसा दे छूटा? भिखमंगा मेरा कौन था? कौन है? किस इख़्तियारसे, किस हक़से, वह मेरे दिलके सकूनमें दख़लन्दाज़ होता है?

क्यों कर उसे यह जुरअत है? क्यों वह मेरे दिमाग़का पीछा करता है? किसने उसे यह इजाज़त दी? क्यों उन्हें कोई जेलख़ानेमें बन्द नहीं कर देता?—मेरी आँखोंसे दूर रहें।—लेकिन, क्या जेलख़ानेमें होकर मुझसे दूर वह हो जाएँगे? हक़ीक़तन, हो जाएँगे?

जी हाँ,—सवाल यह है। यह सवाल बड़ा है और मुझे परेशान कर रहा है। यही मुझमें भरा है और इस वक्त मैं आपकी कहानी-कहानी कुछ नहीं जानता।

राम-कथा

एक बार पड़ोसी सज्जनके यहाँसे निमन्त्रण आया। दशहरा पास आ रहा है, दूरसे एक विद्वान् पण्डित पधारे हैं, रामायणकी कथा होगी,—मैं कृपा कर कथामें सम्मिलित होकर उत्सवकी शोभा बढ़ाऊँ।

उत्सवकी तो शोभा मुझसे क्या बढ़ सकती है; लेकिन, रामायण कोटि कोटि भारतीयोंको प्यारी है। मैं भी उस प्यारको चाहता हूँ। मैंने रामायण नहीं पढ़ी है, अँग्रेज़ी पढ़ी है; पर मुझे इस अँग्रेज़ीकी जगह रामायण न पढ़नेपर गर्व नहीं है। कई मौकोंपर जब सहस्रों नर-नारियोंके समुदायको राम-सीताके स्तुति-गानपर गदगद हो जाते देखा है, तब मैं उन सब लोगोंको 'मूढ़-मति' कहकर टाल नहीं सका हूँ। मैं बरबस उनसे प्रभावित हो जाता हूँ। रामके प्रति और सीताके प्रति मेरे मनमें श्रद्धा उठती है। मैं अँग्रेजी पढ़ा हूँ और हो सकता है कि बुद्धिमानके लिए श्रद्धाकी अपेक्षा तर्क अधिक बुद्धि-संगत हो; पर मेरी श्रद्धा मुझे बुरी नहीं लगती। यह श्रद्धा अति अनायासभावसे मेरी तर्क-बुद्धिको लाँघ जाती है। नहीं मानूँगा कि मैं बुद्धिवादी नहीं हूँ; पर, सच कहूँ तो, श्रद्धामें मुझे अपनी बुद्धिकी विफलता नहीं मालूम होती, कुछ सफलता ही मालूम होती है।

रामायण मैंने पढ़ी नहीं है, फिर भी मैं प्रकृत भावसे उन कोटि कोटि भारतीयोंके समकक्ष बन जाना चाहता हूँ जो राममें परमात्मा देखते हैं और राम-नामके स्मरणसे जिनको चित्त-शुद्धि प्राप्त होती है।

भारत दीन है, वह परतन्त्र है। पश्चिम बढ़ रहा है और भारत

मूढ़तामें पड़ा है। विज्ञान आविष्कार कर रहा है, भारत धर्मपर माथा टेके वहीं ऊँघ रहा है। धर्म भारतका नशा है, वह क्लैव्य है, वह बुद्धि-हीनता है। भारत ऐसे ही तो परतन्त्र बना! पश्चिमने उसपर प्रभुता स्थापित की और भारत पद-दलित बना हुआ अब भी अपने धर्मके गीत गाता और अतीतके सपने लेता है। उसे शक्ति चाहिए, शक्ति! उसे क्षमता चाहिए, बुद्धि चाहिए, विज्ञान चाहिए। उसे धर्मसे छुट्टी चाहिए। यह धर्म ही तो उसका रोग है जिसने उसे निष्प्राण बना डाला है!

ऐसा कहा जाता है। ठीक ही कहा जाता होगा! कहनेवाले वाग्मी विद्वान् हैं, वे विचक्षण हैं, वे ग़लत क्यों कहेंगे? वे अध्ययन तुलनात्मक करते हैं। वे पक्षहीन बात करते हैं। उन्होंने हिन्दुस्तान देखा है और विलायतें भी देखी हैं। उनकी बात क्यों पुख्ता नहीं होगी? यह किसकी स्पर्द्धा है कि कहे वह बात ग़लत भी हो सकेगी। बात उनकी है, तब क्यों ठीक ही नहीं होगी?

लेकिन, मैं जानता नहीं। पढ़कर भी कुछ अधिक नहीं जाना हूँ। तभी तो, जन-सामान्यसे मैं प्रभावित होता हूँ! सचमुच प्रभावित होता हूँ! उस प्रभावसे इनकार कैसा? कोटि कोटि ग्रामीणोंके प्रणम्य उन सीता, राम, लक्ष्मणको तर्कसे छिन्न-भिन्न करके अपनेसे दूर मुझसे नहीं किया जाता। मैं तो स्वयं उनके उस उत्साहमें भाग लेने लगता हूँ। मुझे यह सब पसन्द भी आता है। तर्कवादीके सम्मुख मैं अपनी इस भावनाको लेकर नहीं पड़ सकता। मैं जानता हूँ, वह अतर्क्य है। तर्कके सामने वह चुप हो रहेगी और मैं निरुत्तर दीखूँगा। मैं तर्कवादीसे यही निवेदन कर सकूँगा कि

वह मुझे क्षम्य स्वीकार करें और मुझे इजाज़त दें कि मैं पड़ोसी मित्रकी रामायणकी कथामें चला जा सकूँ।

मैं कथामें गया। पंडितजी बहुत अच्छी कथा बाँचते थे। सुन्दर गाते थे और तुलसीदासजीकी रामायण उन्हें कण्ठस्थ थी। वह गौर-वर्ण सुडौल आकृतिके पुरुष थे। कण्ठ सुरीला था, मुख आत्म-विश्वासमें प्रसन्न। श्मश्रु-हीन चेहरेपर कुछ स्निग्ध आभा थी। अत्यन्त अनुकूल भाव-भंगिमाके साथ वे कथा बाँचते थे।

सुन्दरता सब जगह काम आनेवाली चीज़ है। तपस्वी सुन्दर क्यों न हो? पंडित अपनेको सुन्दर क्यों न रक्खे? कुछ और गुण पीछे भी दीखें, सुन्दरता तो सामनेसे ही दीखती है! उससे काम आसान होता है। सुन्दरता गुण है। चाहो तो वह आयुध भी है। मुझको ऐसा मालूम हुआ कि पंडितजी इस तत्त्वके तत्त्वज्ञ भी हैं। वे अज्ञानमें नहीं हैं कि वे सुन्दर हैं और वे अपनेको सुयत्नपूर्वक वैसा रखते भी हैं। उन्हें अभी युवा ही कहिए, यौवनकी दीप्ति उनके आसपास है।

शताधिक नर-नारी वहाँ उपस्थित हैं और पंडितजीका गला स्वच्छ है। अब मेरे साथ एक त्रुटि है कि श्रीरामचन्द्रकी महिमा मुझे इस प्रकारके आयोजनकी सहायता पाकर कुछ विशेष उन्नत हो गई हुई नहीं जान पड़ती है। मैं अपने और रामके बीचमें माध्यम अपनी श्रद्धाका ही पाऊँ, यह मुझे रुचिकर होता है। जब मध्यमें कोई व्याख्या अथवा व्याख्याता उपस्थित हो, तब मेरी श्रद्धा मेरे ही भीतर सिमट रहती है और वहाँ आलोचना जागती है। यह मेरे स्वभावकी प्रकृति मुझे बहुत खलती है। आलोचना मनुष्यपर

क्यों छाये ? आलोचना सदा वन्ध्या है, वह उपलब्धिमें बाधा है; पर, सोच लिया करता हूँ कि एक बात है—व्यक्तिको विवेक तो चाहिए ही। विवेकमें अस्वीकृति अनिवार्य है। अस्वीकृतिकी शक्ति न हो तो जीवन क्या रह जाय,—निश्शक्त गीले मोमकी भाँति कुछ आकार धारण करनेके लिए बस वह निरा परापेक्षी ही न हो जाय! पर जीवनको तो कहीं हीरेकी भाँति दृढ़ भी होना पड़ता है और कहीं वायुकी भाँति अवकाशसारी बनना पड़ता है। इसलिए, मैं किंचित् आलोचनाको कथंचित् अपने साथ चलने भी देता हूँ।

पण्डितजीने गलेमें कुछ मालाएँ स्वीकार कीं, फिर कुछ पूजन आदि किया, मंगलाचरण किया, और रामचन्द्रके जीवनके इतिवृत्तका संक्षिप्त बखान आरम्भ किया। बताया कि अमुक तिथि, अमुक घड़ी, अमुक लग्नमें अपने पिता राजा दशरथके अयोध्याके महलोंमें माता महारानी कौशल्याकी कुक्षिसे भगवान्ने अवतार धारण किया। इससे आगे वह कुछ और कह रहे थे, तभी मेरा ध्यान अन्यत्र चला गया।

मनुष्य भी विचित्र प्राणी है। वह क्या विचित्र है!—असलमें जो उसके भीतर छोटा-सा मन दबककर बैठा हुआ है, सारी विचित्रता तो उस मनकी है! वह मन न देशकी बाधा मानता है, न कालकी। इस घड़ी यहाँ बैठे हो, तो यह मन उड़कर कहाँ पहुँच गया है, ठिकाना नहीं। दस बरस, बीस बरस, पचास, सौ, लाख, करोड़ बरस पहले कहीं मन चला गया है, या वह मन लाखों बरस आगे पहुँच गया है,—कुछ भी हिसाब नहीं। यह सारा सफ़र वह मन छनमें कर लेता है। इसी मनके बूतेपर ही तो कवि लोग कह देते हैं कि व्यक्ति

असीम है। साढ़े तीन हाथका मानव व्यक्ति असीम भला क्या? इस अनन्त योजनोंके विस्तारवाले विश्वमें वह नन्ही-बूँद-सा भी तो नहीं है! पर उस नन्ही बूँदके भीतर नन्हीसे भी जो कुछ नन्ही चीज़ है, वही कम्बख्त तो समीपतामें बँधकर पल-भरके लिए भी चैनसे बैठती नहीं।

और, न उस मनके लिए देशकी बाधा है। यहाँ धरतीपर रक्खी कुर्सीपर बैठे हो, पर मन आसमानमें उड़ रहा है। आसमान क्यों, वह सूरजमें चला गया है। सूरजको पारकर वह जाने फिर कहाँ कहाँ भागा फिर रहा है! उसपर रोक-थाम ही नहीं चलती। मन तो मन है, उसके लिए कब यह नियम बन सका है कि वह किसी पंडितकी सुस्वर-कंठ-लहरीमें गाई जाती हुई राम-कथामेंसे उठकर और कहीं न जा सकेगा! सो मेरा मन और ही तमाशेकी ओर चला गया।

—कुछ रोज पहलेकी बात है। सप्ताह-भर हुआ होगा। ऊपर बादल हो रहे थे। वर्षा होनेवाली थी। मौसम अनुकूल था। उस समय वह कमरा मुझे अच्छा नहीं मालूम हुआ जहाँ ऊपर साँवला आसमान तो है नहीं, कोरी छत है। और जहाँ चारों दिशाएँ भी खुली नहीं हैं, बस चारों ओरसे पक्की दीवारें घिरी हैं। सो मैं कमरेमेंसे निकलकर बाहर आया। बाहर आकर देखता हूँ कि हरीश और विमलामें कुछ चर्चा छिड़ी है। वह किसी तत्त्वपर उलझे हैं और मेरे बाहर आनेका उन्हें पता ही नहीं लगा है।

हरीशने कहा—मैं बड़ा हूँ। मैंने ज़्यादा आम खाये।

विमला बड़ी न हो; पर लड़की है। उसने ज़ोरसे कहा—मैंने खाये!

हरीश—मैंने पाँच खाये।

विमला—मैंने पाँच खाये!

हरीश—मैंने दस खाये।

विमला—मैंने दस खाये!

हरीश—मेरी बात तू क्यों कहती है?—मैंने बीस खाये।

विमला—मैंने बीस खाये!

हरीश—तू झूठ बोलती है।—मैंने चालीस खाये।—मैंने पचास खाये।

विमलाको सहसा याद आया कि एक बड़ी चीज़ होती है जिसका नाम है, 'सौ'। उसने कहा—मैंने सौ खाये!

हरीश—सौ!—मैंने पचास सौ हज़ार खाये।

विमलाने बड़े गर्वसे कहा—मैंने सत्रह खाये!

हरीशने ताली बजाकर कहा—ओहो जी, सत्रह ज़्यादा होते ही नहीं!

तब विमलाने तल्लीनताके साथ दोनों हाथ फैलाकर कहा—मैंने इत्ते खाये।

हरीश एकदम खड़ा हो गया। पंजोंके बल तनकर और अपनी दोनों बाहें खूब फैलाकर उसने कहा—मैंने इत्ते सबके सब खाये।

विमलाने हरीशको देखकर कहा—नहीं खाये।

हरीश बोला—मैंने खाये। सबके सब, बादल-जित्ते मैंने आम खाये।

विमला—नहीं खाये।

हरीश—मैंने,—मैंने,—मैंने रामजी-जित्ते खाये !

यह कहते कहते उसका फेंफड़ा भर गया, मानो अब इससे अधिक पूर्णता कहीं और नहीं है । मानो कि बस, अब आगे किसीके लिए भी गति नहीं है ।

विमलाने हरीशके इस निश्चिन्त गर्वको देखा । उनकी तमाम गिनती जहाँ पहुँचकर शान्त हो जाती है,—तमाम कल्पना, तमाम शक्ति जहाँ पहुँचकर समाप्त और सम्पूर्ण हो जाती है, वह हैं रामजी ! पर वह रामजी क्या हैं ?

विमलाने कहा—मैंने दो रामजी-जित्ते खाये ।

इसपर तनिक गम्भीर सदय भावसे हरीशने कहा—रामजी दो होते ही नहीं, विमला !

विमला आग्रही बनकर बोली—होते हैं ।

उस समय गुरुताके साथ हरीशने कहा—विमला, रामजी दो नहीं होते ।

सुनकर विमला चुप हो गई । उस समय उसे यह मालूम नहीं हो रहा था कि वह हारी है; न हरीशको अपने जीतनेका मान था, मानो हार-जीत दोनों रामजीमें आकर अपना द्वित्व खो बैठे हैं । मानो जीत भी वहाँ वही है जो हार है ।

मैं यह सब देख रहा था । मैंने देखा कि रामजी तक आकर वे दोनों परस्पर निस्तब्ध हो गये हैं । वे दोनों एक दूसरेको देख रहे हैं पर ऐसे जैसे कि कहीं अन्यत्र पहुँचकर वे मिल गये हों और आपसकी पृथकता उन्हें समझ न आ रही हो । मानो कि एक-दूसरेको देखते रहनेके अतिरिक्त और कुछ उनके बीच संभव ही न हो ।

थोड़ी देर बाद हरीशने कहा—अच्छा बताओ विमला, मेह कौन बरसाता है ?

विमला—बादल बरसाते हैं।

हरीश—बादल नहीं बरसाते हैं !

विमला—तो कौन बरसाता है ?

हरीशने बताया—रामजी बरसाते हैं।

उस समय मुझसे रुका न गया और चलता हुआ मैं पास पहुँच गया; कहा—कोई भी मेह नहीं बरसाता जी। इतनी देरसे बादल भर रहे हैं। बताओ, कहीं मेह बरस भी रहा है ? (और मैंने विमलाको गोदीमें उठा लिया) और क्यों जी हरीश बाबू, तुम्हारा रामजी मेह जल्दी क्यों नहीं बरसाता है, क्या बैठा सोच रहा है ?

हरीश लजा गया और विमला भी लजा गई।

पंडितजीकी कथा सुनकर मुझे वह बालकोंवाला रामजी याद आ गया। पंडितजीवाले रामचन्द्रजी, जो बाक़ायदा दशरथके पुत्र हैं और जो निश्चित घड़ीमें जन्म लेते हैं, क्या वही हैं जो बालकोंका मेह बरसाते हैं ? दशरथके पुत्र रामचन्द्रजी तो पंडितजीकी पंडिताईके मालूम हुए। बादलोंके ऊपर, आसमानके भी ऊपर, सभी कुछके ऊपर, फिर भी सब कहीं जो एक अनिश्चित आकार-प्रकारके रामजी रहा करते हैं, मेह तो वह बरसाते हैं। वह रामजी पंडिताईके नहीं, वह तो बालकोंके बालकपनके ही दीखते हैं। मैं सोचने लगा कि पंडितका पाण्डित्य क्या सचमुच बच्चेके बच-पनसे गम्भीर सत्य नहीं है ? बालकका रामजी, जिसका उसे कुछ भी ठीक अता-पता नहीं है, उन राजा रामचन्द्रसे, जिनका रत्ती रत्ती

ब्यौरा पंडितजीको मालूम है, क्या कभी जीत सकेगा ? क्या बालक बालक और पण्डित महान् नहीं हैं ? लेकिन वहाँ बैठे बैठे मुझे प्रतीत हुआ कि दशरथके पुत्रवाले रामचन्द्रमें, जो कि पण्डितकी व्याख्याओंमें प्रत्यक्षतः अधिकाधिक ठोस होते जा रहे हैं, मेरे मनको उतनी प्रीति नहीं प्राप्त होती है जितनी बच्चोंके 'रामजी' में। बच्चोंका रामजी, कुछ हो, मुझे प्यारा तो मालूम होता है।

तभी पण्डितजीकी ओर मेरी निगाह गई। उन्होंने मुखपर हाथ फेरा, केशोंको तनिक सँवारा, शिखा ठीक की, किंचित् स्मितसे मुस्कराये और अत्यन्त सुरीली वाणीमें तनिक अतिरिक्त मिठासके साथ ताल-लयके अनुसार रामायणकी चौपाई गा उठे।

उनके निर्दोष गायन और पाण्डित्य-पूर्ण वक्तृत्त्वसे प्रभावित होकर मैं सोचने लगा कि क्या सचमुच इस समय पंडितजीके निकट अपना वाणी-विलास, अपना वाक्-कौशल, अपनी ही सत्ता दशरथ-पुत्रकी सत्तासे अधिक प्रमुख और अधिक प्रलोभनीय नहीं है? मुझको ऐसा लगा कि उन पुण्यश्लोक रामचन्द्रको तो मैं मानूँ या न भी मानूँ; पर उनकी कथाको लेकर इन पंडितजीके मुँहसे अविराम निकलती हुई सुललित वाग्धाराको तो मुझे प्रामाण्य मानना ही होगा,—कुछ ऐसा जादू पंडितजीमें था। मुझे प्रतीत हुआ कि राम-कथा साधन है, साध्य तो रामकथाका सुमिष्ट वाचन है। राम तो राम थे; वह कभी रहे होंगे; पर आज तो देखो, यह पंडितजी उस कथाका कैसा सुन्दर पारायण करते हैं! कहो, पण्डितजी श्लाघनीय नहीं हैं ?

मुझको वे बच्चे याद हो आये जो रामजीकी यादमें जैसे सुध-बुध बिसार बैठे थे। उनके लिए रामजी चाहे कितना ही अरूप-अव्यक्त

हो; पर वह था। उस नामपर वे उत्साहित हो सकते थे, या चुप हो सकते थे। था तो वह बालकोंका बचपन ही, पर फिर भी वह बचपन उनका भाग था। 'राम'—यह मात्र शब्दके लिए न था, इससे कुछ बहुत अधिक था, बहुत अधिक था।

पण्डितजीके दशरथ-पुत्र रामचन्द्र भी क्या वैसे उनके निकट हैं? मुझे जानना चाहिए कि वह रामचन्द्र अधिक स-इतिहास हैं, उनका नाम-धाम, पिता-माता, सगे-सम्बन्धी, तिथि-ब्यौरा, उनके बारेका सब कुछ यह पण्डितजी जानते हैं। वह रामचन्द्रजी आवश्यक-रूपमें अधिक प्रमाण-युक्त, शरीर-युक्त, तर्क-युक्त हैं। उनके सम्बन्धमें कम प्रश्न किये जा सकते हैं और लगभग सब प्रश्नोंका उत्तर पंडितजीसे पाया जा सकता है। लेकिन, क्या इसी कारण वह रामचंद्र पंडितजीसे दूर और अलग नहीं बन गये हैं? रामचन्द्र दशरथके पुत्र थे; पर पण्डितजी अपने पिताके पुत्र हैं। इसलिए रामचन्द्रजी जो रहे हों रहें, पण्डितजी तो पण्डित ही रहेंगे। हाँ, राम-कथा करना उनका काम हो गया है, सो बड़े सुन्दर ढंगसे वे उस कथाको कहेंगे। तदुपरांत, रामचन्द्र अलग वह अलग। उनका जीवन अपना जीवन है। वे जीवनका कोई भाग रामचन्द्र (के आदर्श) के हाथमें क्यों देंगे?

यह सोचते सोचते मैंने देखा कि राम-कथा-स्नेहसे भीगी पण्डितजीकी तल्लीन दृष्टि असावधान और कर्म-कठोर पुरुष-वर्गकी ओरसे हटकर, रह-रहकर, धर्म-प्राण भक्ति-प्रवण अबलाओंकी ओर अधिक आशा-भावसे बँध जाती है!

मुझे मालूम हुआ, कि मैं पण्डितजीके रामचन्द्रको छोड़कर बालकोंके रामजीकी ओर इस समय उठकर तनिक चला जाऊँ तो यह मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्रका अपमान शायद न होगा।

मैं उठा। इतनेमें पड़ोसी सज्जन लपककर पास आये, बोले—बैठिए बैठिए, बाबूजी।

मैंने कहा—मैं जाऊँगा ज़रा....

सज्जनने हाथ जोड़कर कहा—जाइएगा? आपने बड़ी कृपा की। लीजिए, यह प्रसाद तो लेते जाइए।

मैंने प्रसाद लिया और चला आया।

ज़रूरी भेदाभेद

भेद

एसोसिएशनका सदस्य तो मैं नहीं हूँ, सदस्य कहींका भी नहीं हूँ, पर एक मित्र सदस्य हैं, उनकी वजहसे कभी कभी यहाँ आ जाता हूँ। एसोसिएशनको ज्ञात हुआ है कि मैं विलायत गया हूँ, अँगरेज़ी बोल लेता हूँ, अतः मेरी उपस्थिति उन्हें अप्रिय नहीं होती।

यही क्यों, कुछ लोगोंसे वहाँ बेतकल्लुफी भी हो गई है। एक हैं लाला महेश्वरनाथजी। बहुत ज़िन्दादिल आदमी हैं। वकील हैं, और अच्छे बड़े वकील हैं। जायदाद भी है। अध्ययनशील हैं और नये विचारोंके प्रशंसक हैं। सार्वजनिक सेवाके कामोंमें अच्छा योग देते रहते हैं। दिल खोलकर मिलते और बात करते हैं। मैं उनसे प्रभावित हूँ।

आज बीचमें मसला सोशलिज़्मका था और बैठक सरगर्म थी।

महेश्वरजीको सोशलिज़्मका क़ायल होनेसे कोई बचाव नहीं दीखता। उन्हें अचरज है कि कोई आदमी ईमानदार होकर सोशलिज़्मको माने बिना कैसे रह सकता है!—यह सच्ची बात है, कोई जबरदस्ती सच्चाईसे आँख मीचना चाहे तो बात दूसरी; पर सोशलिज़्म उजालेके समान साफ है। हम और आप उसके समर्थक हो सकते हैं, चाहें तो विरोधी हो सकते हैं। पर हमारे समर्थन और विरोधकी गिनती क्या है? सोशलिज़्म युग-सत्य है, वह युग-धर्म है।

मैं इस तरहकी बातोंके बीचमें कुछ विमूढ़ बन जाता हूँ,—सत्य क्या है, यह मैं नहीं जानता। और जब कोई निर्भ्रान्त होकर सामने

कहता है कि सत्य अमुक और अमुक है, तब मैं ससम्भ्रम उसके चेहरेकी ओर देखकर सोच उठता हूँ 'क्या पता है कि वही सत्य हो। तुम स्वयं तो कुछ जानते हो नहीं, तब यही कैसे कह सकते हो कि वह सत्य नहीं है!'

महेश्वरजी कहते रहे कि "जी हाँ, सोशलिज़्म युग-धर्म है। मनुष्य व्यक्ति बनकर समाप्त नहीं है। वह समाजका अङ्ग है। समाज व्यक्तिसे बड़ी सत्ता है। व्यक्तिगत परिभाषा खड़ी करके आदमी अपनेको बाँध लेता है, कहता है, 'यह मेरी चीज़, मेरी जायदाद!' इस तरह जितने व्यक्ति हैं उतने असंख्य स्वार्थ खड़े होते हैं। उन स्वार्थोंमें संघर्ष होता है और फलतः क्लेश उत्पन्न होता है। मनुष्यके कर्ममेंसे और कर्म-फलमेंसे उसका, यानी एक व्यक्तिका, स्वत्व-भाव उठ जाना चाहिए। एक संस्था हो जो समाजकी प्रतिनिधि हो, जिसमें समस्त केन्द्रित हो,—एक सोशलिस्ट स्टेट। वह संस्था स्वत्वाधिकारी हो,—व्यक्ति समाज-संस्थाके हाथमें हो, वह साधन हो, सेवक हो। और स्टेट (यानी वह संस्था) ही मूल व्यवसायोंकी मालिक हो, उपादानोंकी भी मालिक हो, भूमिकी भी मालिक हो और फिर पैदावारकी भी मालिक वही हो। व्यक्तिको आपाधापी न करने दी जाय।—देखिए न आज एक दास है दूसरा प्रभु है। एक क्यों,—जब दस दास हैं तब एक प्रभु है। लड़ाइयाँ होती हैं,—कभी देश-प्रेम और दायित्व-रक्षाके नामपर होती हैं पर असलमें वे लड़ाइयाँ प्रभुओंके स्वार्थोंमें होती हैं और उन्हींके पोषणके लिए होती हैं। उन युद्धोंमें हजारों-लाखों आदमी मरते हैं। पर उन लाखोंकी मौत उनको मोटा बनाती है जो युद्धके असली कारण होते हैं। यह हालत व्यक्ति-

स्वातन्त्र्यसे पैदा हुई है। मनुष्य पशु है,—वह एक सामाजिक पशु है, नैतिक पशु है, या और कुछ चाहे कहिए, पर वह है औसतन् पशु। समाजका शासन उसपर अनिवार्य है। स्वत्व सब समाजमें रहें, व्यक्ति निस्स्वत्व हो। व्यक्तिका धर्म आत्म-दान है, उसका स्वत्व कुछ नहीं है। उसका कर्त्तव्य सेवा है।—आज इसी जीवन-नीतिके आधारपर समाजकी रचना खड़ी करनी होगी। सोशलिज़्म यही कहता है और उसके औचित्यका खंडन नहीं किया जा सकता।"

महेश्वरजीसे असहमत होनेके लिए मेरे पास अवकाश नहीं है पर उनकी-सी दृढ़ता भी मुझमें नहीं है और न उतनी साफ साफ बातें मुझे दीख पाती हैं। यह मैं जानता हूँ कि मानव पशु है, फिर भी मन इसपर सन्तुष्ट नहीं होता कि वह पशु ही है। पशु हो, पर मानव भी क्या वह नहीं है? और महेश्वरजीकी ओर सस्पृह-सम्भ्रमके साथ देखता रह जाता हूँ।

"आप कुछ कहिए, लेकिन मैं तो सोलह आने इस चीज़में बँध गया हूँ। आप जानते हैं, मेरे पास जायदाद है। लेकिन मैं जानता हूँ वह मेरी नहीं है। मैं प्रतीक्षामें हूँ कि कब स्थिति बदले और एक समर्थ और सदाशय सोशलिस्ट स्टेट इस सबको अपने जिम्मे ले ले। मैं खुशीसे इसके लिए तैयार होऊँगा। सोशलाइज़ेशन हुए बिना उपाय नहीं। यों उलझनें बढ़ती ही जायँगीं। आप देखिए, मेरे दस मकान हैं, मैं अकेला हूँ। मैं उन सब दस मकानोंमें कैसे रह सकता हूँ? यह बिलकुल नामुमकिन है। फिर यह चीज़ कि वे दस मकान मेरे हैं, कहीं न कहीं झूठ हो जाती है,—ग़लत हो जाती है। जब यह मुमकिन नहीं है कि मैं दस मकानोंमें रह सकूँ, तब यह भी

नामुमकिन है कि वे दस मकान मेरे हों। किन्तु, यही असम्भवता आजका सबसे ठोस सत्य बनी हुई है। मैं कहता हूँ यह रोग है, मैं कहता हूँ यह झूठ है। लेकिन सोशलिस्ट स्टेट आनेमें दिन लग सकते हैं, तब तक मुझे यह बर्दाश्त ही करते रहना होगा कि वे दसों मकान मेरे हों और मैं उन्हें अपना मानूँ;—यद्यपि मैं अपने मनमें जानता हूँ कि वे मकान मुझसे ज़्यादा उनके हैं जो अपनेको कियायेदार समझते हैं और जिन्हें उनकी ज़रूरत है।"

इस स्थलपर एकाएक रुककर मेरी ओर मुखातिब होकर उन्होंने कहा—क्यों कैलाश बाबू?

शायद मैंने ऊपर नहीं कहा कि जिस मकानमें मैं रहता हूँ वह महेश्वरनाथजीका है। मैं उनके प्रश्नका कुछ उत्तर नहीं दे सका।

उन्होंने फिर पूछा—क्यों कैलाश बाबू, आप क्या कहते हैं? सोशलिज़्ममें ही क्या समाजके रोगका इलाज नहीं है? हमारी राज-नीतिके लिए क्या वही सिद्धान्त दिशा-दर्शक नहीं होना चाहिए? हम कैसी समाज-रचना चाहते हैं, कैसी सरकार चाहते हैं, मनुष्योंके आपसी सम्बन्धोंके कैसे नियामक चाहते हैं?—आप तो लिखा भी करते हैं, बताइए क्या कहते हैं?

मैं लिखता तो हूँ, पर छोटी छोटी बातें लिखता हूँ। बड़ी बातें बड़ी मालूम होती हैं। लेखक होकर जानते जानते मैंने यह जाना है कि मैं बड़ा नहीं हूँ, विद्वान् नहीं हूँ। बड़ी बातोंमें मेरा वश नहीं है। कहते हैं, लेखक विचारक होता है। मालूम तो मुझे भी कुछ ऐसा होता है। पर मेरी विचारकता छोटी छोटी बातोंसे

मुझे छुट्टी नहीं लेने देती। मैंने कहा—मैं इस बारेमें क्या कह सकता हूँ।

महेश्वरजीने सहास प्रसन्नतासे कहा—वाह, आप नहीं कह सकते तो कौन कह सकता है?

मैंने कहा—मुझे मालूम नहीं। मैंने अभी सोशलिज़्मपर पूरा साहित्य नहीं पढ़ा है। पाँच-सात किताबें पढ़ी हैं। और सोशलिज़्मपर साहित्य है इतना कि उसे पढ़नेके लिए एक ज़िन्दगी काफी नहीं है। तब मैं इस ज़िन्दगीमें उसके बारेमें क्या कह सकता हूँ?

महेश्वरजीने कहा—भाई, बड़े चतुर हो! बचना कोई तुमसे सीखे।

पर मुझे जब इस तरह अपनी ही हारपर चतुराईका श्रेय दिया जाता है, तब मैं लज्जासे ढँक जाता हूँ। लगता है कि मेरी अज्ञानता कहीं उनके व्यङ्गका विषय तो नहीं हो रही है!

मैंने कहा—नहीं, बचनेकी तो बात नहीं—

महेश्वरजी बोले—तो क्या बात है, कहिए न।

अपनी कठिनाई जतलाते हुए मैंने कहा कि जब मैं समाजकी समस्यापर विचारना चाहता हूँ, तभी अपनेको ठेलकर यह विचार सामने आ खड़ा होता है कि समाजकी समस्याके विचारसे मेरा क्या सम्बन्ध है। तब मुझे मालूम होता है कि सम्बन्ध तो है, और वह सम्बन्ध बड़ा घनिष्ठ है। वास्तवमें मेरी अपनी ही समस्या समाजकी भी समस्या है। वे दोनों भिन्न नहीं हैं। व्यक्तिका व्यापक रूप समाज है। पर चूँकि मैं व्यक्ति हूँ, इसलिए समस्याका निदान और समाधान मुझे मूल-व्यक्तिकी परिभाषामें खोजना और पाना अधिक उपयुक्त और सम्भव मालूम होता है। इस भाँति, बात मेरे लिए

हवाई और शास्त्रीय कम हो जाती है और वह कुछ अधिक निकट, मानवीय और जीवित बन जाती है। मेरे लिए एक सवाल यह भी है कि मुझे रोटी मिले। मिलनेपर फिर सवाल होता है कि समझें, कैसे मिली? इसी सवालके साथ लगा चला आता है पैसेका सवाल। वह पैसा काफी या और ज़्यादा क्यों नहीं आया? या कैसे आये? क्यों आये? वह कहाँसे चलकर मुझतक आता है? क्यों वह पैसा एक जगह जाकर इकट्ठा होता है और दूसरी जगह पहुँचता ही नहीं? यह पैसा है क्या?—ये और इस तरहके और और सवाल खड़े होते हैं। इन सब सवालोंके अस्तित्वकी सार्थकता तभी है जब कि मूल प्रश्नसे उनका नाता जुड़ा रहे। यह मैं आपको बताऊँ कि शङ्काकी प्रवृत्ति मुझमें खूब है। शङ्काओंके प्रत्युत्तरमें ही मेरा लेखन-कार्य सम्भव होता है। तब यह तो आप न समझिए कि मैं बहुत तृप्त और सन्तुष्ट जीवन जीता हूँ। लेकिन, सोशलिज़्मके मामलेमें दखल देनेके लिए ऐसा मालूम होता है कि मुझे विचारकसे अधिक विद्वान् होना चाहिए। विद्वान् मैं नहीं हो पाता। किताबें मैं पढ़ता हूँ, फिर भी वे मुझे विद्वान् नहीं बनातीं। मेरे साथ तो रोग यह लग गया है कि अतीतको मैं आजके सम्बन्धकी अपेक्षामें देखना चाहता हूँ, भविष्यका सम्बन्ध भी आजसे बिठा लेना चाहता हूँ और विद्याको जीवनपर कसते रहना चाहता हूँ। इसमें, बहुत-से अतीत और बहुत-से स्वप्न और बहुत-सी विद्यासे मुझे हाथ धोना पड़ता है। यह दयनीय हो सकता है और मैं कह सकता हूँ कि आप मुझे मुझपर छोड़ दें। सोशलिज़्मका मैं कृतज्ञ हूँ, उससे मुझे व्यायाम मिलता है। वह अच्छे वार्तालापकी चीज़ है। लेकिन आज और

इस क्षण मुझे क्या और कैसा होना चाहिए, इसकी कोई सूझ इस 'इज़्म'मेंसे मुझे प्राप्त नहीं होती। मुझे मालूम होता है कि मैं जो कुछ हूँ, सोशलिस्टिक स्टेटकी प्रतीक्षा करता हुआ वही बना रह सकता हूँ और अपना सोशलिज़्म अखण्ड भी रख सकता हूँ। तब मैं उसके बारेमें क्या कह सकूँ? क्योंकि मेरा क्षेत्र तो परिमित है न? सोशलिज़्म एक विचारका प्रतीक है। विचार शक्ति है। वह शक्ति किन्तु 'इज़्म' की नहीं है, उसको माननेवाले लोगोंकी सचाईकी वह शक्ति है। लोगोंको जयजयकारके लिए एक पुकार चाहिए। किन्तु पुकारका वह शब्द मुख्य उत्साह है। उसीके कारण शब्दमें सत्यता आती है। सोशलिज़्मका विधान वैसा ही है, जैसा झण्डेका कपड़ा। झण्डेको सत्य बनानेवाला कपड़ा नहीं है, शहीदोंका खून है। सोशलिज़्मकी सफलता यदि हुई है, हो रही है, या होगी, वह नहीं निर्भर है इस बातपर कि सोशलिज्म अन्ततः क्या है और क्या नहीं है, प्रत्युत् वह सफलता अवलम्बित है इसपर कि सोशलिस्ट अपने जीवनमें अपने मन्तव्योंके साथ कितना अभिन्न और तल्लीन है और कितना वह निस्स्वार्थ है। और अपने निजकी और आजकी दृष्टिसे, अर्थात् शुद्ध व्यवहारकी दृष्टिसे, यह सोशल-इज़्म मुझे अपने लिए इतना वादमय, इतना हटा हुआ और अशास्त्रीय-सा तत्त्व ज्ञात होता है कि मुझे उसमें तल्लीनता नहीं मिलती। और मैं क्या कहूँ? धर्मसे बड़ी शक्ति मैं नहीं जानता। पर जीवनसे कटकर जब वह एक मतवाद और पन्थका रूप धरता है, तब वही निर्वीर्यताका बहाना और

पाखण्डका गढ़ बन जाता है। सोशलिज़्मको आरम्भसे ही एक वाद बनाया जा रहा है,—यह सोशलिज़्मके लिए ही भयङ्कर है।

महेश्वरजीने कहा—आप तो मिस्टिक हुए जा रहे हैं कैलाश बाबू, पर इससे दुनियाका काम नहीं चलता। आप शायद वह चाहते हैं जो साथ साथ दूसरी दुनियाको भी सँभाले।

—हाँ, मैं वह चाहता हूँ जिससे सभी कुछ सँभले। जिससे समग्रतामें जीवनका हल हो। मुझे *जीवन-नीति* चाहिए, समाज अथवा राज-नीति नहीं। वह जीवन-नीति ही फिर समाजकी अपेक्षा राज-नीति बन जायगी। जीवन एक है, उसमें खाने नहीं हैं। जैसे कि व्यक्तिका वह सँभलना ग़लत है जो कि समाजको बिगाड़ता है, उसी तरह दुनियाका वह सँभलना ग़लत है जिसमें दूसरी दुनिया (अगर वह हो, तो उस) के बिगड़नेका डर है। आदमी करोड़पति हो, यह उसकी सिद्धि नहीं है। वह सम्पूर्णतः परार्थ-तत्पर हो, यही उसकी सफलता है। इसी तरह दुनियाकी सिद्धि दुनियवीपनकी अतिशयतामें नहीं है, वह किसी और बड़ी सत्तासे सम्बन्धित है।

—आपका मतलब धर्मसे है?

—हाँ, वह भी मेरा मतलब है।

—लेकिन आप सोशलिज़्मके खिलाफ तो नहीं हैं?

—नहीं, खिलाफ नहीं हूँ। लेकिन—

—बस इतना ही चाहिए। 'लेकिन' फिर देखेंगे—

यह कहकर महेश्वरजीने तनिक मुसकराकर चारों ओर देखा और फिर सामने रखे एक झागसे भरे गिलासको उठाकर वह दूसरी ओर चले गये। मैं बैठा देखता रह गया और फिर....

अभेद

रात...

सब सो गये हैं और आसमानमें तारे घिरे हैं। मैं उनकी ओर देखता हुआ जागता हूँ। नींद आती ही नहीं। मेरा मन उन तारोंको देखकर विस्मय, स्नेह और अज्ञानसे भरा आता है। वे तारे हैं, छोटी छोटी चमकती बुन्दियोंके-से कैसे प्यारे प्यारे तारे! पर उनमेंसे हरएक अपनेमें एक विश्व है। वे कितने हैं?—कुछ पार नहीं, कुछ भी अन्त नहीं। कितनी दूर हैं?—कोई पता नहीं। हिसाबकी पहुँचसे बाहर, वे नन्हें नन्हें झिप झिप चमक रहे हैं। उनके तले कल्पना स्तब्ध हो जाती है। स्वर्णके चूर्णसे छाया, शान्त, सुन्न, सहास्य कैसा यह ब्रह्माण्ड है!—एकान्त, अछोर, फिर भी कैसा निकट, कैसा स्वगत!...मुझे नींद नहीं आती और मैं उसे नहीं बुलाना चाहता। चाहता हूँ, यह सब तारे मुझे मिल जायँ। वे मुझमें आ जायँ। मुझसे बाहर कुछ भी न रहे। सब कुछ मुझमें हो रहे, और मैं उनमें।

मैं अपनेको बहुत छोटा लगता हूँ, बहुत छोटा।—बिलकुल बिन्दु, एक जर्रा, एक शून्य। और इस समय जितना मैं अपनेको शून्य अनुभव करता हूँ, उतना ही मेरा मन भरता आता है। जाने कैसे, मैं अपनेको उतना ही बड़ा होता हुआ पाता हूँ। जैसे जीके भीतर आह्लाद भरा जाता हो, उमड़ा आता हो। मुझे बड़ा अच्छा लग रहा है कि मैं कुछ भी नहीं हूँ। जो हूँ, समस्तकी गोदमें हूँ; और हूँ, तो बस इस ज्ञानके आनन्दके लिए हूँ कि सब हैं, सबमें मैं हूँ। मुझे मालूम होता है कि मेरी सीमाएँ मिट गई हैं, मैं खोया जा रहा हूँ, मिला जा रहा हूँ। मालूम होता है, एक गम्भीर आनन्द...

तारे उस नीले शून्यमें गहरेसे गहरे पैठे हैं। जहाँतक नीलिमा है, वहाँ तक वे हैं। यह स्वर्ण-कणोंसे भरा नीला नीला क्या है? आकाश क्या है? समय क्या है? मैं क्या हूँ?—पर जो हो, मैं आनन्दमें हूँ। इस समय तो मेरी अज्ञानता ही सबसे बड़ा ज्ञान है। मैं कुछ नहीं जानता, यही मेरी स्वतन्त्रता है। ज्ञानका बन्धन मुझे नहीं चाहिए, नहीं चाहिए। तारोंका अर्थ मुझे नहीं चाहिए, नहीं चाहिए। मुझे उनका तारा-पन ही सब है, वही बस है। मैं उन्हें तारे ही समझूँगा, तारे बनाकर मैं उनमें अपनापन, अपना मन भिगोये रखता हूँ। मुझे नहीं चाहिए कोई ज्ञान। उस समस्तके आगे तो मैं बस इतना ही चाहता हूँ कि मैं सारे रोम खोलकर प्रस्तुत हो रहूँ। चारों ओर अपनेको छोड़ दूँ और भीतरसे अपनेको रिक्त कर दूँ कि यह निस्सीमता, यह समस्तता बिना बाधाके मुझे छुए और मेरे भीतर भर जाय।

लोग सो रहे हैं। रात बीत रही है। मुझे नींद नहीं है। और लोग भी होंगे, जिन्हें नींद न होगी। वे राजा भी हो सकते हैं, रङ्क भी हो सकते हैं। अरे राजा क्या, रङ्क क्या? नींदके सामने कोई क्या है? किसकी नींदको कौन रोक सकता है? आदमी अपनी नींदको आप ही रोक सकता है। दुनियामें भेद-विभेद हैं, नियम कानून हैं। पर भेद-विभेद कितने ही हों, नियम-कानून कैसे ही हों,—रात रात है। जो नहीं सोते वे नहीं सोते, पर रात सबको सुलाती है। सब भेद-प्रभेद भी सो जाते हैं, नियम-कानून भी सो जाते हैं। रातमें रङ्ककी नींद राजा नहीं छीनेगा और राजाकी नींद भी रङ्ककी नींदसे प्यारी नहीं हो सकेगी। नींद सबको बराबर

समझेगी, वह सबको बराबरीमें डुबा देगी। नींदमें फिर स्वप्न आयेंगे और वे, मनुष्यकी बाधा मिटाकर, उसे जहाँ वह चाहें, ले जायेंगे। रातको जब आदमी सोयेगा, तब प्रकृति उसे थपकेगी। आदमी दिन-भर अपने बीचमें खड़े किये विभेदोंके झगड़ोंसे झगड़कर जब हारेगा और हारकर सोयेगा, तब उसकी बन्द पलकोंपर प्रकृति स्वप्न लहरायेगी। उन स्वप्नोंमें रङ्क सोनेके महलोंमें वास करे तो कोई राजा उसे रोकने नहीं आयेगा। वह वहाँ सब सुख-सम्भोग पायेगा। राजा अगर उन स्वप्नोंमें सङ्कटके मुँहमें पड़ेगा और क्लेश भोगेगा तो कोई चाटुकार उसे इससे बचा नहीं सकेगा। राजा, अपनी आत्माको लेकर, मात्र स्वयं होकर ही अपनी नींद पायेगा। तब वह है और उसके भीतरका अव्यक्त है। तब वह राजा कहाँ है?—मात्र बेचारा है। इसी प्रकार नींदमें वह रङ्क भी मात्र अपनी आत्माके सम्मुख हो रहेगा। तब वह है और उसमें सन्निहित अव्यक्त है। तब वह बेचारा कहाँ रङ्क है! वह तब प्रकृत रूपमें जो है, वही है।

उस रात्रिकी निस्तब्धतामें, आकाशके महाशून्यमें और प्रकृतिकी चौकसीमें अपनी मानवीय अस्मिताको खोकर,—सौंपकर मानव, शिशु बनकर, सो जाता है। पर फिर दिन आता है। तब आदमी कहता है कि वह जाग्रत् है। वह कहता है कि तब वह सावधान है। और जाग्रत् और सावधान बनकर वह मानव कहता है कि मानवतामें श्रेणियाँ हैं,—अभेद तो मिथ्या स्वप्न था, सार अथवा सत्य तो भेद है। तब वह कहता है कि मैं चेतन उतना नहीं हूँ, जितना राजा हूँ अथवा रङ्क हूँ। स्वप्नसे हमारा काम नहीं चलेगा, काम ज्ञानसे चलेगा। ज्ञानका सच्चा नाम विज्ञान है। और वह विज्ञान यह है कि

मैं या तो गरीब हूँ या अमीर हूँ। दिनमें क्या अब उसने आँखें नहीं खोल ली हैं? दिनमें क्या वह चीज़ोंको अधिक नहीं पहचानता है? दिन रातकी तरह अँधेरा नहीं है; वह उजला है। तारे अँधेरेका सत्य हों, पर जाग्रत् अवस्थामें क्या वे झूठ नहीं हैं?—देखो न, कैसे दिनके उजालेमें भाग छिपे हैं! जाग्रत् दिनके सत्यको कौन त्याग सकता है? वही अचल सत्य है, वही ठोस सत्य है। और वह सत्य यह है कि तारे नहीं हैं, हम हैं। हमी हैं और हम जाग्रत् हैं। और सामने हमारे हमारी समस्याएँ हैं। अतः मनुष्य कर्म करेगा, वह युद्ध करेगा, वह तर्क करेगा, वह जानेगा। नींद ग़लत है और स्वप्न भ्रम है। यह दुःखप्रद है कि मानव सोता है और सोना अमानवता है। अँधेरी रात क्या ग़लत ही नहीं है कि जिसका सहारा लेकर आसमान तारोंसे चमक जाता है, और दुनिया धुँधली हो जाती है? हमें चारों ओर धूप चाहिए, धूप जिससे हमारे आसपासका छुट-बड़पन चमक उठे और दूरकी सब आसमानी व्यर्थता लुप्त हो जाय।

मैं जानता हूँ, यह ठीक है। ठीक ही कैसे नहीं है? लेकिन क्या यह भूल भी नहीं है? और भूलपर स्थापित होनेसे क्या सर्वथा भूल ही नहीं है? क्या यह ग़लत है कि नींदसे हम ताजा होते हैं और दिन-भरकी हमारी थकान खो जाती है? क्या यह ग़लत है कि हम प्रभातमें जब जीतने और जीनेके लिए उद्यत होते हैं, तब सन्ध्यानन्तर नींद चाहते हैं? क्या यह नहीं हो सकता कि स्वप्नोंमें हम अपनी थकान खोते हैं, और फिर उन्हीं स्वप्नोंकी राह अपनेमें ताजगी भी भरते हैं? क्या यह नहीं हो सकता कि दिनमें हम व्यक्तके साथ इतने जड़ित और अव्यक्तके प्रति इतने जड़ होते हैं कि रातमें अव्यक्त,

व्यक्तको शून्य बनाकर, स्वयं प्रस्फुटित होता है और इस भाँति हमारे जीवनके भीतरकी समताको स्थिर रखता है ? क्या यह भी नहीं हो सकता कि हम स्वप्नमें विभेदको तिरस्कृत करके अभेदका पान करते और, उसीके परिणाममें, उठकर विभेदसे युद्ध करनेमें अधिक समर्थ होते हैं ? क्या यह नहीं हो सकता कि रातपर दिन निर्भर है, और रात न हो तो दिन दूभर हो जाय ? क्या यह नहीं है कि विभेद तब तक असत्य है, असम्भव है, जब तक अभेद उसमें व्याप्त न हो ? क्या—

पर, रात बीत रही है, और मेरी आँखोंमें नींद नहीं है। ओः, यह समस्त क्या है ? मैं क्या हूँ ? मैं कुछ नहीं जानता,—मैं कुछ नहीं जानूँगा। मैं सब हूँ। सबमें हूँ।

तभी कहीं घण्टा बजा—ए-क। जैसे अँधेरेमें गूँज गया, ए-ए-क। मैं उस गूँजको सुनता हुआ रह गया। गूँज धीमे धीमे विलीन हो गई, और सन्नाटा फिर वैसे ही सुन्न हो गया। मैंने कहा—'एक !' मैंने दोहराया—'एक, एक, एक।' मैंने दोहराना जारी रक्खा और नींद कुछ मेरी ओर उतरने लगी। अब मैं सोऊँगा। मैं सोऊँगा। बाहर अनेकताके बीच एक बनकर स्थिर शान्तिसे क्यों न मैं सो जाऊँगा ? मैं चाहने लगा, मैं सोऊँ। पर तारे हँसते थे और हँसते थे, और मेरी आँखोंमें नींद धीमे ही धीमे उतरकर आ रही थी।

ज़रूरी

दिनके साढ़े दस बजे होंगे। मैं मेजपर बैठा था तभी मुंशीजी आये। लाला महेश्वरनाथजीकी जो शहरके इधर-उधर और कई

तरफ फैली हुई जायदाद है, उस सबकी देख-भाल इन मुंशीजीपर है। मुंशीजी बड़े कर्म-व्यस्त और संक्षिप्त शब्दोंके आदमी हैं। विनयशील बहुत हैं, बहुत लिहाज रखते हैं। पर कर्त्तव्यके समय तत्पर हैं।

मुंशीजीने कहा—मुझे माफ कीजिएगा। ओः, मैंने हर्ज किया! पर हाँ,—वह,—यह तीसरा महीना है। आप चेक कब भिजवा दीजिएगा? रायसाहब कहते थे—

बात यह है कि पिछले दो माहका किराया मैंने नहीं दिया। दिया क्या नहीं, दे नहीं पाया। मैंने मुंशीजीकी ओर देखा। मुझे यह अनुग्रह कष्टकर हुआ कि मुंशीजी अब भी अपनी विनम्रता और विनयशीलताको अपने काबूमें किये हुए हैं। वह धमकाकर भी तो कह सकते हैं कि लाइए साहब, किराया दीजिए। यह क्या अधिक अनुकूल न हो?

यह सोचता हुआ मैं फिर अपने सामने मेजपर लिखे जाते हुए कागजोंको देखने लगा।

मुंशीजीने कहा—मेरे लिए क्या हुकुम है?

पर मेरी समझमें न आया कि उनके लिए क्या हुक्म हो। अगर (मैंने सोचा) इनकी जगह खुद (रायसाहब) महेश्वरजी होते, तो उनसे कहता कि किरायेकी बात तो फिर पीछे देखिएगा, इस समय तो आइए सुनिए कि मैंने इस लेखमें क्या लिखा है। महेश्वरजीको साहित्यमें रस है और वह विचारवान् हैं,—विचारवानसे आशय यह नहीं कि किराया लेना उन्हें छोड़ देना चाहिए। अभिप्राय यह, कि वह अवश्य ऐसे व्यक्ति हैं कि किरायेकी-सी छोटी बातोंको पीछे रखकर

वह सैद्धान्तिक गहरी बातोंपर पहले विचार करें। लेकिन, इन मुंशीजीको मैं क्या कहूँ? क्या मैंने देखा नहीं कि किरायेकी बातपर सदा यह मुंशीजी ही सामने हुए हैं, और रायसाहबसे जब जब साक्षात् होता है, तब इस प्रकारकी तुच्छता उनके आस पास भी नहीं देखनेमें आती और वह गम्भीर मानसिक और आध्यात्मिक चर्चा ही करते हैं।

हुक्मकी प्रार्थना और प्रतीक्षा करते हुए मुंशीजीको सामने रहने देकर मैं कुछ और जरूरी बातें सोचने लगा। मैंने सोचा कि—

मैं जानता हूँ कि मुझे काम करना चाहिए और मैं काम करता हूँ। सात घण्टे हर एकको काम करना चाहिए। मैं साढ़े सात घण्टे करता हूँ। जो काम करता हूँ वह उपयोगी है।—वह बहुत उपयोगी है। वह काम समाजका एक जरूरी और बड़ी जिम्मेदारीका काम है। क्या मैं स्वार्थ-बुद्धिसे काम करता हूँ? नहीं, स्वार्थ-भावनासे नहीं करता। क्या मेरे कामकी बाजार-दर इतनी नहीं है कि मैं जरूरी हवा, जरूरी प्रकाश और जरूरी खुराक पाकर जरूरी कुनबा और जरूरी सामाजिकता और जरूरी दिमाग़ियत निबाह सकूँ? शायद नहीं। पर ऐसा क्यों नहीं है? और ऐसा नहीं है, तो इसमें मेरा क्या अपराध है?

अपने कामको मैंने व्यापारका रूप नहीं दिया है। आजका व्यापार शोषण है। मैं शोषक नहीं होना चाहता।

इसी दुनियामें, पर दूसरी जगह, मेरे जैसे कामकी बहुत कीमत और कदर भी है। मेरे पास अगर मकान नहीं है और मकानमें

रहनेका एवज देनेके लिए काफी पैसा नहीं है, तो इसका दोष किस भाँति मुझमें है, यह मैं जानना चाहता हूँ।

मैं जानना चाहता हूँ कि समाज जब कि मेरी तारीफ भी करता है, तो जीवन और जीवनके जरूरी उपादानोंसे मैं वञ्चित किस प्रकार रक्खा जा रहा हूँ?

मैं जानना चाहता हूँ कि अगर मकानका किराया होना जरूरी है, तो यह भी जरूरी क्यों नहीं है कि वह रुपया मेरे पास प्रस्तुत रहे? वह रुपया कहाँसे चलकर मेरे पास आवे, और वह क्यों नहीं आता है? और, यदि वह नहीं आता है, तो क्यों यह मेरे लिए चिन्ताका विषय बना दिया जाना चाहिए? और किस नैतिक आधारपर यह मुंशीजी सरकारसे फरियाद कर सकते हैं कि मैं अभियोगी ठहराया जाऊँ और सरकारी जज विना मनोवेदनाके कैसे मुझे अभियुक्त ठहराकर मेरे खिलाफ डिग्री दे सकता है? और समाज भी क्यों मुझे दोषी समझनेको उद्यत है?

क्या इन रुपयोंके बिना महेश्वरजीका कोई काम अटका है? इन किरायेके रुपयोंपर उनका हक़ बनने और कायम रहनेमें कैसे आया?

रुपया उपयोगितामें जाना चाहिए कि विलासितामें?

वह समाज और सरकार क्या है जो रुपयेके बहावको विलाससे मोड़कर उपयोगकी ओर नहीं ढालती?

क्या कभी मैंने महेश्वरजीसे कहा कि वह मुझे मात्र रहने दें? क्यों वह मुझसे किराया लेते हैं?—न लें।

नहीं कहा तो क्यों नहीं कहा? क्या यह कहना जरूरी नहीं है?....लेकिन, क्या यह कहना ठीक है?

मैं अगर इस चीजसे इनकार कर दूँ और फल भुगतनेको प्रस्तुत हो जाऊँ, तो इसमें क्या अनीति है ? क्या यह अयुक्त हो ?....

इतनेमें मुंशीजीने कहा कि उनको और भी काम हैं। मैं जल्दी फरमा दूँ कि चेक ठीक किस रोज भेज दिया जायगा। ठीक तारीख मैं फरमा दूँ जिससे कि—

(मैंने सोचा) यह मुंशीजी इतने जोरके साथ अपनी विनय आखिर किस भाँति और किस वास्ते थामे हुए हैं ? प्रतीत होता है कि अब उनकी विनयकी वाणीमें कुछ कुछ उनके सरकारानुमोदित अधिकार-गर्वकी सव्यङ्ग मिठास भी आ मिली है। मैंने कहा न, कि मुंशीजी बहुत भले आदमी हैं। यह अच्छी तरह जानते हुए भी कि पैसेके वकील और सरकारके सवेतन कर्मचारियोंके बलसे वह मेरा लोटा-थाली कुर्क करा सकते हैं, यह जानते हुए भी (—या, ही) वह विनय-लज्जित हैं। मैं जानता हूँ कि कर्तव्यके समय वह कटिबद्ध भी दीखेंगे, फिर भी मेरा उनमें इतना विश्वास है कि मैं कह सकता हूँ कि उस समय भी अपनी लज्जाको और अपने तकल्लुफको वह छोड़ेंगे नहीं। इसीका नाम वजेदारी है।

मैंने कहा—मुंशी साहब, आपको तकलीफ हुई। लेकिन अभी तो मेरे पास कुछ नहीं है।

—तो कब तक भिजवा दीजिएगा ?

मैंने कहा—आप ही बताइए कि ठीक ठीक मैं क्या कह सकता हूँ।

बोले—तो ?

'तो'का मेरे पास क्या जवाब था। मैंने चाहा कि हँसूँ।

उन्होंने कहा कि रायसाहबने फरमाया था कि मैं इत्तला दूँ कि बहुत दिन हो गये हैं। न हो तो,—और मकान देख लें।

मैंने हँसकर कहा—और मकान? लेकिन किराया तो वहाँ भी देना होगा न? मुश्किल तो वही है।

मुंशीजी सहानुभूतिके साथ मेरी ओर देखते रह गये।

मैंने उन्हें देखकर कहा—खैर, जल्दी ही मैं किराया भिजवा दूँगा।

—जी हाँ, जल्दी भिजवा दीजिएगा। और आयन्दासे तीस तारीख तक भिजवा दें तो अच्छा। रायसाहबने कहा था—

मैंने कहा—अच्छा—

मुंशीजी फिर आदाब बजा लाकर चले गये। उनके चले जानेपर मैंने पुनः अपने लेखकी ओर ध्यान किया जो लाजिमी तौरपर जबर्दस्त लेख होनेवाला था।

उपयोगिता

शायद चौथी क्लासमें आकर अँग्रेज़ीकी पहली किताबके पहले सबक़में हमने पढ़ा—'परमात्मा दयालु है। उसने हमारे पीनेके लिए पानी बनाया, जीनेके लिए हवा, खानेके लिए फल-मेवा, आदि आदि।'

पढ़कर वह सीधी तरह हमें पचा नहीं। हम भोले नहीं थे। बच्चे तो थे, पर बुद्धिमान् किसीसे कम नहीं थे। पूछा—क्यों मास्टरजी, सब कुछ ईश्वरने बनाया है?

मास्टरजी बोले—नहीं तो क्या?

जहाँ हम पढ़ते थे वहाँ हवा आधुनिक थी। बालकोंमें स्वतंत्र बुद्धि जागे, यह लक्ष्य था। हमने कहा—तो उस ईश्वरको किसने बनाया है? और उस ईश्वरने कहाँ बैठकर किस तारीख़को यह सब कुछ बनाया है?

मास्टरजीने कहा—पढ़ो पढ़ो। वाहियत बातें मत करो।

जी हाँ, वाहियात बात! पहलीमें नहीं, दूसरीमें नहीं, तीसरीमें नहीं, चौथी क्लासमें हम थे। हमें धोखा देना आसान न था। और कुछ जानें न जानें, इतना तो जानते ही थे कि ईश्वर वहम है। यह भी जानते थे कि ईश्वरने सभ्यताका बहुत नुकसान किया है। वह पाखंड है। उससे छुट्टी मिलनी चाहिए। सो, उस सबक़पर हमने मास्टरजीको चुप करके ही छोड़ा। मास्टरजीकी एक भी बात हमारे

हाथों साबित नहीं बची, सब हमने काट-फाँट फेंकी। मास्टर झुँझलाकर तब इतना ही कह पाये—पढ़ो, पढ़ो।

मास्टरजीपर हमने दया की कि सबक़ आगे भी पढ़ा। लेकिन उस समय दो बातें हम निर्भ्रांत रूपमें जान चुके थे—

१ कि ईश्वर कुछ नहीं है और हो तो फ़िज़ूल है और उसने कुछ नहीं बनाया।

२ कि जो कुछ है हमारे लिए है। सृष्टिमें सार हम हैं।

आज उस बातको पैंतीस-चालीस, जाने कितने बरस हो गये हैं और आज जो मैं जानता हूँ वह है कि—

१ ईश्वर ही है, और

२ कि हमारे लिए कुछ नहीं है। बेशक हम सबके लिए हैं। सृष्टि सार है, हम सेवक हैं।

दस बरसका वह (मैं) नवीन बालक पैंतालीस-पचास बरसके आजके मुझ जीर्ण बालकसे अधिक अज्ञान था, यह मैं नहीं कह सकता। अज्ञानी मैं जैसाका तैसा हूँ। बीचमें इतना अंतर अवश्य पड़ा है कि पैंतीस-चालीस वर्षके अनुभवका मैल मेरे सिर और चढ़ गया है। मनकी स्वच्छतामें दस वर्षके बालकसे मेरी कोई समता नहीं है। इतने बरसोंकी दुनियादारीकी मलिनतासे मैं आज मलिन हूँ। बालककी भाँति मेरी बुद्धि कहाँ स्वतंत्र है?

इसलिए, आप भला करें कि मेरी बात न सुनें। फिर भी अगर आप इस बातको सुनना गवारा करते हैं तो मैं विश्वासपूर्वक कह देता हूँ कि न खेलता पानी हमारे लिए है, न बहती हवा हमारे लिए है। न सूरजकी धौली धूप, न चाँदकी छिटकी चाँदनी

तनिक भी हमारी हो सकती है । पहाड़ आसमानमें उजला माथा उठाए धूपसे झकझकाता हुआ खड़ा है । फलोंसे लदे पेड़ नम्र भावसे हौले हौले झूम रहे हैं । खेतोंमें पौधोंके शीर्षपर पके अन्नकी सुनहरी बालें झूमर-सी लटक रही हैं । घास बिछी है, आकाश है, बादल लहर लहर भाग रहे हैं । यह सब कुछ है, पर यह मेरे बिना भी है । मेरे निमित्त नहीं है, मैं उनके निमित्त हूँ । सब सबके लिए है और कुछ मेरे लिए नहीं है ।

मैं यह विश्वासपूर्वक कहता हूँ। लेकिन यह भी कहता हूँ कि आप उसे विवेकपूर्वक ही स्वीकार करें ।

पर जरा ठहरिए । इस बातचीतके आरम्भसे ही एक भाई मेरे पास बैठे हैं । अधीर हैं, शायद कुछ कहना चाहते हैं । इजाज़त दें तो उनकी बात सुन लूँ ।

'हाँ भाई, क्या कहते हैं ? कहो, कहो, सकुचाओ मत ।'

'कहता यह हूँ' उन्होंने कहा, 'कि आप बूढ़े हो गये हैं । आपकी बुद्धि सठिया गई है । आप चौदहवीं सदीमें रहते हैं । खेतमें अनाज कौन बोता है ?—हम बोते हैं । किस लिए बोते हैं ?—अपने खानेके लिए बोते हैं । अगर उस अनाजके होनेमें कोई अर्थ है तो यह अर्थ है कि हम उसे खाएँ । जो है वह अगर हमारे लिए नहीं है तो किसके लिए है ?'

यह भाई विद्वान् मालूम होते हैं । अच्छी समझदारीकी बात कहते हैं । लेकिन—

'आप चुप क्यों हो गये ?' उन भाईने टोंककर कहा, 'आप बहक गये हैं—'

मैंने क्षमा प्रार्थनापूर्वक विश्वास दिलाया, 'मैं सुन रहा हूँ, सुन रहा हूँ।'

'सुन रहे हैं तो सुनिए' वह बोले, 'हमारे माथेमें आँखें हैं। हमारे बाहुओंमें बल है। आपकी तरहकी मौनकी प्रतीक्षा ही हमारा काम नहीं है। प्रकृतिका जितना वैभव है, हमारे लिए है। उसमें जो गुप्त है इसलिए है कि हम उसे उद्घाटित करें। धरतीमें छिपा जल है तो इसलिए कि हम उस धरतीको छेद डालें और कुए खोदकर पानी खींच लें। धरतीके भीतर सोना-चाँदी दबा है और कोयला बंद है,—अब हम हैं कि धरतीको पोला करके उसके भीतरसे सब कुछ उगलवा लें। आप कहिए कि कुछ हमारे लिए नहीं है तो बेशक कुछ भी आपके लिए न होगा। पर मैं कहता हूँ कि सब-कुछ हमारे लिए है; और तब, कुछ भी हमारी मुट्ठीमें आये बिना नहीं रह सकता।'

वह विद्वान् पुरुष देखनेसे अभी पकी आयुके नहीं जान पड़ते। उनकी देह दुर्बल है, पर चेहरेपर प्रतिभा दीखती है। ऊपरकी बात कहते हुए उनका मुख जो पीला है, रक्ताभ हो आया है। मैंने पूछा 'भाई, आप कौन हो? काफी साहस आपने प्राप्त किया है।'

'जी हाँ, साहस हमारा हक़ है। मैं युवक हूँ। मैं वही हूँ जो स्रष्टा होते हैं। मानवका उपकार किसने किया है? उसने जिसने कि निर्माण किया है। उसने जिसने कि साहस किया है। निर्माता साहसी होता है। वह आत्म-विश्वासी होता है। मैं वही युवक हूँ। मैं वृद्ध नहीं होना चाहता।'

कहते कहते युवक मानो काँप आये। उनकी आवाज़ काफी

तेज हो गई थी। मानो किसीको चुनौती दे रहे हों। मुझे नहीं प्रतीत हुआ कि यह युवक वृद्ध होनेमें सचमुच देर लगाएँगे। बाल उनके अब भी जहाँ-तहाँसे पक चले हैं। उनका स्वास्थ्य हर्षप्रद नहीं है और उनकी इंद्रियाँ विना बाहरी सहायताके मानो काम करनेसे अब भी इन्कार करना चाहती हैं।

मैंने कहा, 'भाई, मान भी लिया कि सब कुछ हमारे लिए है। तब फिर हम किसके लिए हैं?'

युवकने उद्दीप्त भावसे कहा, 'हम किसके लिए हैं? हम किसीके लिए नहीं हैं। हम अपने लिए हैं। मनुष्य सचराचर विश्वमें मूर्धन्य है। वह विश्वका भोक्ता है। सब उसके लिए साधन हैं। वह स्वयं अपने आपमें साध्य है। मनुष्य अपने लिए है। बाकी और सब-कुछ मनुष्यके लिए है—'

मैंने देखा कि युवकका उद्दीपन इस भाँति अधिक न हो जाय। मानव-प्राणीकी श्रेष्ठतासे मानो उनका मस्तक चहक रहा है। मानो वह श्रेष्ठता उनसे झिल नहीं रही है, उनमें समा नहीं रही है। श्रेष्ठता तो अच्छी ही चीज़ है, पर वह बोझ बन जाय यह ठीक नहीं है। मैंने कहा, 'भाई, मैंने जल-पानको पूछा ही नहीं। ठहरो, कुछ जल-पान मँगाता हूँ।'

युवकने कहा, 'नहीं—नहीं,' और वह कुछ अस्थिर हो गया।

मैंने उनका संकोच देखकर हठ नहीं की। कहा, 'देखो भाई, हम अपने आपमें पूरे नहीं हैं। ऐसा होता तो किसी चीज़की ज़रूरत न होती। पूरे होनेके रास्तेमें ज़रूरतें होती हैं। पूरे हो जानेका लक्षण ही यह है कि हम कहें यह ज़रूरत नहीं रह गई।

कोई वस्तु उपयोगी है, इसका अर्थ यही है कि हमारे भीतर उसकी उपयोगिताके लिए जगह खाली है। सब-कुछ हमें चाहिए, इसका मतलब यह है कि अपने भीतर हम बिल्कुल खाली हैं। सब कुछ हमारा हो,—इस हविसकी जड़में तथ्य यह है कि हम अपने नहीं हैं। सबपर अगर हम क़ब्ज़ा करना चाहते हैं तो आशय है कि हमपर हमारा ही कावू नहीं है, हम पदार्थोंके गुलाम हैं। क्यों भाई, आप गुलाम होना पसंद करते हो?'

युवकका चेहरा तमतमा आया। उन्होंने कहा, 'गुलाम! मैं सबका मालिक हूँ। मैं पुरुष हूँ। पुरुषकी कौन बराबरी कर सकता है? सब प्राणी और सब पदार्थ उसके चाकर हैं। वह अधिष्ठाता है, वह स्वामी है। मैं गुलाम? मैं पुरुष हूँ,—मैं गुलाम!....'

आवेशमें आकर युवक खड़े हो गये। देखा कि इस बार उनको रोकना कठिन हो जायगा। बढ़कर मैंने उनके कंधेपर हाथ रक्खा और प्रेमके अधिकारसे कहा, 'जो दूसरेको पकड़ता है, वह खुद पकड़ा जाता है। जो दूसरेको बाँधता है वह खुदको बाँधता है। जो दूसरेको खोलता है वह खुद भी खुलता है। अपने प्रयोजनके घेरेमें किसी पदार्थको या प्राणीको घेरना खुद अपने चारों ओर घेरा डाल लेना है। इस प्रकार स्वामी बनना दूसरे अर्थोंमें दास बनना है। इसीलिए, मैं कहता हूँ कि कुछ हमारे लिए नहीं है। इस तरह सबको आज़ाद करके अपनानेसे हम सच्चे अर्थोंमें उन्हें 'अपना' बना सकते हैं। अनुरक्तिमें हम क्षुद्र बनते हैं, विरक्त होकर हम ही विस्तृत हो जाते हैं। हाथमें कुंडी बगलमें सोंटा, चारों दिसि

जागीरीमें—भाई, चारों दिशाओंको अपनी जागीर बनानेकी राह है तो यह है।—'

अब तक युवक धैर्यपूर्वक सुनते रहे थे। अब उन्होंने मेरा हाथ अपने कंधेपरसे झटक दिया और बोले, 'आपकी बुद्धि बहक गई है। मैं आपकी प्रशंसा सुनकर आया था। आप कुछ कर्तृत्वका उपदेश न देकर यह मीठी बहककी बातें सुनाते हैं। मैं उनमें फँसनेवाला नहीं हूँ। प्रकृतिसे युद्धकी आवश्यकता है। निरंतर युद्ध, अविराम युद्ध। प्रकृतिने मनुष्यको हीन बनाया है। यह मनुष्यका काम है कि उसपर विजय पाये और उसे चेरी बनाकर छोड़े। मैं कभी यह नहीं सुनूँगा कि मनुष्य प्रारब्धका दास है—'

मैंने कहा, 'ठीक तो है। लेकिन भाई—'

पर मुझे युवकने बीचहीमें तोड़ दिया। कहा, 'जी नहीं, मैं कुछ नहीं सुन सकता। देश हमारा रसातलको जा रहा है। और उसके लिए आप जैसे लोग ज़िम्मेदार हैं—'

मैं एक इकेला-सा आदमी कैसे इस भारी देशको रसातल जितनी दूर भेजनेका श्रेय पा सकता हूँ, यह कुछ मेरी समझमें नहीं आया। कहना चाहा, 'सुनो तो भाई—'

लेकिन युवकने कहा, 'जी नहीं, माफ़ कीजिए।' यह कहकर वह युवक मुझे वहीं छोड़ तेज़ चालसे चले गये।

असलमें इतनी बात बढ़नेपर मैं पूछना चाहता था कि भाई, तुम्हारी शादी हुई या नहीं? कोई बाल-बच्चा है? कुछ नौकरी चाकरीका ठीक-ठाक है, या कि क्या? गुज़ारा कैसे चलता है?— मैं उनसे कहना चाहता था कि भाई, यह दुनिया अजब जगह है;

सो तुम्हें जब ज़रूरत हो और मैं जिस योग्य समझा जाऊँ, उसे कहनेमें मुझसे हिचकनेकी आवश्यकता नहीं है। तुम विद्वान् हो, कुछ करना चाहते हो। मैं इसके लिए तुम्हारा कृतज्ञ हूँ। मुझे तुम अपना ही जानो। देखो भाई, संकोच न करना।—पर उन युवकने यह कहनेका मुझे अवसर नहीं दिया, रोष भावसे मुझे परे हटाकर चलते चले गये।

उन युवककी एक भी बात मुझे नामुनासिब नहीं मालूम हुई। सब बातें युवकोचित थीं। पर उन बातोंको लेकर अधीर होनेकी आवश्यकता मेरी समझमें नहीं आई। मुझे जान पड़ता है कि सब कुछका स्वामी बननेसे पहले खुद अपना मालिक बननेका प्रयत्न वह करें तो ज्यादा कार्यकारी हो। युवककी योग्यता असंदिग्ध है, पर दृष्टि उनकी कहीं सदोष भी न हो! उनके ऐनक लगी थी, इससे शायद निगाह निर्दोष पूरी तरह न रही होगी।

पर वह युवक तो मुझे छोड़ ही गये हैं। तब यह अनुचित होगा कि मैं उन्हें न छोडूँ। इससे आइए, उन युवकके प्रति अपनी मंगल-कामनाओंका देय देकर इस अपनी बातचीतके सूत्रको सँभालें।

प्रश्न यह है कि अपनेको समस्तका केंद्र मानकर क्या हम यथार्थ सत्यको समझ सकते अथवा पा सकते हैं?

निस्संदेह सहज हमारे लिए यही है कि केंद्र हम अपनेको मानें और शेष विश्वको उसी अपेक्षामें ग्रहण करें। जिस जगह हम खड़े हैं, दुनिया उसी स्थलको मध्य-बिंदु मानकर वृत्ताकार फैली हुई दीख पड़ती है। जान पड़ता है, धरती चपटी है, थालीकी भाँति गोल है और स्थिर है। सूरज उसके चारों ओर घूमता है। स्थूल

आँखोंसे और स्थूल बुद्धिसे यह बात इतनी सहज सत्य मालूम होती है कि जैसे अन्यथा कुछ हो ही नहीं सकता। अगर कुछ प्रत्यक्ष सत्य है तो यह ही है।

पर आज हम जानते हैं कि यह बात यथार्थ नहीं है। जो यथार्थ है उसे हम तभी पा सकते हैं जब अपनेको विश्वके केंद्र माननेसे हम ऊँचे उठें।—अपनेको मानकर भी किसी भाँति अपनेको न मानना आरंभ करें।

सृष्टि हमारे निमित्त है, यह धारणा अप्राकृतिक नहीं है। पर उस धारणापर अटक कर कल्पनाहीन प्राणी ही रह सकता है। मानव अन्य प्राणियोंकी भाँति कल्पनाशून्य प्राणी नहीं है।—मानवको तो यह जानना ही होगा कि सृष्टिका हेतु हममें निहित नहीं है। हम स्वयं सृष्टिका भाग हैं। हम नहीं थे, पर सृष्टि थी। हम नहीं रहेंगे, पर सृष्टि रहेगी।

सृष्टिके साथ और सृष्टिके पदार्थोंके साथ हमारा सच्चा संबंध क्या है? क्या हो?

मेरी प्रतीति है कि प्रयोजन और 'युटिलिटी' शब्दसे जिस संबंधका बोध होता है वह सच्चा नहीं है। वह काम-चलाऊ भर है। वह परिमित है, कृत्रिम है और बंधनकारक है। उससे कोई किसीको पा नहीं सकता।

सच्चा संबंध प्रेमका, भ्रातृत्वका और आनन्दका है। इसी संबंधमें पूर्णता है, उपलब्धि है और आह्लाद है; न यहाँ किसीको किसीकी अपेक्षा है, न उपेक्षा है। यह प्रसन्न, उदात्त, समभावका संबंध है।

पानी हमारे पीनेके लिए बना है, हवा जीनेके लिए,—आदि

कथन शिथिल दृष्टिकोणका है। अतः, यह कथन पद-सत्य ही है। ऊँचे उठकर उसकी सचाई चुक जाती है और वह असत्य हो सकता है। हमारे लौकिक ज्ञान-विज्ञान-शास्त्र जबतक इस 'युटिलिटी' (=उपयोगिता) की धारणापर खड़े हैं तबतक मानना चाहिए कि वे ढहकर गिर भी सकते हैं। उनकी नींव गहरी नहीं गई। वे शास्त्र अभी सामयिक हैं और शाश्वतका उनको आधार नहीं है।

पानी हमारे पीनेके लिए बना है, यह कहना पानीकी अपनी सचाईको बहुत परिमित कर देना है। इसका अर्थ यह है कि जबतक मुझे प्यास न हो तबतक पानी निरर्थक है। अपनी प्यासके द्वारा ही यदि हम पानीको ग्रहण करते हैं तो हम पानीको नहीं पाते, सिर्फ़ अपनी प्यास बुझाते हैं।

पानीकी यथार्थता तक पहुँचनेके लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी प्यास बुझानेकी लालसा और ग़रज़की आँखोंसे पानीको न देखें, उससे कुछ ऊँचा नाता पानीके साथ स्थापित करें।

जिसने पानीके संबंधमें किसी नवीन सचाईका आविष्कार किया, जिसने उस पानीको अधिक उपलब्ध किया और कराया, वह व्यक्ति प्यासा न रहा होगा। पानीके साथ उसका संबंध अधिक आत्मीय और स्नेह-स्निग्ध रहा होगा। वह पानीका ठेकेदार न होगा। वह उसका साधक और शोधक रहा होगा।

जिस व्यक्तिने जाना और बताया कि पानी H_2O (= दो भाग हाइड्रोजन, एक भाग आक्सीजन) है उसने हमसे ज़्यादा पानीकी उस सचाईको प्राप्त किया है। यहकह कर और यहीं

रुक कर कि पानी हमारे पीनेके लिए बना है, हम उसकी भीतरी सचाईको (उसकी आत्माको) पानेसे अपनेको वंचित ही करते हैं।

स्पष्ट है कि पानीको H_2O रूपमें देखने और दिखानेवाला व्यक्ति पीनेके वक्त उस पानीको पीता भी होगा। पर कहनेका मतलब यह है कि उस पदार्थके साथ उस आविष्कर्त्ताका सम्बन्ध मात्र प्रयोजनका नहीं था, कुछ ऊँचे स्तरपर था।

प्रयोजनका माप हमारा अपना है। हम सीमित हैं, बहुत सीमित हैं, परंतु विश्व वैसा और उतना सीमित नहीं है। इसलिए, विश्वको अपने प्रयोजनोंके मापसे मापना आस्मानको अपने हाथकी बिलाँदसे नापने जैसा है।

पर सच यह है कि हम करें भी क्या ? नापनेका माप हमारे पास अपनी बिलाँद ही है। तिसपर नापनेकी तबीयतसे भी हमारा छुटकारा नहीं है। नाप-जोख किये बिना हमारे मनको चैन नहीं। नाप नाप कर ही हम बढ़ेंगे। एकाएक मापहीन अकूल अनंतमें पहुँच भी जायँ तो वहाँ टिकेंगे कैसे ?

बेशक यह ठीक है। नाप नाप कर बढ़ना ही एक उपाय है। हमारे पास लोटा है तो लोटे-भर पानी कुएँसे खींच लें और अपना काम चलावें। ध्यान तो बस इतना रखना है कि न आस्मान बिलाँद जितना है, न कुएँका पानी लोटा-भर है।—बिलाँदमें आस्मानको न पकड़ें, न लोटेमें कुएको समेटें!

प्रयोजन होना ग़लत नहीं है। दुनियामें प्रयोजन नहीं रक्खेंगे तो शायद हमें रोटी मिलनेकी नौबत न आयगी। पर प्रयोजनके

हाथों सचाई हाथ आनेवाली नहीं है, यह बात पक्के तौरपर जान लेनी चाहिए।

जो कुछ है उसकी गर्दनपर अपने प्रयोजनका जूआ जा चढ़ानेसे हमारी उन्नतिकी गाड़ी नहीं खिंचेगी। जीवन ऐसे समृद्ध न होगा। साहित्यको, कलाको, धर्मको, ईश्वरको,—सब कुछको प्रयोजनमें जाननेकी चेष्टा निष्फल है। यह नहीं कि वे निष्प्रयोजन हैं पर आशय यह कि उन सत्योंकी सचाई प्रयोजनातीत है।

लोक-कर्ममें इस तथ्यको ओझल करके चलनेसे हम खतरेमें पड़ सकते हैं। पर मनुष्यका धन्य भाग्य यह है कि उसकी मूर्खताकी क्षमता भी परिमित है।

हमारे समाजमें साठ वर्षसे ऊपरके वृद्धोंकी उपयोगिता कितनी है? अगर वह तौलमें उतनी मूल्यवान् नहीं है कि जितना उनके पालनमें व्यय हो जाता हो, तो क्या यह निर्णय किया जा सकता है कि उन सबको एक ही दिन आरामके साथ समाप्त करके स्वर्ग रवाना कर दिया जाय? समाज-व्यवस्थाका हिसाव-किताव शायद दिखावे कि इस भाँति इंतज़ाममें सुविधा और सफ़ाई होगी पर यह नहीं किया जा सका और न किया जा सकता है। यदि अब तक कहीं यह नहीं किया जा सका तो निष्कर्ष यह है कि उपयोगिता-शास्त्र फिर अपनी उपयोगितामें किसी महत्तत्त्वका प्रार्थी है।

एक बार एक आमिष-भोजनके प्रचारकने निरुत्तर कर देनेवाली बात सुनाई। उन्होंने कहा कि अगर बकरे खाए न जायँ तो बताइए उनका क्या किया जाय? कोई उपयोग तो उनका है नहीं। तिसपर वे इतने बहुतायतसे पैदा होते और इतने बहुतायतसे बढ़ते हैं कि

अगर उन्हें बढ़ने दिया जाय तो वे आदमीकी ज़िन्दगीको असंभव बना दें। फिर बढ़कर या तो वे भूखे मरें, जो कि निर्दयता होगी, नहीं तो वे दुनियाकी खाद्य-सामग्रीको खुद खा-खाकर पूरा कर देंगे और फूलते जायँगे। ऐसे दुनियाका काम कैसे चल सकता है? इसलिए, मांस खाना लाज़िम है।

यह लाज़िम होनेकी बात वह जानें। लेकिन, मानव-प्राणियोंके प्रति दयार्द्र होकर बकरोंको खा जाना होगा, यह बात मेरी समझमें नहीं आई। पर उनकी दलीलका उत्तर क्या होगा? उत्तर न भी बने, पर यह निश्चित है कि वह दलील सही नहीं है, क्योंकि उसका परिणाम अशुद्ध है। मानव-तर्क अपूर्ण है और मैं कभी नहीं समझता कि उस तलके तर्कोंके आधारपर आमिष अथवा निरामिष भोजनका प्रचार-प्रतिपादन हो सकता है।

'अहं' को केंद्र और औचित्य-प्रदाता मानकर चलनेमें बड़ी भूल यह है कि हम बिसार देते हैं कि दूसरेमें भी किसी प्रकारका अपना 'अहं' हो सकता है। हम अपनी इच्छाओंका दूसरेपर आरोप करते हैं और जब इसमें अकृतार्थ होते हैं तो झींकते-झल्लाते हैं। असलमें यह हमारा एक तरहका बचपन ही है। हमारा मन रखनेके लिए तमाम सृष्टिकी रचना नहीं हुई है और हम अपना मन सब जगह अटकाते हैं!—ऐसे दुख न उपजे तो क्या हो?

छुटपनकी बात है। तब हमने पाठशालामें सीखा ही सीखा था कि धरती नारंगीके माफ़िक गोल है। सोचा करते थे कि इस तरह तो अमरीका हमारे पैरोंके नीचे है और हमको बड़ा अचरज होता था कि अमरीकाके लोग उल्टे कैसे चलते होंगे? वे गिर क्यों नहीं

पड़ते ? क्योंकि वे धरतीपर पैरोंके बल खड़े थोड़े ही हो सकते हैं, वे तो मानों धरतीसे नीचेकी ओर अधर लटके हुए हैं। उस समय हम अपनेको बड़ा भाग्यशाली मानते थे कि हम भारत-भूमिमें पैदा हुए, अमरीकामें पैदा नहीं हुए, नहीं तो उल्टे लटके रहना पड़ता !

आज भी जाने-अनजाने हममेंसे बहुतोंका वही हाल है। जिन धारणाओंको पकड़ कर हम खड़े हैं, हमें जान पड़ता है कि सच्ची सचाई वहीं है, शेष सबके हाथों बस झूठ ही झूठ आकर रह गया है। पर जैसे कि ऊपर उदाहरणमें ऊँच-नीचकी हमारी भ्रान्त कल्पना ही हमारी परेशानीका कारण थी वैसे ही अन्य हमारी अहंकृत कल्पनाएँ हमारे वैर-विरोधका कारण होती हैं।

ऊपरके चित्रमें इ को पृथ्वीका केंद्र मानिए। अ, ब, स और द उस पृथिवीपर चार अलग बिन्दुओंपर खड़े हुए चार व्यक्ति हैं। क्या वे अपनी अपनी जगहपर किसी तरह भी ऊँचे-नीचे या कम-अधिक हैं ? असलमें उनका अपनी ऊँच-नीचकी धारणाके हिसाबसे

दूसरेको नापना बिलकुल ग़लत होगा। जिस धरतीपर वे खड़े हैं उसका केंद्र (अंतरात्मा) ३ है। उनकी सब प्रतीतियाँ, सब गतियाँ अन्ततः अपनी सिद्धिके लिए उस ३ बिन्दुकी अपेक्षा रखती हैं। वह ३ बिन्दु सबसे समान दूरीपर है। वह सबको एक-सा प्राप्य अथवा अप्राप्य है। सब प्रकारका भेद उस केंद्र-बिन्दु ३ में जाकर लय हो जाता है। वहाँसे आगे कोई दिशा नहीं जाती। सब दिशाएँ वहाँसे चलती हैं और वहीं समाप्त होती हैं। अ ३ स अपने आपमें कोई रेखा नहीं है। कोई दिशा या कोई ऐसी रेखा नहीं हो सकती जिसके एक सिरेपर वह (जीवनका) केंद्र-बिन्दु विराजमान् न हो। इसलिए अ ३ स चाहे एक सीधी रेखा दीख पड़ती हो, पर वह भ्रांति है;—वैसा है नहीं। वृत्तकी परिधिपरके सब बिन्दु माध्याकर्षणद्वारा ३ के प्रति आकृष्ट हैं। उस आकर्षणके ऐक्यके कारण ही पृथ्वी थमी हुई है। ३ सबका स्रोत-बिन्दु है, समस्तका अन्तरात्मा है। वहाँ जाकर किसीकी भिन्न सत्ता नहीं रहती। इस प्रकार अ और स इन दो बिन्दुओंसे प्रतिकूल दिशाओंमें चलनेवाली दोनों रेखाएँ ३ में ही गिरती हैं। और वे दोनों असलमें प्रतिकूल भी नहीं हैं, दोनों अनुकूल हैं, क्योंकि दोनों अपने केंद्रकी ओर चल रही हैं।

चित्रसे प्रकट है कि किस प्रकार अ, ब, स और द अपने अपने विशिष्ट बिन्दुओं (अहं) को केंद्र मान लें तो उन व्यक्तियोंका जीवन भ्रान्त ही हो जायगा और उस जीवनको कोई दिशा न प्राप्त होगी।

हमारे लौकिक शास्त्र और लौकिक कर्म बहुधा इसी अहं-चक्रमें पड़कर विफल हो जाते हैं। अपने घरके घड़ेके पानीमें जो हम

आस्मानका अक्स देखते हैं उसीको आस्मान और उतनेहीको आस्मानका परिणाम मान लेते हैं। अगर हम यह भूल न करें तो उस आस्मानके प्रतिबिंबसे बहुत लाभ उठा सकते हैं। पर अक्सर इतनी समझ हमें नहीं होती और हम अपना अलाभ अधिक कर डालते हैं।

यह भी विचारना चाहिए कि हमारे घरके घड़ेमें प्रतिविम्बित होना आस्मानकी सार्थकता नहीं है। उसकी सत्ताका हेतु यह नहीं है। अपनेमें बिम्ब धारण करना तो उस घड़ेका पानीका गुण-विशेष है। उतना ही आकाशका धर्म और अर्थ मान बैठना उस महारहस्यमय आकाशसे प्राप्त हो सकनेवाले अगाध आनन्दसे अपनेको वंचित कर लेना है। दूसरे शब्दोंमें, वह मानवकी महान् मूर्खता है।

पर इस अनंत शून्याकाशको मैं बाँधकर रक्खूँ, तो कहाँ ? देखूँ, तो कैसे ?—आँखें वहाँ ठहरती ही नहीं। वह अति गूढ़ है, अति शून्य है। अपने घड़ेके भीतरके उस प्रतिविम्बमें मैं बिना कंपनके झाँक तो सकता हूँ। यह नील धवल महाशून्याकाश, नहीं तो, मुझसे देखा नहीं जाता, जाना नहीं जाता। कैसे मानूँ कि मैं बहुत अकेला हूँ, बहुत छोटा हूँ। वह असीम है, वारापार उसका कहाँ है ? और मैं उसे देखूँ क्यों नहीं ? इसलिए, मैं उसे अपने घटके शांत पानीमें ही उतार कर देखूँगा।

मैं ज़रूर वही करूँ। वही एक गति है और वही उपयोगिताकी उपयोगिता है।

इससे आगे उपयोगिताको दौड़ाना अपनी सवारीके टट्टूको

हवामें भगाना है। ऐसे, टट्टू मुँहके बल गिरेगा और सवारकी भी ख़ैर नहीं है।

दिल्ली नगरमें बच्चोंके लिए दूधकी ज़रूरत है और सावनमें ये बादल फिर भी पानी ही बरसाते हैं! आकाश सूना खड़ा है, क्यों नहीं गुच्छेके गुच्छे अंगूर टपका देता है? हमें ज़रूरत अंगूरोंकी है और आकाश निरुपयोगी भावसे बेहयाईके साथ कोराका कोरा खड़ा है! ये बादल और आस्मान दोनों निकम्मे हैं। उनसे कोई वास्ता मत रक्खो। जो उनसे सरोकार रखते हैं उनका बायकाट कर दो। ये तारे, रातमें चमकनेवाली यह दूधिया आकाश-गंगा, वह बर्फ़ीली चोटियाँ, वह मचलती हवा, वह प्रातः सायं क्षितिजसे लगकर बिखर रहनेवाले रंग-बिरंगे रंग,—ये सब वृथा हैं। हमको पैसेकी सख़्त ज़रूरत है, रोटीकी बेहद भूख है। और इन सब चीज़ोंसे न रोटी मिलती है, न कौड़ी हाथ आती है। वे अनुपयोगी हैं। मत देखो उनकी तरफ़। इंकार कर दो उन्हें। उनसे समाजका क्या लाभ? और हम हिसाब-बहीमें लाभ चाहते हैं, लाभ!

तो ऐसी पुकार, कहना होगा कि, निरी बौखलाहट है। वह उपयोगिताकी भयंकर अनुपयोगिता है।

व्यवसायका सत्य

एक रोज एक भेदने मुझे पकड़ लिया। बात यों हुई। मैं एक मित्रके साथ बाज़ार गया था। मित्रने बाजारमें कोई डेढ़ सौ रुपये खर्च किये। सो तो हुआ, लेकिन जब घर आकर उन्होंने अपना हिसाब लिखा और खर्च-खाते सिर्फ पाँच रुपये ही लिखे गये, तब मैंने कहा, 'यह क्या?' बोले, 'बाकी रुपया खर्च थोड़े हुआ है। वह तो इन्वेस्टमेण्ट है।'

इन्वेस्टमेण्ट! यानी खर्च होकर भी वह खर्च नहीं है। कुछ और है। खर्च और इस दूसरी वस्तुके अन्तरके सम्बन्धमें कुछ तो अर्थकी झलक साधारणतः मेरे मनमें रहा करती है; पर उस वक्त जैसे एक प्रश्न मुझे देखता हुआ सामने खड़ा हो गया। जान पड़ा कि समझना चाहिए कि खर्च तो क्या, और 'इन्वेस्टमेण्ट' क्या? क्या विशेषता होनेसे खर्च खर्च न रहकर यह 'इन्वेस्टमेण्ट' हो जाता है? उसी भेदको यहाँ समझकर देखना है और उसे तनिक जीवनकी परिभाषामें भी फैलाकर देखेंगे।

रुपया कभी जमकर बैठनेके लिए नहीं है। वह प्रवाही है। अगर वह चले नहीं तो निकम्मा है। अपने इस निरन्तर भ्रमणमें वह कहीं-कहींसे चलता हुआ हमारे पास आता है। हमारे पाससे कहीं और चला जायगा। जीवन प्रगतिशील है, और रुपयेका गुण भी गतिशीलता है। रुपयेके इस प्रवाही गुणके कारण यह तो असम्भव है कि हम उसे रोक रक्खें। पहले कुछ लोग धनको ज़मीनमें गाड़ देते थे। गड़ा

हुआ धन वैसा ही मुर्दा है जैसे गड़ा हुआ आदमी। वह वीज नहीं है कि धरतीमें गड़कर उगे। गाड़नेसे रुपयेकी आव विगड़ जाती है, फिर भी, उसमें प्रत्युत्पादनकी शक्ति है वीजसे कहीं अधिक,—यद्यपि वह भिन्न प्रकारकी उत्पादन शक्ति है। उस शक्तिको कुण्ठित करनेसे आदमी समाजका अलाभ करता है। खैर, रुपयेको गाड़कर निकम्मा वना देने या उसे कैदखानेमें वन्दी करके डाल देनेकी प्रवृत्ति अव कम है। रुपया वह है कि जमा रहने-भरसे सूद लाता है। सूद वह इसलिए लाता है कि कुछ और लोग उस रुपयेको गति-शील रखते हैं,—वे उससे मुनाफा उठाते हैं। उसी गति-शीलताके मुनाफेका कुछ हिस्सा सूद कहलाता है।

रुपया गतिशील होनेसे ही जीवनोपयोगी है। वह हस्तान्तरित होता रहता है। वह हाथमें आता है तो हाथसे निकलकर जायगा भी। अगर हमारे जीवनको वढ़ना है तो उस रुपयेको भी व्यय होते रहना है।

लेकिन उस व्ययमें हमने ऊपर देखा कि कुछ तो मात्र 'व्यय' है, कुछ आगे वढ़कर 'पूँजी' हो जाता है,—'इन्वेस्टमेण्ट' हो जाता है। समझना होगा कि सो कैसे हो जाता है?

कल्पना कीजिए कि दिवाली आनेवाली है और अपनी अपनी माँसे राम और श्यामको एक-एक रुपया मिला है। राम अपने रुपयेके कुछ खिलौने, कुछ तसवीरें और कुछ फुलझड़ी वगैरह ले आया है। श्याम अपने वारह आनेकी तो ऐसी ही चीज़ें लेता है पर चार आनेके वह रङ्गीन पतले कागज लेता है। उसने शहरमें —दील विकते देखे हैं। उसके पिताने घरमें पिछले साल एक कन्दील

बनाया भी था। श्यामने सोचा है कि वह भी कन्दील बनायेगा और बनाकर उन्हें बाजारमें बेचने जायगा। सोचता है कि देखें, क्या होता है।

रामने कहा—श्याम, यह कागज तुमने क्या लिये हैं? इसके बदलेमें वह मेम-साहबवाला खिलौना ले लो न, कैसा अच्छा लगता है।

श्यामने कहा—नहीं, मैं कागज ही लूँगा।

रामने अपने हाथके मेम-साहबवाले खिलौनेको गौरवपूर्ण भावसे देखा और तनिक सदय भावसे श्यामको देखकर कहा—अच्छा।

रामने श्यामकी इस कार्रवाईको नासमझी ही समझा है। रामके चेहरेपर प्रसन्नता है और उसने मेम-साहबवाले अपने खिलौनेको विशिष्ट रूपसे सामने कर लिया है।

रामके घरमें सब लोग खिलौनोंसे खुश हुए हैं। उसके बाद वे खिलौने टूट-फूटके लिए लापरवाहीसे छोड़ दिये गये हैं। उसी भाँति फुलझड़ियोंमेंसे जलते वक्त भाँति-भाँतिकी रंगीन चिनगारियाँ छूटी हैं। जलकर फिर फुलझड़ियाँ समाप्त हो गई हैं।

उधर यही सब श्यामके घर भी हुआ है। पर इसके बाद श्याम अपने रंगीन कागजोंको लेकर मेहनतके साथ उसके कन्दील बनानेमें लग गया है।

यहाँ स्पष्ट है कि श्यामके उन चार आनोंका खर्च खर्च नहीं है, वह पूँजी (=investment) है।

अब कल्पना कीजिए कि श्यामकी बनाई हुई कन्दीलें चार आनेसे ज़्यादहकी नहीं बिकीं। कुछ कागज खराब गये, कुछ बनानेमें

खूबसूरती नहीं आई। हो सकता था कि वे चार आनेसे भी कमको विकतीं। अच्छी साफ बनतीं तो मुमकिन था, ज्यादहको भी बिक सकती थीं। फिर भी, कल्पना यही की जाय कि वह चार ही आनेकी बिकीं और श्याम उन चार आनोंके फिर खील-बताशे लेकर घर पहुँच गया।

इस उदाहरणमें हम देख सकते हैं कि रामको दिये गये एक रुपयेने उतना चक्कर नहीं काटा। श्यामके रुपयेने ज़रा ज़्यादह चक्कर काटा। यद्यपि अन्तमें श्यामका रुपया भी, सोलह आनेका ही रहा और इस बीच श्यामने कुछ मेहनत भी उठाई। रामका रुपया भी बिना मेहनतके सोलह आनेका रहा। फिर भी, दोनोंके सोलह आनेके रुपयेकी उपयोगितामें अन्तर है। वह अन्तर श्यामके पक्षमें है और वह अन्तर यह है कि जब रामने उसके सोलहों आने खर्च किये थे, तब श्यामने उसमेंके चार आने खर्च नहीं किये थे, बल्कि 'लगाये' थे। उस 'लगाने' का मतलब यही कि उसको लेकर श्यामने कुछ मेहनत भी की थी और रुपयेका मूल्य अपनी मेहनत जोड़कर उसने कुछ बढ़ा दिया था। हम कह सकते हैं कि श्यामने रामसे अधिक बुद्धिमानीका काम किया और श्याम रामसे होनहार है। मान लो, कि उसकी कन्दीलें धेलेकी भी नहीं बिक सकीं; फिर भी, यही कहना होगा कि श्याम रामसे समझदार है। *उसने स्वयं घाटेमें रहकर भी रुपयेका अधिक मूल्य उठाया।*

प्रत्येक व्यय एक प्रकारकी प्राप्ति है। हम रुपये देते हैं तो कुछ और चीज़ पाते हैं। ऐसा हो नहीं सकता कि हम दें और लें नहीं। और कुछ नहीं, तो यह गर्व और सम्मान ही हम लेते हैं कि हम

कुछ ले नहीं रहे हैं। बिना हमें कुछ प्रति-फल दिये जब रुपया चला जाता है, तब हमें बहुत कष्ट होता है। रुपया खो गया, इसके यही माने हैं कि उसके जानेका प्रतिदान हमने नहीं पाया। जब रुपया गिर जाता है, चोरी चला जाता है, डूब जाता है, तब हमको बड़ी चोट लगती है। एक पैसा भी, बिना प्रतिदानमें हमें कुछ दिये, हमारी जेबसे यदि चला जाय तो उससे हमें दुःख होता है। यों, चाहे हजारों हम उड़ा दें।—उस उड़ा देनेमें दरअसल हम उस उड़ानेका आनन्द तो पा रहे होते हैं।

इस भाँति प्रतिफलके बिना कोई व्यय असम्भव है। किन्तु, प्रतिफलके रूपमें और उसके अनुपातमें तर-तमता होती है। और उसी तर-तमताके आधारपर कुछ व्यय अपव्यय और कुछ और व्यय 'इन्वेस्टमेएट' हो जाता है।

ऊपर श्यामका और रामका उदाहरण दिया गया। श्यामने अपने रुपयेमेंसे चार आनेका प्रतिफल जान-बूझकर अपनेसे दूर बना लिया। उस प्रतिफल और अपने चार आनेके व्ययके बीचमें उसने कन्दील बनाने और उसे बाजारमें जाकर बेचने आदि श्रमके लिए जगह बना छोड़ी। इसीलिए, वह चार आनेका 'इन्वेस्टमेण्ट' कहा गया और श्यामको बुद्धिमान् समझा गया।

परिणाम निकला, *प्रत्येक खर्च वास्तवमें पूँजी है यदि उस व्ययके प्रतिफ़लमें कुछ फासला हो और उस फासलेके बीचमें मनुष्यका श्रम हो।*—इसीको दूसरे शब्दोंमें यह कह सकते हैं कि मनुष्य और उसके व्ययके प्रतिफलके बीचमें आकांक्षाकी सङ्कीर्णता न हो। अपनी तुरन्तकी अभिलाषाको तृप्त करनेके लिए जो व्यय है, वह उतना ही

कोरा व्यय अथवा अपव्यय है और उतना ही कम अर्जनीय, इन्वेस्टमेंट अथवा सद्व्यय है। अर्थात् *प्रतिफलकी दृष्टिसे अपने व्ययमें जितनी दूरका हमारा नाता है, उतना ही उस व्ययको हम अर्जनीय या इन्वेस्टमेण्टका रूप देते हैं।*

इस बातसे अगले परिणामपर पहुँचें, इससे पहले यह जरूरी है कि इसको ही खुलासा करके समझें।

हमारे पास रुपया है, जो कि हमारे पास रहनेके लिए नहीं है। वह अपने चक्करपर है। हमारे पास वह इसलिए है कि हमारी जरूरतोंको मिटानेमें साधन बननेके बाद हममें अतिरिक्त स्फूर्ति डालने और हमें श्रममें प्रवृत्त करनेमें सहयोगी बने। हम जीयें और कार्य करें। इस जीवन-कार्यकी प्रक्रियामें ही रुपयेकी गतिशीलता घटित और सार्थक होती है।

स्पष्ट है कि रुपया असल अर्थमें किसीका नहीं हो सकता। वह चाँदीका है। वह प्रतीक है। उसका बँधा मान है। वह एक निश्चित सामर्थ्यका द्योतक है। सामर्थ्य, याने इनर्जी (energy)। *जब तक वह रुपया इनर्जीका उत्पादक है, तभी तक वह ठीक है। जब इनर्जी उससे नहीं ली जाती, उसे अपने आपमें माल और दौलत समझकर बटोरा और जमा किया जाता है, तब वह रोगका कारण बनता है।*

जिसको इन्वेस्टमेण्ट कहा जाता है, वह उस रुपयेके इनर्जी रूपको कायम रखनेकी ही पद्धति है। उसका व्यय होते रहना गति-चक्रको बढ़ाने और तीव्र करनेमें सहायक होता है।—हाँ, हम देखते हैं कि वह ठहरता भी है। वास्तवमें कोई गति अवस्थानके

बिना सम्भव नहीं होती। चेतन व्यक्त होनेके लिए अचेतनका आश्रय लेता है। इनर्जी अपने अस्तित्वके लिए 'डेड मैटर' की प्रार्थिनी है। पर जैसे नींद जागरणके लिए आवश्यक है,—नींद अपने आपमें तो प्रमाद ही है, जागरणकी सहायक होकर ही वह स्वास्थ्यप्रद और जरूरी बनती है,—वैसे ही वह व्यय है जो किसी कदर पैसेके चक्रको धीमा करता है। किन्तु, *प्रत्येक व्यय यदि अन्तमें जाकर इन्वेस्टमेण्ट नहीं है, तो वह हेय है।* हम भोजन स्वास्थ्यके लिए करते हैं और सेवाके कार्यके लिए हमें स्वास्थ्य चाहिए। इस दृष्टिसे भोजनपर किया गया खर्च इन्वेस्ट-मेण्ट बनता है। अन्यथा, रसनालोलुपताकी वजहसे भोजनपर किया गया अनाप-शनाप खर्च केवल व्यय रह जाता है और वह मूर्खता है। वह असलमें एक रोग है और भाँति-भाँतिके सामाजिक रोगोंको जनमाता है।

जहाँ जहाँ व्ययमें उपयोग-बुद्धि और विवेक-बुद्धि नहीं है, जहाँ जहाँ उसमें अधिकाधिक ममत्व-बुद्धि और विषय-बुद्धि है, वहाँ ही वहाँ मानो रुपयेके गलेको घोंटा जाता और उसके प्रवाहको अवरुद्ध किया जाता है। *सच्चा व्यवसायी वह है जो कि रुपयेको काममें लगाता है और अपने श्रमका उसमें योग-दान देकर उत्पादन बढ़ाता है। सच्चा आदमी वह है जो कर्म करता है और कर्मके फलस्वरूप और कर्म करता है।* हम देखते आ रहे हैं कि वह व्यक्ति रुपयेका मूल्य उठाना नहीं जानता जो उसे, बस, खर्च करता है। रुपयेकी कीमत तो वह जानता है जो उसे खर्च करनेके लिए ही खर्च नहीं करता यानी अपने ऊपर नहीं खर्च करता है, प्रत्युत मेहनत

करनेके लिए खर्च करता है। रुपयेके सहारे जितना अधिक श्रम-उत्पादन किया जाय, उतनी ही उस रुपयेकी सार्थकता है।

हमने ऊपर देखा कि पैसेका पूँजी बन जाना और खर्चका इन्वेस्टमेण्ट हो जाना उसके प्रतिफलसे अपना यथासाध्य अन्तर रखनेका नाम है। स्पष्ट है कि वैसे फासलेके लिए किसी कदर बेग़रज़ीकी जरूरत है। मनुष्यकी ग़रज़ उसे दूरदर्शी नहीं होने देती। ग़रज़मन्द पैसेके मामलेमें सच्चा बुद्धिमान् नहीं हो सकता। हम यह भी देख सकेंगे कि मनुष्य और उसकी ज़रूरतोंके बीचमें जितना निस्पृहताका सम्बन्ध है, उतना ही वह अपने इन्वेस्टमेण्टके बारेमें गहरा हो सकता है। जो आकांक्षा-त्रस्त है, विषय-प्रवृत्त है, वह रुपयेके चक्रको तङ्ग और सङ्कीर्ण करता है। वह समाजकी सम्पत्तिका ह्रास करता है। वह इनर्जीको रोकता है और, इस तरह, विस्फोटके साधन प्रस्तुत करता है। प्रवाही वस्तु प्रवाहमें स्वच्छ रहती है। शरीरमें खून कहीं रुक जाय तो शरीर-नाश अवश्यम्भावी है। *जो रुपयेके प्रवाहके तटपर रहकर उसके उपयोगसे अपनेको स्वस्थ और सश्रम बनानेकी जगह उस प्रवाही द्रव्यको अपनेमें खींचकर सञ्चित कर रखना चाहता है वह मूढ़ताका काम करता है। वह उसकी उपयोगिताका हनन करता और अपनी मौतको पास बुलाता है।*

आदर्श अलग। हम यहाँ व्यवहारकी बात करते हैं, उपयोगिताकी बात करते हैं। दुनिया क्यों न स्वार्थी हो? हम भी स्वार्थकी ही बात करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति क्यों न समृद्ध बने? यहाँ भी उसी समृद्धिकी बात है। हम चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति व्यवसायी हो

और हर एक व्यवसायी गहरा और अधिकाधिक होशियार व्यवसायी बने। हम यह देखते हैं कि व्यवसायी ही है जो मालदार है। यह अहेतुक नहीं है। यह भी हम जान रक्खें कि *कोई महापुरुष,—ऊँचा पुरुष अव्यवसायी नहीं होता; हाँ, वह जरा ऊँचा व्यवसायी होता है।* यहाँ हम यही दिखाना चाहते हैं कि दुनियामें अच्छेसे अच्छा सौदा करना चाहिए। कोई हरज नहीं अगर दुनियाको हाट ही समझा जाय। लेकिन जिसके बारेमें एक भक्त कविकी यह उक्ति उलहनेमें कहीं जा सके कि उसने—

'कौड़ीको तो खूब सँभाला, लाल रतनको छोड़ दिया।'

उस आदमीको बता देना होगा कि लाल रतन क्या है और क्यों कौड़ीसे उसे सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए।

हमारी ग़रज़ आँखोंको बाँध देती है। ईश्वरकी ओरसे मनुष्यकी अज्ञानताके लिए बहुत सुबिधा है। बहुत कुछ है जहाँ वह भरमा रह सकता है। लेकिन भ्रमनेसे क्या बनेगा? हम अपने ही चक्करमें पड़े हैं। जैसे फुलझड़ी जलाकर हम रङ्ग-बिरङ्गी चिनगारियाँ देखते हुए खुश हो सकते हैं, वैसे ही अगर चाहें तो अपनी ज़िन्दगीमें आग लगाकर दूसरोंके तमाशेका साधन बन सकते हैं। लेकिन पैसेका यही उपयोग नहीं है कि उसकी फुलझड़ी खरीदी जाय, न जीवनका उपयोग ऐश और विलास है। धन-सञ्चयसे अपना सामर्थ्य नहीं बढ़ता।—धनका भी सामर्थ्य कम होता है, अपना भी सामर्थ्य कम होता है। *इनर्जीको पेटके नीचे रखकर सोनेमें कुशल नहीं है। ऐसे विस्फोट न होगा, तो क्या होगा?*

पैसा खर्चके लिए नहीं है। पैसा संवर्धनके लिए है। संवर्धन, यानी जीवन-संवर्धन। धनका व्यय जहाँ संवर्धनोन्मुख नहीं है, वहाँ वह असामाजिक है, अतः पाप है। विलासोन्मुख व्ययसे सम्पत्ति नहीं; दीनता बढ़ती है।

धनमें गृद्धि उस धनकी उपयोगिताको कम करती है। प्रतिफलमें हमारी गरज जितनी कम होगी, उतना ही हमारी और उसके बीच फासला होगा। उस फासलेके कारण वह फल उतना ही बृहद् और मानवके उद्यमद्वारा वह उतना ही गुणानुगुणित होता जायगा। *वही गम्भीर और सत्य व्यवसाय है जहाँ कर्मका और व्ययका प्रतिफल दूर होते होते अन्तिम उद्देश्यमें अभिन्न, अपृथक् हो जाता है,—जहाँ इस भाँति फलाकांक्षा है ही नहीं।* विज्ञानके, व्यवसायके और अन्य क्षेत्रोंके महान् पुरुष वे हुए हैं, जिन्होंने तात्कालिक लाभसे आगेकी बात देखी; जिन्होंने मूल-तत्त्व पकड़ा और जीवनको दायित्वकी भाँति समझा; जिन्होंने नहीं चाहा विलास, नहीं चाहा आराम; जिन्होंने सुखकी ऐसे ही परवाह नहीं की, जैसे दुखकी। उनका तमाम जीवन ही एक प्रकारकी पूँजी, एक प्रकारकी समिधा बन गया। उनका जीवन बीता नहीं,—वह हविष्य बना और सार्थक हुआ। क्योंकि वे एक विचारके प्रति, आदर्शके प्रति, एक उद्देश्यके प्रति, समर्पित हुए।

अर्थशास्त्रके गणितको फैलाकर भी हम किसी और तत्त्व तक नहीं पहुँच पाते। यों अर्थशास्त्र अपने आपमें सम्पूर्ण स्वाधीन विज्ञान नहीं है। वह एकाकी स्वतन्त्र नहीं है। अब वह अधिकाधिक राजनीतिगत है, पॉलिटिक्स है। पॉलिटिक्स अधिकाधिक

समाज-शास्त्र (Social science) है । समाज-शास्त्र अधिकाधिक मानस-शास्त्र (Psychology) से सापेक्ष्य होता जाता है । मानस-शास्त्रकी भी फिर अपने आपमें स्वतन्त्र सत्ता नहीं है । क्योंकि, व्यक्ति फिर समाजमें है और जो कुछ वह अब है, उसमें समाजकी तात्कालिक और तादैशिक स्थितिका भी हाथ है । इस तरह फिर वह मानस-शास्त्र, प्राणि-शास्त्र और समाज-शास्त्र आदिपर अन्तर-अवलम्बित है । आदि ।

अर्थ-शास्त्रके आंकिक सवाल बनाने और निकालनेमें हम उसके चारों ओर कोई बन्द दायरा न खड़ा कर लें । ऐसे हम उसी चक्करके भीतर चक्कर काटते रहेंगे, और कुछ न होगा । यह ठीक नहीं है । यह उस विज्ञानको सत्यकी समस्ततासे तोड़कर उसे मुरझा डालनेके समान है ।

ऊपर हमने देखा है कि व्यावहारिक रुपये-पैसेके उपयोगका नियामक तत्त्व लगभग वही है, जो गीताका अध्यात्म मन्त्र है—अनासक्ति, निष्कामता । इस *निष्कामताकी नीतिसे कर्मका प्रतिफल नष्ट नहीं होता, न वह ह्रस्व होता है* । *प्रत्युत्*, इस भाँति, *उसके तो असंख्य गुणित होनेकी सम्भावना हो जाती है* । अत्यन्त व्यावहारिक व्यवहारसे यदि वह तत्त्व सिद्ध नहीं होता है जो कि अध्यात्मका तत्त्व कहा जाता है, तो मान लेना चाहिए कि वह अध्यात्म असिद्ध है, अ-यथार्थ है । अध्यात्म नहीं चाहिए, पर व्यवहार तो हमें चाहिए । व्यवहार-असङ्गत अध्यात्मका क्या करना है । वह निकम्मा है । गीतामें भी तो कहा है—'योगः कर्मसु कौशलं ।'

इस दृष्टिसे व्यक्ति न कह पायेगा कि सम्पत्ति उसकी है । इसमें

सम्पत्तिकी बाढ़ रुकेगी। खून रुकनेसे रोग होगा और फिर अनेक उत्पातोंका विस्फोट होगा।

हमें अपने व्यवहारमें व्यक्तिगत भाषासे क्रमशः ऊँचे उठते जाना होगा। हम कहेंगे सम्पत्ति व्यक्तिकी नहीं, वह सहयोग-समितियोंकी है। कहेंगे, वह श्रमियोंकी है। कहेंगे, वह समस्त समाजकी है, जो समाज कि राष्ट्र-सभामें प्रतिबिम्बित है। कहेंगे कि वह राष्ट्रकी है। आगे कहेंगे कि राष्ट्र क्यों, वह समस्त मानवताकी है। इसी भाँति हम बढ़ते जायँगे। अन्त तक हम देखते जायँगे कि बढ़नेकी अब भी गुञ्जाइश है। किन्तु, ध्यान रहे कि निराशाका यहाँ काम नहीं, व्यग्रताका भी यहाँ काम नहीं। हम पानेके लिए तैयार रहें कि यद्यपि बुद्धिसङ्गत (rational) आदर्शमें बढ़-चढ़कर हम मानवतासे आगे विश्व-समष्टि तक पहुँच गये हों, तब भी सङ्घर्ष बना ही है। बात यह है कि समष्टि कहनेसे व्यष्टि मिटता नहीं है। व्यक्ति भी है। वह अपने निजमें अपनेको सत्ता अनुभव करता है। समष्टि हो, पर वह भी है। उसे इनकार करोगे, तो वह समष्टिको इनकार कर उठेगा। चाहे उसे इसमें मिटना पड़े, पर वह स्वयं अपनेको कैसे न माने? ऐसी जगह मालूम होगा कि व्यक्तित्वकी धारणाको ब्रह्माण्डमें भी चाहे हम व्याप्त देखें, पर पिण्डमें भी उसे देखना होगा। और उस समय हम विश्व-समष्टिके शब्दोंसे भी असन्तुष्ट होकर कहेंगे कि जो है, सब परमात्माका है। सब परमात्मा है। यह मानकर व्यक्ति अपनी सत्तामें सिद्ध भी बनता है और वह सत्ता समष्टिके भीतर असिद्ध भी हो जाती है। विचारकी दृष्टिसे तो हम देख ही लें कि इसके बिना समन्वय नहीं है। इसके इधर-उधर समाधान भी कहीं

और नहीं है । प्राइवेट सम्पत्तिके भावका उन्मूलन तभी सम्भव है जब हम मानें कि व्यक्तिकी इच्छायें भी उसकी अपनी न होंगी,—वह सर्वांशतः परमात्माके प्रति समर्पित होगा ।

इसलिए, लोगोंसे कहना होगा कि हाँ, सोशलिज़ेशनके लिए तैयार रहो । तैयार क्यों, उस ओर बढ़ो । लेकिन मालूम होता है कि सोशलिज़ेशनवालोंसे भी कहना होगा कि देखो भाई, उसके आगे भी कुछ है । उसके लिए भी हम सब उद्यत रहें, सचेष्ट रहें । फार्मूला कुछ बनाया है, इसमें हरज नहीं । पर फार्मूला फार्मूला है । फार्मूलासे कहीं बहुत चिपट न जाना । ऐसे वह बन्धन हो जाता है ।

दूर और पास

जब दूरबीन पहले-पहल हाथ आई तब विलक्षण अनुभव हुआ। सुना था उससे दूरकी चीज़ पास दीख आती है। लेकिन मैंने देखा तो पासकी चीज़ दूर हो गई थी। पीछे पता चला कि मैंने दूरबीनको उल्टी तरफसे देखा था। फिर सीधी तरफ़से देखा तो बात सही थी। दूरकी चीज़ बेशक पास दीखती थी। लेकिन इस ग़लतीसे भी लाभ हुआ। जब पासकी चीज़को दूर बनाकर देखा था तब दृश्यकी सुन्दरता बढ़ गई जान पड़ती थी। दूरकी चीज़ पास आ जानेसे दृश्यमें मोहकता उतनी न रह गई थी। पता चला —

दूरी मोह पैदा करती है,—Distance lends charm; दूरी मिट जाय तो सुन्दरताके बोधके लिए गुंजायश नहीं रहेगी।

यह तो राह चलनेकी बात हुई। लेकिन जिस विचित्र अनुभवका जिक्र यहाँ करना है वह यह है कि जो चीज़ एक ओरसे दूरको पास करती है, वही दूसरी ओरसे पासको दूर बना देती है।

अर्थात्, दूर होना और पास होना ये कोई निश्चित स्थितियाँ नहीं हैं। वे अपेक्षापेक्षी हैं। उनमें अदल-बदल हो सकता है।

दूरबीनकी मददसे ऐसा होता ही है। लेकिन बिना दूरबीनके भी आँख नित्य प्रति ऐसा करती है, यह भी सही है। आँखमें तर-तमताकी शक्ति है। जो पासकी चीज़को देखती है वही आँख कुछ दूरकी चीज़ भी देख लेती है,—आँखकी नसें यथानुरूप फैल-सिकुड़कर आँखकी इस शक्तिको क़ायम रखती हैं।

वस्तुओंका मूल्य भी इसपर निर्भर करता है कि हम उनसे कितने पास अथवा कितने दूर हैं। क्योंकि, दूरी और निकटता निश्चित मानके तत्त्व नहीं हैं, इसीसे किसी वस्तुका एक ही मूल्य नहीं है। वह मूल्य अलग अलग लोगोंकी निगाहमें अलग अलग है और देश-कालके अनुसार घटता-बढ़ता रहता है।

दूरकी बड़ी चीज़ छोटी लगती है, पासकी छोटी बड़ी। आँखके आगे दो उँगली खड़ी कर लें तो सूरज ढँक जाता है। पर सूरज बहुत बड़ा है, दो उँगलियोंकी चौड़ाई उसके सामने भला क्या है? फिर भी, पास होनेसे मेरे हिसाबसे दो उँगलियाँ सूरजसे बड़ी बन जाती हैं और सूरजको देखनेसे रोक सकती हैं। पासका पेड़ बड़ा दीखता है, दूरका पहाड़ उभरी काली लकीर-सा दीखता है।

परिणाम निकला कि बाहरी छुट-बड़पन कोई निश्चित मानका तत्त्व नहीं है, वह प्रयोजनाश्रित तथ्य ही है।

इसलिए, असल प्रश्न यह हो रहता है कि हमारी तर-तमताकी शक्ति कितनी है? आँखकी दृष्टिकी वह शक्ति तो परिमित ही है, लेकिन मनकी दृष्टिकी शक्तिका परिमाण वैसा बँधा नहीं है। वह उत्तरोत्तर बढ़ाया जा सकता है। मनकी दृष्टि-शक्तिका नाम है, कल्पना।

जो नहीं दीखता, कल्पना उसे भी देखती है। जो पास है, कल्पना उसे भी दूर बना सकती है। जो बहुत दूर है, कल्पना उसे भी खींचकर प्रत्यक्ष कर देती है।

कल्पना दूरबीनकी भाँति बड़ी उपयोगी चीज़ है। पर उसके

उपयोगकी विधि आनी चाहिए। अन्यथा वह कीमती खिलौनेसे अधिक कुछ नहीं रह जाती।

पर नहीं, वह हर हालतमें क़ीमती खिलौनेसे अधिक है। क़ीमती खिलौना तो ज़्यादहसे यादह टूटकर रह जायगा। पर कल्पना खुद नहीं टूटती, आदमीको तोड़ती है। उसका ग़लत उपयोग हुआ तो वह आदमीको तोड़-मोड़कर पशु वना सकती है। उसके ठीक इस्तेमालसे आदमी देवता बन जाता है। इसलिए, कल्पना खिलौना नहीं है और उससे खेलनेमें सावधान रहना चाहिए।

दूरवीन जिसके पास पैसा है वही वाज़ारसे ले सकता है, पर कल्पना तो सभीको मिली है। उसके लिए किसीको भी किसी वाज़ारमें भटकना नहीं है। वह भीतर मौज़ूद है। सवाल इतना ही है कि उसका इस्तेमाल होता रहे और वह मैली न हो और न ढीली-ढाली हो जाय। ठीक कामके लायक़ रहे और वह बहके नहीं।

सच बात यह है कि जैसे निगाह खराव होनेका मतलव यही है कि उसमें दूरको ठीक दूर और पासको ठीक पास देखनेकी शक्ति नहीं रह गई है वैसे ही बुद्धिकी खराबीका मतलब सिवा इसके कुछ नहीं है कि कल्पनाकी लचक उसमें कम हो गई है।

हमारा रोज़का अनुभव है कि अगर अपने ही हाथको हम अपनी आँखोंके वहुत निकट लाते चले जायँ तो अन्तमें आँख काम नहीं देगी और मालूम होगा कि जैसे हाथ रहा ही नहीं है। किसी भी तसवीरको हम पाससे और पास देखनेका आग्रह करके उसे सिर्फ़ धब्बा बना दे सकते हैं। यहाँ तक कि उसे अपनी आँखसे बिल्कुल सटा लेकर कह सकते हैं कि वह कुछ भी नहीं है, क्योंकि

हमें कुछ भी नहीं दीखता है । इस भाँति हरेक सुन्दरता ज़रूरतसे अधिक पास ले लेनेपर असुन्दर और फिर असत् हो जायगी ।

इसलिए, हमारा प्रत्येकके प्रति एक प्रकारका सम्मानका अन्तर चाहिए ही । उस अन्तरको मिटाकर भोगकी निकटता पैदा की कि वहाँ सुंदरता भी लुप्त हुई ।

यह रोज़का ही अनुभव है । हम चीज़ोंको देखते हैं और वे सुन्दर लगती हैं । सुन्दर लगती हैं, तो हम उन्हें चाहने लगते हैं । चाहने लगते हैं तो उन्हें पानेकी लालसा करते हैं । इस लालसाकी बुद्धिसे हम उन्हें छूते हैं,—पकड़ते हैं, अर्थात् उन्हें मर्यादासे अधिक अपने निकट ले लेते हैं । परिणाम होता है कि हमारा संभ्रम मिट जाता है और जिसको मनोरम मानकर चाहा था वह धीमे धीमे वीभत्स हो जाता है और हमारे चित्तको ग्लानि होने लगती है । तब उकता कर उसे छोड़ हम दूसरी ओर लपकते हैं । पर वहाँ भी वही होता है और वहाँ भी अन्ततः ग्लानि हाथ आती है ।

अनुभवमें आया है कि जिस जगहमें हमें बिल्कुल दिलचस्पी नहीं हुई है, वहाँके फोटोग्राफ लुभावने हो जाते हैं । खंडहर हमारी निगाहमें खंडहर है लेकिन उसीका चित्र कभी हमारे लिए इतना सुन्दर हो जाता है कि हम सोच भी नहीं सकते थे ।

यह इसीलिए कि फोटोग्राफ़से हमारी पर्याप्त अलहदगी है । फोटोग्राफमें हम उस दृश्यको एकत्रित भावमें देख सकते हैं । आग्रह वहाँ हमारा मंद है । वहाँ हमारे मनकी स्थितिसे विलग भी उसकी सत्ता है । मानों उस चित्रका अस्तित्व ही नहीं, व्यक्तित्व है ।

परिणाम यह कि दूरी भी कभी बिल्कुल नष्ट नहीं हो जानी चाहिए। दूरी बिलकुल न रहे तो आँख बिलकुल न देख पाये, बुद्धि बिलकुल न समझ पाये। और मनपर ज़ोर इतना पड़े कि ठिकाना नहीं और तिसपर भी चहुँ ओर सिवा अँधेरेके कुछ न प्रतीत हो।

सब वस्तुओं, सब स्थितियों, सब दृश्यों और व्यक्तियोंके प्रति यह समादरकी दूरी इष्ट है। इसको विनय-भाव कहिए, अनासक्ति कहिए, समभाव कहिए, असंलग्नता कहिए, दृष्टिकी वैज्ञानिकता कहिए,—चाहे जिस नामसे इसे पुकारिए। संबंधमें एक प्रकारकी तटस्थता ही चाहिए। जो भी हम छू रहे, देख रहे, चाह रहे हैं, ध्यान रखना चाहिए कि उसका अपना भी स्वत्व है। वह प्रयोजनीय पदार्थ ही नहीं है। वह भी अपने-आपमें सजीव और सार्थक हो सकता है। उसमें भी वह है, जो हममें है। एक ही व्यापक तत्त्व दोनोमें है। जो हम हैं वही वह है। इसलिए किसी अविनयका अथवा आहरणका संबंध हमारा कैसे हो सकता है? संबंध प्रेम, आनंद और कृतज्ञताका हो सकता है। जिसको कल्पना कहा, उसका इसी जगह उपयोग है।

जो हम हैं वह तो कोई भी नहीं है। हम जैसे बुद्धिमान् हैं, क्या कोई दूसरा वैसा हो सकता है? साफ बात तो यह है कि हम हमी हैं। कोई भला हम-जैसा क्या होगा? असंस्कारी अहंकारी बुद्धि इसी प्रकार सोचती है।

लेकिन इससे यही सिद्ध होता है कि ऐसा सोचनेवालेकी कल्पना-शक्ति क्षीण हो गई है। कल्पना हमें तुरन्त बता देती है कि हम अनेकोंमें एक हैं और अपनेमें अहंकार अनुभव करनेका तनिक भी

अवकाश नहीं है। वह कल्पना हमें बताएगी कि दूसरेमें भी अहंकार हो सकता है, और है, और उस अहंकारका खयाल रखकर चलना ही ठीक होगा। वह कल्पना हमें सबके अलग अलग स्थान समझनेमें मदद देगी और सुझायगी कि समस्तके केन्द्र हम नहीं हैं जैसा कि हम आसानीसे समझ लिया करते हैं।

वैसी तटस्थताकी दूरी जगत् और जगत्की वस्तुओंके साथ स्थापित करनेके बाद आवश्यक है कि हम उनसे भावनाकी निकटता भी अनुभव करें। दूरी तो है ही, पर निकटता और भी घनिष्ठ भावसे आवश्यक है। वैसी निकटताका बोध जीवनमें नहीं है तो जीवनमें कुछ रस भी नहीं है।

जिस शक्तिसे यह हो, उसका नाम है भावना। यह भावना अभेद-मूलक है। यह दोको एक करती है, यह दूरीको नष्ट करती है। 'नष्ट करती है' का आशय यह कि उसके फासलेको यह रससे भर देती है।

जब पहले पहल खुर्दबीनमेंसे झाँक कर देखनेका अवसर हुआ था, तो आश्चर्यमें रह जाना पड़ा था। बाहर कुछ भी नहीं दीखता था, एक नन्हा,—बहुत ही नन्हा-सा पत्तेका खण्ड डेस्कपर रक्खा था। वह है, इसमें भी शक हो सकता था। उसकी हस्ती कितनी थी! साँस उसपर पड़े तो बेचारा उड़कर कहाँ चला जाय, पता भी न चले। लेकिन, खुर्दबीनमेंसे जब देखता हूँ तो देखता हूँ कि क्या कुछ वहाँ नहीं है! जो आश्चर्यकारक है, जो महान् है, वह सभी कुछ वहाँपर भी है। एक दुनियाकी दुनिया उस पत्तेके खंडके भीतर समाई है! वह पत्तेका टूक क्या कभी पूरी तरह जाना जा सकेगा? उसमें

कितना रहस्य है, कितना सार! उसमें क्या अगाध अज्ञेयता नहीं है? जाने जाओ, जाने जाओ, फिर भी जाननेको वहाँ बहुत-कुछ शेष रह ही जायगा। खुर्दबीनमेंसे उस बिंदी-भर पत्तेको मैंने इतना फैला हुआ देखा कि मानों वही विश्व हो। उसमें मानों नगर थे, मैदान थे, समन्दर थे। लेकिन वहाँसे आँख हटानेपर क्या मैंने नहीं देख लिया कि हरी-सी-बूँद-जितने आकारके उस पत्तेकी सत्ता इस जगत्में इतनी हीन है,—इतनी हीन है कि किसी भी गिनतीके योग्य नहीं है!

फिर भी वह है, और नहीं कहा जा सकता कि अपनेमें वह स्वतंत्र सृष्टि नहीं है। वह खंड वैसा ही स्वयं हो सकता है जैसा मैं अपनेमें स्वयं हूँ। तब मैं कैसे उसके प्रति अविनयी हो सकता हूँ?

यहीं भावनाकी आवश्यकता है। कल्पनाने मुझे मेरा स्थान बताया और सबका अपना अपना स्थान बताया। उसने मुझे स्वतंत्रता दी, उसने अपनी ही मर्यादाओंसे मुझे ऊँचा उठाया, उसने मुझे अनंत तक पहुँचने दिया और मेरी सांतताके बन्धनकी जकड़को ढीला कर दिया।

भावना उसी मेरी व्यापकतामें रस प्रवाहित करेगी। उसमें अर्थ डालेगी। जो दूर है, उसे पास खींचेगी। भावनासे प्राणोंमें उभार आएगा और जिसे कल्पनाने संभव देखा था, भावना उसीको सत्य बनाएगी।

जो ब्रह्माण्डमें है पिण्डमें भी वह सभी-कुछ है। ब्रह्माण्डको छूनेकी ओर कल्पना उठी, तो भावना उसी सत्यको पिण्डमें पा लेनेकी साधिका हुई। Extensity (=विस्तृति) में नहीं, Intensity

(=घनता) द्वारा ही वह सम्पूर्णको अपनाएगी। दर्शनकी मर्यादा अगम है, पर प्रीति-भक्तिकी क्षमता उससे भी गहरी जायगी। प्राणोंका उभार (=Tension) कल्पनाकी उड़ानसे अधिक सार्थक हो सकेगा। उससे उपलब्धि गम्भीर होगी।

कल्पना और भावना ये दोनों ही जीवनकी प्रगतिके मूलमें हैं। दोनों अनिवार्य हैं, दोनों अमूल्य हैं। पर दोनोंका खतरा भी बहुत है। दोनोंसे मनुष्य विराट्की ओर बढ़ता है, पर इन्हींसे वह अपना विनाश भी बुला सकता है।

भावनासे जब हम परस्परमें 'क्लेश-क्लिष्ट' दूरी पैदा करते हैं और कल्पनाहीन बुद्धिसे लालसाजनित निकटतामें रमण करते हैं, तब ये ही दोनों शक्तियाँ हमारी शत्रु हो जाती हैं और हमारा अनिष्ट-साधन करती हैं। जो मेरे पास है, वह मेरा स्वत्व नहीं है, क्योंकि उसका अपनेमें अलग स्वत्व भी है। कल्पनाहीन होकर हम प्राप्तको ऐसे पाते हैं, मानों उसकी सार्थकता हमारे निकट प्राप्त होनेमें ही है। यह हमारी भूल है और इससे हमारी अपनी ही प्राप्तिका रस ह्रस्व होता है। यही मानवका मोह और अहंकार है।

दूसरी ओर भावनाको हम दुर्भावना बना उठते हैं और उसके सहारे परस्परकी निकटता नहीं बल्कि दूरी बढ़ा लेते हैं। मन ही एक हो सकता है, तन अनेक हैं। पर मन हम फटने देते हैं, और तनकी निकटताके कामुक होते हैं। नतीजा इसका विनाश है।

जो दूर है उसे दूर, जो पास है उसे पास जानना होगा। फिर भी जानना होगा कि दूर है वह भी पास है और जो पास मालूम होता है, उसे भी दूर रखनेकी आवश्यकता हो सकती है। तन

जुदा जुदा हैं, आत्मा एक है। आत्मैक्यको कल्पनाद्वारा प्राप्य और भावनाद्वारा सुलभ बनाना होगा। और अपनी एवं सबकी देहकी अभिन्नताके प्रति सम्मान और संभ्रमका भाव रखना होगा। सबके स्वत्वका आदर करना होगा, किसी स्वत्वका आहरण एवं अपहरण गर्हित समझना होगा। यही दूर और पासका भेद है। इस दूर और पासकी तर-तमताका भेद हमने खोया तो समझो अपनेको ही खोया। उसको जानकर हम अपनेको पानेका प्रयत्न करें, यही शुभ है।

निरा अ-बुद्धिवाद

सुना जाता है कि शुतुरमुर्ग़ जो अफ्रीकाके रेतीले मैदानोंमें होता है विचित्र प्राणी है। वह जब शत्रुकी टोह पाता है तो और कुछ करता नहीं, रेतमें मुँह दुबका लेता है। शत्रु फिर निरापद भावसे आकर उसका काम-तमाम कर देता है। वह जानवर शुतुरमुर्ग़ इस भाँति शांतिपूर्वक मरता है।

हम लोग शायद उसकी मरनेकी पद्धतिसे सहमत नहीं हैं। उसका मरना हमारे मनसे कोई ग़लत बात नहीं है। उसकी बेवकूफ़ीकी सज़ा ही समझिए जो मौतके रूपमें उसे मिलती है। ऐसे वह न मरे तो अचरज। मरना तो उसका उचित ही है। और हम मनुष्य जानते हैं कि शुतुरमुर्ग़ मूर्ख प्राणी है।

मूर्ख तो वह हो; लेकिन इतना कहकर बातको हम टालें नहीं। उसे मूर्ख कह देकर आदमी शायद स्वयं अपनेको कुछ बुद्धिमान् लग आता हो। पर हमें इसमें सन्देह है कि दूसरेको मूर्ख कहनेके आधारपर खुद बुद्धिमान् बननेका ढंग ठीक है। तिसपर वह शुतुरमुर्ग़ क्यों मूर्ख है? और हम क्यों नहीं हैं? और मूर्ख होनेमें सुभीता यदि हो तो फिर हरज क्या है?—आदि बातें सोचनेकी हैं।

घरमें एक छोटी बच्ची है। नाम अभी है मुन्नी। सदा खेलती रहती है। एक खेल उसे प्रिय है। वह मुन्नी किसी सूखती हुई धोती या बक्स या कुर्सीके पीछे होकर मुँह ढककर चिल्लाएगी—'अम्माँ! मुन्नीको ढूँढ़ो।' अगर अम्माँ एक बारमें ध्यान नहीं देगी

तो मुन्नी उससे उलझ पड़ेगी। कहेगी—'अम्माँ, अरी अम्माँ, देख।' और जब अम्माँ उसकी ओर मुख़ातिब होगी तब सामने दूर जाकर मुँहकी ओट करके कहेगी, 'मुन्नी नहीं है, अम्माँ। मुन्नी नहीं है, मुन्नीको ढूँढ़ो।'

तब मुन्नीकी अम्माँ भी सारे कमरेमें इधर-उधर, कभी कलमदानके नीचे, कभी होल्डरके निबमें, ग्लासमें या सूईके नकुएमें, यहाँ-वहाँ और जहाँ-तहाँ खोज मचाती हुई मुन्नीको ढूँढ़ती है, कहती जाती है,—'अरे मुन्नी कहाँ है ? (कपड़ेको उलट-पलटकर) अरे कहाँ है ? मुन्नी, ओ मुन्नी !"

और मुन्नी सामने खड़ी-खड़ी चोरी-चोरी अम्माँके यत्नोंकी विफलता देखकर और उसमें रस लेकर मुँहको दोनों हाथोंसे ढककर कहती है—'मुन्नी नहीं है, अम्माँ। मुन्नी नहीं है। ढूँढ़ो।'

अम्माँ बहुतेरा ढूँढ़ती है, पर सामने खड़ी हुई मुन्नी नहीं मिलती। ओह ! जाने कितनी देर बाद वह मिलती है। मिलनेके बाद ही दो क़दम भागकर फिर मुँह दुबकाकर खड़ी हो जाती है, कहती है—'अम्माँ, मुन्नी फिर नहीं है, और ढूँढ़ो।'

मुन्नीको इस खेलमें बड़ा आनन्द आता है। हमें भी आनन्द आता है। हम कहते हैं—'मुन्नी है।' और वह भागकर किसी वस्तुकी ओट लेकर कहती है—'मुन्नी नहीं है।' अपनी आँखें बन्द करके समझती है, वह नहीं रही है।

अभी तक ऐसा अवसर नहीं आया कि हमारे मनमें इच्छा हुई हो, कि उसको बुलाकर विद्वत्तापूर्वक समझावें। कहें, कि पगली सुन, तेरे देखने और दीखनेपर औरोंकी अथवा तेरी सत्ता निर्भर नहीं है;

यथार्थता समझ, लड़की, और मूर्खता छोड़। ऐसा हमने अब तक नहीं किया और अचरज यह है कि ऐसा न करनेके लिए कभी अपनेको मूर्ख भी हमने नहीं माना। इस खेलको हमने प्रसन्नता-पूर्वक खेल लिया है और कभी यह नहीं सोचा है कि मूर्खता ग़लत चीज़ है और हमें मुन्नीका उससे उद्धार करना ही चाहिए।

हमें सन्देह है कि मुन्नीको यदि हम अपनी बुद्धिमत्ता देने लग जायँ तो वह उसे नहीं लेगी। इतना ही नहीं, वरन् वह उस हमारी बुद्धिमत्ताको मूर्खता समझेगी और अपनी मूर्खताको स्पष्ट रूपमें तर्कशुद्ध ज्ञान जानेगी।

हम कैसे जानते हैं कि मुन्नी ग़लत है? जब वह कहती है कि 'वह नहीं है' तब भी वह ग़लत कहाँ कहती है; क्योंकि जैसा जानती है वैसा ही तो कहती है। वह (उस समय) जानती ही यह है कि 'वह नहीं है।'

वास्तव वास्तविकता तत्सम्बन्धी हमारी धारणासे भिन्न क्या वस्तु है? भिन्न होकर वह है भी या नहीं?—यह अभी निर्णय होनेमें नहीं आया। न कभी आयेगा। अकाट्य-रूपमें हम यह कह सकते हैं कि सम्पूर्ण सत्य मानवके लिए चिर-अप्राप्य, अतः चिर-शोध्य है। वह सत्य क्या मनुष्यसे बाहर भी व्याप्त नहीं है? जो बाहर भी है वह मनुष्यके भीतर ही कैसे समायेगा? उस सर्वव्यापी सत्यकी मानव-निर्मित धारणाएँ ही मानवीय ज्ञान-विज्ञान हैं, वे स्वयंमें सत्य नहीं हैं। अपने सब ज्ञानके मूलमें 'हम' हैं। वह ज्ञान सत्य है तो बस हमारा होकर है। हमारा नहीं, तब वह हुआ न हुआ एक-सा है। हर सत्यको अपनी सत्ताके लिए हमपर इस निमित्त निर्भर रहना

होगा, कि हम उसे जानें। यह बात साफ है। इसको समझनेसे कोई इनकार नहीं कर सकता, न कोई दार्शनिक इस बातकी मान्यतासे बाहर पहुँच सकता है।

जब ऐसा है, जब हमसे अलग होकर सचाई कुछ है ही नहीं, अथवा है तो नहीं जैसी है, तो यह अप्रामाण्य बनता है कि हम शुतुरमुर्ग़को ग़लत और अपनेको ठीक कहें।

शुतुरमुर्ग़को तो शायद हम ठीक न कह सकेंगे। उसको ठीक कहनेके लिए हमें अपनेको इनकार करना होगा। हम तो दोनोंको देखते हैं न—शुतुरमुर्ग़को भी, उसके शत्रुको भी—इस लिए रेतमें सिर दबाकर शत्रुसे बचनेकी शुतुरमुर्ग़की चेष्टाको हम सही कैसे कह सकते हैं? और शतुरमुर्ग़के ग़लत होनेका प्रमाण उसीके हकमें यह भी है कि शत्रु आकर उसे दबोच लेता है। इस लिए यह तो असंभव है कि शुतुरमुर्ग़ ठीक हो। लेकिन जब वह ठीक नहीं है तब हम भी ठीक कैसे हो सकते हैं, यह विचारणीय है। हो सकता है कि हमारी हालत शुतुरमुर्ग़से इतनी ही भिन्न हो, कि हम शुतुरमुर्ग़ न होकर आदमी हैं। अन्यथा कैसे कहें, कि यथार्थमें हम दोनोंमें बुद्धिकी अपेक्षा खासी समता नहीं है।

मान लिया जाय कि शुतुरमुर्ग़ बुद्धिसे शुतुरमुर्ग़ है, लेकिन बात-चीतमें आदमी है। तब क्या वह हमको मूर्ख नहीं समझेगा? 'जो दीखता है, उतना ही है। जो नहीं दीखता है, वह इसीलिए तो नही दीखता कि नहीं है'—शुतुरमुर्ग़के ज्ञानका तल यह है। हम मानव उसे थोथे अज्ञेयवादी, अदृष्टवादी जान पड़ेंगे। जो अज्ञात है, उसके होनेमें क्या प्रयोजन? वह न हुआ भला। वह नहीं ही है।

और शुतुरमुर्गके निकट जो दृश्य है, उतना ही ज्ञात है, उतना ही ज्ञेय है। अतः जितना दीखता है, उसके अतिरिक्त कुछ और है ही नहीं,—यह होगा उस मानवरूपी शुतुरमुर्गका जीवन-सिद्धान्त। तदनुरूप उसकी जीवन-नीति भी यह हो जाती है कि—'जो अनिष्ट है, उसे मिटानेका सीधा उपाय है उसे न देखना। अनिष्टपर इसी भाँति विजय होगी। अनिष्ट यों ही असत् होगा। इस लिए और कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं है, जब भय हो अथवा सन्देह हो, तब आँख मीच लो। भयकी आशंका और सन्देहकी शंकासे इस भाँति मुक्ति प्राप्त होगी।'

अब, क्या मानव-बुद्धि-द्वारा-निर्मित तर्क-सम्मत नीति भी लगभग इसी प्रकारकी नहीं है ?

उस नीतिपर चलनेसे शुतुरमुर्ग शत्रुसे नहीं बच पाता। शत्रुको उलटे अपनी ओरसे वह सुविधा पहुँचाता है और बेमौत मर जाता है। अतः कहा जा सकता है कि वह नीति विफल है, भ्रांत है। हम भी खुद ऐसा मानते हैं।

पर उस नीतिकी (जो आज मानव-नीति भी हो रही है) वकालतमें यह कहा जा सकता है कि मरना तो सबको है। कौन नहीं मरता ? असल दुश्मन मौत है। किसी औरको दुश्मन भला क्यों मानें। कोई हमें क्या मारेगा। बात तो यह है, कि मौत हमें मारती है। जिसे दुश्मन मानते हो वह तो यम देवताका साधन है, वाहन है। असलमें तो भाग्यके पंजेमें सब हैं। यम उसी भाग्यका प्रहरी है। उसके आघातसे तो बचकर भी बचना नहीं है। मौत हमें आ दबोचेगी ही। प्रश्न उससे बचनेका नहीं है, और मुँह

ढुबका लेनेसे क्या शुतुरमुर्ग़ सचमुच भयसे छुटकारा नहीं पा जाता? फिर वह मर भी जाय तो क्या?

माननना होगा कि प्रश्न अन्तमें किसी भी शत्रुसे बचनेका उतना नहीं है। उतना क्या, बिलकुल भी नहीं है। तमाम प्रश्न (उसके) भयसे बचनेका है। यह तो हम जानते ही हैं कि डरकर हम चाहे कितना ही भागें, हटें, छिपें, पर मौतके चंगुलसे बचना नहीं होगा। इस प्रकारके सब प्रयत्न निष्फल होंगे। अतः एक ही लक्ष्य हमारे सामने रह सकता है और वह यह कि मरनेकी घड़ी हम सीधे ढँगसे मर जायँ, पर मरनेसे पहले थोड़ा भी न मरें, अर्थात्, मरनेके भयसे बचे रहें।

क्या यही लक्ष्य नहीं है? और क्या इसी लक्ष्यके साधनमें मनुष्यने धर्म-शास्त्र, नीति-शास्त्र, कला-विज्ञान आदि नहीं आविष्कृत किये? फिर शुतुरमुर्ग़को मूर्ख क्यों कहते हो?

शुतुरमुर्ग़के वकीलके जवाबमें क्या कहा जावे? पर एक तो भयसे बचनेकी पद्धति स्वयं भयका भय है। यह शुतुरमुर्ग़की है। अधिकांशमें मानवके यत्न भी उसी पद्धतिके हैं। पर दूसरा, भयको निर्भयतासे जीतनेका उपाय है। इसमें भयसे छिपा नहीं जाता, उस-पर विजय पाई जाती है। उसका सामना किया जाता है।

शुतुरमुर्ग़ने अपनेको रेतमें गाड़ लिया और भयसे बचा लिया। इस भाँति वह सहज भावसे मर गया। आदमीने धर्मकी सृष्टि की, उसमें अपनेको गाड़ लिया और राम-नाम लेता हुआ कृतार्थ भावसे मर गया। धर्मसे उतरकर उसने कर्तव्य, देश-भक्ति, त्याग, बलिदान आदि-आदि अन्यान्य मंतव्योंकी सृष्टि की, जिनके भीतर निगाह गाड़े

रखकर वह हार्दिकतापूर्वक मर गया। असलमें सब बात मरते समय सहज भाव रखनेकी है। जो जितना निर्भय है, सरल भावसे मर सकता है, वह उतना ही सफल है। लेकिन स्पष्ट है कि इसके लिए बुद्धिकी निगाहको बाँधकर कहीं न कहीं गाड़ लेना जरूरी है।

हाँ, जरूर गाड़ लेना जरूरी है। पर इसमें और शुतरमुर्ग़की क्रियामें अन्तर हो सकता है। एक भय-जन्य है तो दूसरी श्रद्धा-प्रेरित हो सकती है।

एक प्रकारके मतवादी हैं जो तर्कपूर्वक सिद्ध करते हैं कि आँख चारों ओर देखनेके लिए है। बुद्धि स्वतन्त्र है। व्यक्तित्व चौमुखी है। श्रद्धा अन्धी वस्तु है। किसी भी अज्ञेय वस्तुका पल्ला पकड़कर नहीं बैठना होगा। सब कुछ तोलना होगा। ये लोग डिजाइनर हैं और तरह-तरहकी साइन्सोंके चौखूँटे नकशे बनाकर दिया करते हैं।

ऐसे लोग ज्ञान-विज्ञानकी बहुत छान-बीन करते देखे जाते हैं। उनका जीवन विवेचन-शील, संभ्रांत और सुखमय होता है। ये लोग सब बातोंको तोलते, जाँचते और परखते हैं। किसीपर श्रद्धा नहीं रखते, किसीपर फिर अश्रद्धा भी नहीं रखते। उदार, संयत, सीधे-सादे रूढ़िपर चलनेवाले जीव ये होते हैं।

लेकिन मौतका इन्हें बड़ा भय होता है। दूसरेकी भी और अपनी *भी मौतका।* मौतकी व्याख्या तटस्थ भावसे ये करते हैं; पर उसकी ओर निगाह नहीं उठने देते। ये श्रद्धाके कायल नहीं। इससे इनकी जीवन-नीति भयके आधारपर खड़ी होती है। *भयमेंसे नियम-कानून, पुलिस-फौज, अदालत-जेल, शासन-अनुशासन, अस्त्र-शस्त्र आदि बनते हैं। भय अद्भुत-रूपमें सहनशील है। वह ज़बर्दस्त शक्तिको*

उत्पन्न करता है। भय-जात साहस और भय-जात वलमें आसुरी प्रवलता है। भय एक दृष्टिसे उपकार भी करता है। उससे निर्भीकताकी अनिवार्य आवश्यकता प्रकट होती है। भय निस्सन्देह उन्नतिके मार्गमें वहुत जरूरी है। पर भय उभय है। उससे मौत पास खिंचती है। वह मौतको न्यौता है।

श्रद्धामेंसे शास्त्र-पुराण, साहित्य-विज्ञान, कला-दर्शन, क्रान्ति और बलिदान बनते हैं। श्रद्धा मौतको प्रेम भी कर सकती है। इस लिए नहीं कि वह मौत है; वल्कि इस लिए कि श्रद्धा जानती है कि मृत्यु जीवनकी दासी है। श्रद्धा जानती है कि यदि जीर्णकी मौत है तो इसी निमित्त कि नूतनकी सृष्टि हो और जीवन उत्तरोत्तर पल्लवित हो। श्रद्धा आँख नहीं मीचती। वह आँख खोले रखकर मौतमें जीवनके संदेशको और शत्रुमें बंधुको पहचानती है।

हम कह सकते हैं कि वह श्रद्धा है तो मनुष्य शुतुरमुर्ग़ नहीं है; पर हम उस मतवादीसे कैसे पार पायें जो मनुष्यको इतना तर्क-संगत और विज्ञान-शुद्ध बनाना चाहता है कि श्रद्धा उसके पास न फटके। तब हम उस बुद्धिवादीको शुतुरमुर्ग़का वकील कहते हैं।

मुझे इसमें संदेह है कि आँख एक ही क्षणमें चारों ओर देखती है। मुझे प्रतीत होता है कि वह एक पलमें एक ही ओर देखती है। और मुझको ऐसा भी मालूम होता है कि हमारी बुद्धिमें दृश्यको Perspective देखनेकी शक्ति न हो तो आँख देखकर भी कुछ न देख सके। Perspective की शक्ति अर्थात् दृश्यकी विभिन्नतामें एकता देखनेकी शक्ति। इसी प्रकार *व्यक्तित्वको चहुँमुखी होनेके लिए एक निष्ठाकी आवश्यकता है। शंकाके सामर्थ्यके लिए निश्शंकित*

चित्त चाहिए और अन्वयकी शक्तिके लिए समन्वयकी साधना चाहिए। मुझे इसमें बहुत संदेह है कि वह बुद्धि जो चारों ओर जाती है, किसी भी ओर दूर तक जा सकती है। मुझे इसमें भी बहुत सन्देह है कि जिसको श्रद्धाका संयोग प्राप्त नहीं है, वह बुद्धि कुछ भी फल उत्पन्न कर सकती है, बुद्धि अपने आपमें बन्ध्या है। वह भयमेंसे उपजी है और भयाश्रित बुद्धि लगभग शुतुरमुर्ग़-जैसी है। उससे निस्सन्देह मदद बहुत भी मिलती है। उसकी मददसे व्यक्ति थोड़ी बहुत निर्भयता भी सम्पादन करता है; पर वह अंततः मनको उठाती नहीं है और स्वयं भी विकारहीन नहीं है।

किसी बृहत्तर अज्ञेयमें अपनेको गाड़ देनेसे हम अपनेको संकुचित नहीं बनाते। अपनी बुद्धिके भीतर रत रहनेसे जैसे हम ह्रस्व होते हैं उसी भाँति श्रद्धापूर्वक विराट् सत्ताके प्रति समर्पित हो रहनेसे हम मुक्तिकी ओर बढ़ते हैं। धर्म, आदर्श, बलिदान आदिकी भावनाएँ मनुष्यकी इसी प्रकार अभ्युदय स्फूर्तिका फल हैं और वह इन भावनाओंद्वारा अपने ही घेरेसे ऊँचा उठता है।

शुतुरमुर्ग़की कथा मनुष्यपर ज्योंकी त्यों लागू है, अगर वह भयको जीतनेके लिए अपनी भयाक्रान्त धारणाओंमें ही दुबकता है। साधारणतया हम उस कथाके उदाहरणके प्रयोगसे बाहर नहीं होते। लेकिन हम बहुत कुछ बाहर हो जाते हैं जब कि अपने बचावकी चिन्ता नहीं करते प्रत्युत् (मालूम होनेवाले) शत्रुके सम्मुख बढ़ चलते हैं। शत्रुको जब हम अपनेसे भिन्न देखते ही नहीं और उससे भागनेकी जरूरत नहीं समझते, तब हमारी बुद्धि स्वस्थ रहती है। तब हम धीर, प्रसन्न, प्रेम भावसे उसे अपनाते हैं;

फिर इसमें चाहे हमें उसके हाथों मौत ही मिले। *पर मौतमें हार नहीं है, हार तो भयमें है। मौत तो जीवन-तत्त्वकी प्रतिष्ठामें नियुक्त एक सेविका मात्र ही है।*

हमारे घरकी जो मुन्नी अपनी आँखें मूँद कर समझ लेती है कि वह नहीं रही, असलमें वह हममेंसे अधिकांशकी बुद्धिकी प्रतिनिधि है। न देखना, न होना नहीं है और हम बहुधा इसी चक्करमें पड़े हैं। बुद्धि पग-पग पर हमें बहकाती और फुसलाती है। वह प्रवंचना है, वह भयकी प्रतिक्रिया है। भय उपयोगी है, यदि वह श्रद्धा और प्रार्थनाकी ओर ले जाय। श्रद्धा भयका काट है। भय संहारक है (जैसा कि वह है) यदि वह अस्त्र-शस्त्र और अहंभावकी ओर ले जाता है। हम जान रक्खें कि एक साहस है जो भयमेंसे उपजता है। वह आवेश-युक्त, ज्वराक्रान्त और पर्याप्तसे अधिक तीखा होता है। वह दूसरेको डराकर अपनेको साहस सिद्ध करता है। वह चमत्कृत भयका प्रति-रूप है। हमारी बुद्धि भी अहंजन्य भीरु साहसिकताको अपनाती और पोसती है; पर वह साहस सस्ती चीज़ है और नकली है। वैसी साहसिकता भीरुता नहीं भी हो तो प्रमत्तता अवश्य है। शराब पीकर जो दुर्बल बड़ी डींगें हाँकता है, वह डींगें उसकी उस दुर्बल-ताको ही व्यक्त करती हैं। कृपया कोई उन्हें बल न समझे। हमारी बुद्धि बड़ी ठगिनी है। क्षीण-शक्ति पुरुष क्यों शराबकी ओर जाता है? इसीलिए कि वह अपनेको ठगना चाहता है। नहीं तो अपनी ही क्षीणता उसे असह्य होती है। कुछ देर तकके लिए क्यों न हो वह अपनेसे बचनेके लिए नशेका सहारा पकड़ता है। बुद्धि हमें बताती है कि हम हम हैं और वह अमुक हमारा

शत्रु है और वह दूसरा भी हमारा शत्रु है—इस भाँति वह हमें भरमाती है। पर हमारा शत्रु बाहर कहाँ, वह भीतर है। भीतर बाहरके द्विभेदपर हमारी बुद्धि अपना किला बाँधे बैठी है। वह हमें परस्पर-व्याप्त अभेद तो देखने ही नहीं देती और हमें भयके मार्गसे अपने उन इस या उस शत्रुसे बचने या बदला लेनेके नाना उपाय निरंतर सुझाती रहती है। पर ये सब शुतुरमुर्गके या शिकारीके उपाय हैं। वे सब मौतके निमंत्रणके उपाय हैं। शुद्ध बुद्धि व्यवसायात्मिका है और वह श्रद्धोपेत है। वह अभेदकी झाँकी देती है। वह विनीत बनाती है। वह जगत्के प्रति दृढ़ और परमात्माके प्रति व्यक्तिको कातर बनाती है। उससे व्यक्ति अटूट, अजेय और अमर बनता है। वह मरता है पर अमर होनेके लिए, क्योंकि मृत्युमें उसे संकोच नहीं होता। ऐसी बुद्धि अज्ञेयमेंसे रस लेती है और उसीमें अपना समर्पण करके रहती है। वह इस भाँति क्रमशः प्रशस्त और मुक्त होती जाती है।

प्रश्नोत्तर

प्रश्न—निर्मोह और अबुद्धिवादका साथ कैसा ?

मोह यह हार्दिक विकार है। श्रद्धा भी हृदयका वैसा ही विकार है। अतः जहाँ आप निर्मोह चाहेंगे, वहाँ विवेक बुद्धि आयेगी ही। और तब उसके आते ही भोली भक्तकी भावना—जिसमें हृदय ही अधिक हो और बुद्धि कम—कैसे पाई जा सकती है ?

उत्तर—इस प्रश्नमें कुछ ग़लतफ़हमी है। पहले उसका दूर करना आवश्यक है।

अबुद्धिवाद शब्दको जो मैंने एक आध जगह प्रयोग किया है, उसका अभिप्राय यह कदापि नहीं कि बुद्धिके मुकाबलेमें किसी अबुद्धिका वाद मैं चाहता हूँ। बुद्धिके मैं विरुद्ध नहीं। किन्तु बुद्धिवादवाली बुद्धि तो निरी अबुद्धि है। अर्थात्, बुद्धिवादका ही नामकरण मैंने अबुद्धिवाद किया है। जिससे मेरा अभिप्राय है कि—Rationalism is an irrationalism। वादको कंधेपर बिठाकर जो बुद्धि चलती है वह मेरी दृष्टिसे अबुद्धि है। इसलिए बुद्धिवादको ही मैं निरा अबुद्धिवाद कहता हूँ।

मेरे इन सफाईके शब्दोंके लिहाजसे आप देखेंगे कि ऊपरका प्रश्न फिर ठहरता ही नहीं।

मोह हार्दिक विकार है, लेकिन श्रद्धा वैसा एक विकार इस लिए नहीं है कि वह विवेक-विपरीत नहीं है। वह श्रद्धा तो विवेकका पूरक है। अतः श्रद्धा विकार नहीं, संस्कार है।

बेशक जहाँ निर्मोह है वहाँ विवेक-बुद्धि तो पहलेसे है ही। जिसको भक्तकी भोली भावना कहो, उस भावनाका भोलापन विवेक-बुद्धिके योगसे दहक कर स्फुलिंगके समान तेजस्वी हो जाता है। उसमें हृदय और बुद्धिके कम अधिक होनेका प्रश्न ही नहीं रहता, क्योंकि उस श्रद्धामें वे दोनों पूरेके पूरे समाये रहते हैं।

प्रगति क्या ?

आइए, समझें, प्रगति क्या ?

इधर दायेंसे पुकार आती है—उन्नति कीजिए। हम वही कर रहे हैं। आइए, हममें आ मिलिए।

उधर बाएँसे भी पुकार आ रही है—प्रगति कीजिए। जो हम कर रहे हैं वही है प्रगति। आप प्रगतिशील हैं न ? तो इधर आ जाइए।

स्पष्ट है कि दाहिनी शिक्षा बाईंसे उल्टी है। दोनों परस्पर-विरुद्ध हैं। दाहिनी ओर बाईंवालोंके लिए केवल मूर्खता है और ढकोसला है। उसी तरह दाईं तरफ बाईंवाले जहालत और मौत देखते हैं।

किसी ओर आइए, किसीके लिए आप जाहिल और मूर्ख अवश्य हैं। मूर्ख हुए बिना कोई नहीं रह सकता।

और यह शुभ है। इस भयसे आप बचें कि कोई आपको मूर्ख कहेगा तभी आप सोचने समझनेके लिए ठहर भी सकते हैं कि, प्रगति क्या ? नहीं तो कोई न कोई आपको बाँह पकड़कर प्रगतिके (यानी, दूसरोंकी जहालतके) मार्गपर ले ही बढ़ेगा। ज्यादह संभावना यह है कि जिधर अधिक मत-बल और कोलाहल-बल होगा उधर ही आप जायेंगे। और इसलिए उधर ही तरक्कीको होना पड़ेगा।

इसलिए यदि आप प्रगति क्या, यह सोचने समझनेमें समय

लगानेमें साथ देना चाहते हैं तो यह तय है कि आप तय्यार हैं कि कोई आपको मूर्ख कहे। और यह भी तय है कि आप खुद किसीको मूर्ख कहनेकी जल्दी नहीं करना चाहते।

इसके बाद आइए अब प्रगतिको मालूम करें।

पर इसमें आगे बढ़ें, इससे पहले एक बात याद कर लें। वह बात हम जानते तो हैं, पर भूल जाते हैं। वह बात यह कि, हम आदमी हैं। यानी दुनियाके अनेकों किस्ममेंसे एक किस्मके प्राणी हैं। हो सकता है कि सबसे ऊँचे प्रकारके प्राणी हम हों। पर यह निश्चय है कि वह प्रकार असंख्यमेंसे एक है।

जब हम आदमी हैं तो हमारा सोचना आदमीका सोचना है, वह किसी भी औरका नहीं है। हमारा सच बस हमारा ही है; और किसी प्रकारके प्राणीके लिए वह सच, सच नहीं है, उसके लिए वह झूठ भी हो जाय तो क्या झूठ।

अतः हम जान लें कि जिसको हम प्रगति कहकर ठहरायें वह हमारे अपने मामलोंसे आगे लागू नहीं होती। वह शुरूसे अन्ततक हमपर ही लागू है। हमसे बाहर जाकर वह है ही नहीं। इस अनन्त, अनादि, अपरिमेय विश्वमें क्या तो प्रगति और क्या अगति —हम मानव क्या हैं कि जो उस बारेमें पक्की खबर दे सकें? इसलिए शुरूसे याद रहे कि प्रगतिके प्रश्नकी हद आदमीके पैदा किये अपने मामलोंतक है।

प्रगति शब्दके दो खण्ड हैं—प्र+गति। 'गति' उनमें मुख्य है, 'प्र' विशेषण है। प्रगतिकी पहिली शर्त है, गति।

गति अनिवार्य है, यानी जीवनके अर्थमें अनिवार्य है। यह घड़ी

बीती कि दूसरी घड़ी आगई। हम चाहें न चाहें, यह घड़ी तो बीत ही जायगी। यह घड़ी घड़ी-भरके लिए है, उसके पार वह नहीं है। उसके पार जो है, वह घड़ी होकर भी दूसरी है। इसी बीतते हुए कायम रहते चलनेका नाम है 'गति'।

हमारे जाननेके दो रूप हैं।—रूप कह लीजिए या रुख कह लीजिए। एक 'है', दूसरा 'नहीं'।

जैसे कोई भी क्षेत्र तीन सीधी भुजाओंसे कममें नहीं घिर सकता वैसे ही कोई भी ज्ञान व्यक्त होनेके लिए 'हाँ' और 'नहीं' से घिरा होना चाहिए। उन 'हाँ' और 'नहीं' से एक समान दूरीपर तीसरा बिन्दु है 'मैं'। वह हर बातमें गर्भित है।

जैसे आदमी दायें और बायें, अपने इन दो पैरोंपर चलता है वैसे ही बुद्धि 'हाँ' और 'नहीं' इन दो पैरोंपर चलती है। स्वीकार भी चाहिए, निषेध भी चाहिए। जैसे एक पैर टिका रहता है तभी दूसरा पैर आगे बढ़ता है, वैसे ही निषेधके सामर्थ्यके बिना स्वीकृति निरर्थक है और स्वीकृतिरूपी स्वत्वके बिना निषेध प्रवंचना-मात्र है। दोनोंके बिना चलना नहीं होता।

'प्रगति' में 'प्र' उसी निषेधकी शक्तिका द्योतक है। उस निषेधके आधारपर एक पैर जमा कर दूसरेको स्वीकृतिकी ओर बढ़ाते हैं, तभी हम 'प्रगति'शील होते हैं।

हम काल और देशसे घिरे हैं। घिरे हैं, इसीलिए हम हैं। हमारी व्यक्तिगत सत्ताके माने ही परिमित सत्ता है। हमारी बुद्धि चूँकि हमारी है, इससे अपरिमेय नहीं हो सकती। परिमितका भाग और भी परिमित होगा। इसीसे न हम कालको समग्रतामें जान

सकते हैं, न देशको समग्रतामें जान सकते हैं। दोनोंको हम खण्डित करके उन खण्डोंद्वारा ही पहचानते हैं। गज, मील, कोस, योजनके मापमें हमारा देश (=अवकाश) बँटा है। मात्र आकाश हमारे लिए कुछ नहीं है। उसे हम 'असंख्य' मीलके अर्थमें समझते हैं,—तभी थोड़ा-बहुत समझ पाते हैं। इसी तरह कालको घड़ी, पल, छिनके हिसाबसे हम जानते हैं। घड़ियाँ बीतती जा रही हैं,—वे बीतती जायँगीं। न उनका शुरू है, न अन्त है। वे ही अनन्त घड़ियाँ जहाँ आपसमें एक सत्ता-धारामें पिरोई हुई अभिन्नतया एक हैं वहीं काल है। इसी तरह असंख्य योजनोंका विस्तार हमारे सामने है, हमारे पीछे है, ऊपर है, नीचे है, दाँयें-बाँयें है। सब मिलाकर यह जो तमाम शून्याकार अवकाश है, वह आकाश है।

हम परिमित हैं।—आकाश अपरिमित है, काल अपरिमित है। हमारी चेतनाका स्पर्श,—उसका जागरण, उत्तरोत्तर ज्यों ज्यों इन अपरिमेय तत्त्वोंके अवगाहनकी ओर बढ़ता है त्यों ही त्यों, मानना चाहिए कि हम प्रगति कर रहे हैं।

अनादि इतिहासमेंसे निकलकर मनुष्य अभी बीसवीं सदी तक आया है। इस तमाम यात्रामें मनुष्य मनुष्य ही रहा है। वही दो हाथ, वही दो पैर। पर वह बदला भी है। अनन्त कालमें यद्यपि उसके इतिहासके सहस्रशः वर्ष सागरमें बूँदके समान हैं, तो भी वह सहस्र वर्ष व्यर्थ नहीं गये हैं। मनुष्य कुछ न कुछ पाता आया है, देता आया है, जाने-अनजाने वह प्रगति करता ही आया है।

यदि प्रगति नहीं करता आ रहा है, तो प्रश्न होता है कि हम

सत्र आज ही समाप्त क्यों नहीं हो जाते, कलके लिए क्यों ज़िन्दा हैं? सब-कुछ क्यों चल रहा है? जीना क्यों जारी है? इस 'क्यों'के पीछे क्या कुछ भी नहीं है? क्या भविष्य बिल्कुल खोखला है? खोखला मानें, सब कुछ व्यर्थ-निरर्थक मानें, तो जीना एक पल नहीं चल सकता। इससे कैसे इंकार करें कि लिखनेवाला मैं और पढ़नेवाले आप जी रहे हैं? इसलिए मानना ही होगा कि अगर हम हैं तो प्रगति भी है। अधिकाधिक अनुभूति-संचय और उसके द्वारा ऐक्य-संचयकी ओर हम बढ़ ही रहे हैं। हम मर जाते हैं तो संततिमें जीते हैं। परिवार समाप्त होते हैं तो वंश और जातिमें जीते हैं। इस भाँति नाना जाति और राष्ट्र इतिहासमें एक दिन उदय होकर एक दिन अस्त हो जाते हैं और अपने पीछे अपनी संस्कृति, अपना साहित्य और अपनी कलाका अवशिष्ट छोड़ जाते हैं। नष्ट तो कभी कुछ भी नहीं होता; कालके आदिसे निरन्तर हो रही प्रगतिमें बस अपना उत्सर्ग दान कर जाता है।

लेकिन, कहा जा सकता है कि यह क्या बात हुई? जब जो हो रहा है वह ही है प्रगति, तब प्रश्न कैसा कि, 'प्रगति क्या है?' क्या हमारा यह वश है कि प्रगति न करें?

बेशक यह हमारा वश नहीं है,—जैसे जीवित व्यक्तिका यह वश नहीं है कि वह मुर्दा हो जाय। हम मर सकते हैं, तो प्रगति नहीं भी कर सकते हैं। प्रगति सृष्टिका नियम है। नियम तो नहीं बदलेगा, उससे टक्कर लेकर चाहे तो हम अपनेको तोड़ खुशीसे लें।

इसलिए, प्रगतिका पहला लक्षण है, मृत्युके प्रति निर्भयता और जीवनके प्रति मुक्ति।—जीवनकी सब तरहकी पुकारोंके प्रति हम

खुले रहें, और मौतकी तरफ हमेशा बेबाक बेफ़िक्र रहें—प्रगतिकी हमसे यह पहली माँग है।

इसी भाँति प्रगतिका प्रश्न भी, बेशक असंगत है। जैसे अपनी ही पीठकी तरफ हमसे नहीं चला जा सकता वैसे ही प्रगतिसे उल्टी तरफ इतिहास नहीं जा सकता।

किन्तु फिर भी प्रगतिका प्रश्न संगत और अनिवार्य क्यों बनता है? इस कारण कि मानव-प्राणीसे अपनी बुद्धि सँभाले नहीं सँभलती और वह बुद्धिमान्के ही विरुद्ध बगावत ठानती है। तिसपर, हम जानते हैं, कि मनुष्यता एक नहीं है, वह असंख्य व्यक्तियोंमें बँटी है। हर व्यक्ति अपनेमें एक है। उसके बुद्धि अलग है, हृदय अलग। हृदयसे वह 'पर'को प्रेम करता है, या द्वेष भी कर लेता है, (क्योंकि द्वेष विकृत प्रेम है।) बुद्धिसे उस 'पर' को समझता है, समझाता है, तर्क करता है। जब तक व्यक्ति है, तब तक विवेक है, तब तक प्रश्न है। भविष्य अज्ञेय है, लेकिन हम वर्तमानमें समाप्त नहीं हैं। हमारे स्वप्न, हमारी कल्पना, हमारी बुद्धि, उस भविष्यके गर्भमें पैठनेको बढ़ती ही है। इसीसे विकल्प खड़े होते हैं, और इसीलिए मनुष्यको अपने विकासमें संकल्पकी आवश्यकता होती है। संकल्प वह है, जो विकल्पोंकी अनेकतामें ऐक्यका स्थापन करे।

इसी संकल्पके बलसे बली बना व्यक्ति भविष्यकी प्रतीक्षा ही नहीं करता उस भविष्यका निर्माण भी करता है। भविष्य असंदिग्ध रूपमें अज्ञेय है पर वह अज्ञेय भविष्य भी ऐसे संकल्पके धनी पुरुषके कुछ कुछ मुट्ठीमें आ रहता है। मुट्ठीमें वह इसीलिए आ रहता है कि वह पुरुष जब कि भविष्यके सम्बन्धमें बिल्कुल निराग्रही दीखता

है, तब वह अपने ही विकल्पोंका स्वामी भी है। वह स्रष्टा है, वह निःसंशय है, निःशङ्क है, और निःस्वार्थ है। अतः वह क्रमशः अपने साथ सबका भी स्वामी बननेकी ओर बढ़ता है। वह मृत्युको भी जीतता है।

इसे प्रगतिशीलताका दूसरा लक्षण मान लेना चाहिए।

अब यहाँ उस बौद्धिक विवेककी बात करें जो बुद्धिकी तुलापर तत्त्वोंको तोलता है और तब हेयोपादेय स्थिर करता है।

उसकी बात करते हुए हमें ऐतिहासिक बुद्धि (=Historical Sense) से काम लेना चाहिए।

जैसा ऊपर कहा गया है, हम आजमें ही नहीं रहते। कल भी थे और अगले कलको भी शायद हम देखें। इन दोनों कल और आजके आजको हम तीन टुकड़ोंमें बँटा हुआ देख सकते हैं। देख सकते क्या, देखते ही हैं। हम सभ्य हैं, घरमें घड़ी है और हम जानते हैं कि रातको घड़ीमें जब बारह बजे थे तभी कल ख़त्म हो गया था। और आज रातको जब उसी घड़ीमें बारह बजेंगे तब आज ख़त्म हो जायगा और कल शुरू हो जायगा।

इन दोनों कल और तीसरे इस आजकी—इन तीनोंकी तीन सत्ताओंको अस्वीकार करनेकी हमारी प्रवृत्ति नहीं है। वह ज़रूरी भी नहीं है। लेकिन मैं आपसे कल्पना करनेको कहता हूँ कि मान लीजिए हमारे पास घड़ी नहीं है, शनि रवि सोम आदि वारोंकी भी धारणा हमारे पास नहीं है, मान लीजिए कि समय-विभाक्तिकी कुछ भी आवश्यकता हममें नहीं रही है—तब क्या ये तीनों दिन हमको आपसमें ऐसे लड़ीमें पिरोए हुए बिल्कुल जुड़े हुए नहीं मालूम

होंगे कि वे अविभाज्य रूपमें एक ही हैं ? और सच, वे बीचमें कटे हुए कहाँ हैं। इसीसे मैं कहता हूँ कि काल एक है।

और सोचिए, एक दिन भी क्या है ? २४×६०×६० सेकंडोंका जोड़ ही नहीं है ? लेकिन क्या सिर्फ जोड़ ही है ? क्या सब सेकंड अलग-अलग हैं और दिन उनका ढेर ? ऐसा नहीं है। दिनकी एक स्वतंत्र सत्ता है। सेकंड उसके $\overline{२४×६०×६०}$वें खण्डकी कल्पना-संज्ञा मात्र हैं। इसी भाँति तीनों दिनोंकी भी एक अखण्ड सत्ता है, शनि रवि सोम तो उसी एकके तिहाई तिहाई कल्पित भागोंके नामकरण-मात्र हैं।

ऊपरके कथनसे एक बात स्पष्ट होती है। वह यह कि तमाम गतिमें एक संगति है। जो तत्त्व आज और कलके बीच फ़ासलेकी अपेक्षा गति है वही उन दोनोंमें मध्यवर्ती एकताकी अपेक्षा संगति है।

अतीतका हमारे पास नहीं हिसाब, भविष्यका नहीं ज्ञान और वर्तमान तो छन छन रंग बदल ही रहा है। फिर भी, हम एक ही बार जान लें कि उन सबमें एक अखण्डता है, एक संगति है।

भूत वर्तमानसे विच्छिन्न नहीं है और वह भूत भविष्यके भी विरुद्ध नहीं है। इन दोनोंमें परस्पर विरोध देखकर चलना ऐतिहासिक विवेकशीलता (=Historical Sense) के विरुद्ध है।

पक्षोंके संतुलनके समय यह बात भूलनी नहीं चाहिए कि अतीतके आधारपर वर्तमानको समझना ही जिस भाँति बुद्धिमत्ता और विद्वत्ता है, उसी भाँति वर्तमानकी स्वीकृतिके आधारपर भविष्यकी निर्माण-धारणा बनाना वास्तविक शिल्प-कौशल है। प्रगति निर्माणमें है। प्रगति भूतके ऐसे अवगाहन और भविष्यके

ऐसे आवाहनमें है जिनसे उनका वर्तमानके साथ ऐक्य पुष्ट हो। प्रगतिशील वह है जो निर्माता है और निर्माता वह है जिसके मनमें उस ऐक्यकी स्वीकृति है। कालके प्रवाहमें जो संगति नहीं देखता, जो उस प्रवाहके तलपर उठती हुई लहरोंके संघर्षमें खो जाता है, जो उस संघर्षको धारण करनेवाली अनवच्छिन्न एकताको नहीं देखता, वह किस भाँति निर्माता होगा ? निर्माता नहीं तो वह प्रगतिशील भी कहाँ हुआ ?

गति अनिवार्य है। उसके भीतर संगति अनिवार्य है। प्रगति संगतिके अनुकूल ही हो सकती है। उसमें प्रतिकूलता टिक नहीं सकती। जैसे बहती हुई धाराके वेगमेंसे उछलकर कुछ पानीके कण मौजसे किसी भी दिशामें उड़ते रह सकते हैं, वैसे ही इतिहासकी गणनामें न आनेवाली कुछ बूँदें बहक कर इधर उधर जा सकती हैं। पर, इतिहासकी धाराका प्रवाह तो एक ओर एक ही ओर है और वह 'ओर' स्वयं इतिहासमें-से स्पष्ट है। प्रगति उसी ओर सहयोगिनी होती है।

गतिका शिकार होना प्रगति नहीं है। ठीक यही वस्तु है (गतिका यह शिकार होना) जो प्रगतिसे प्रतिकूल है। समयके गंभीर प्रवाहके ऊपर फ़ैशनेबिल आधुनिकताओंकी लहरें भी चलती हैं। आज उनका नाम यह वाद है तो कल वह वाद हो जाता है। किन्तु प्रगतिके शरीरपर वाद वैसे ही हो सकते हैं, जैसे मानव-शरीरपर लोम। पर जैसे उन लोमोंमें मानव नहीं है वैसे ही 'वादों' में प्रगति नहीं है। प्रगति कभी उन वादों तक सिहर कर, कभी उनके बावजूद और अधिकतर उनको सहती हुई चलती है।

वादों (=‘ इज़्मों ’) के बारेमें वही बात याद रहे जो लेखके आरंभमें दाँयें और बाँयें रहनेवाले गिरोहोंके बावत कही गई है। एक इज़्म है, तो दूसरा भी है। दूसरा है, तो तीसरा भी है। इस भाँति वे उतने ही अनगिनत हो जायँ जितने कि आदमी, तो भी चैन हो। क्योंकि तब कोई इज़्मका शिकार न होगा, सब अपने अपने इज़्मोंके स्वामी होंगे। लेकिन जब तक यह नहीं होता तब तक ‘ इज़्म ’ के नामपर जितनी कट्टरताएँ हैं, सब मिथ्याभिमान हैं।

प्रगतिमें वादकी कट्टरता बह जाती है, जैसे काई बह जाती है।

प्रगति भीतरसे आती है और बाहरको होती है। शुरूसे ही उसे अपनेसे बाहर टटोलना और साबित करना निरर्थक है। ऐसी चेष्टा इस बातका द्योतक है कि हमारे ही दिमाग़के भीतर जीवनका पानी बहते-बहते कहीं बँध गया है।

यहाँतक आकर हम एक प्रयोजनीय क्लास-रूमका-सा प्रश्न बनाकर अपनेसे पूछें कि आख़िर इधर-उधरका यह सब तो हुआ, लेकिन, लेखक महोदय, हमको मालूम तो यह करना है कि प्रगतिके लिए हम क्या करें ?

तो मैं उस प्रयोजनार्थी विद्यार्थीसे कहूँगा कि भाई, अब तुम खुद मालूम कर लो कि प्रगतिके लिए क्या करो। तुम्हारे लिए जो काम प्रगतिका होगा, वह काम तुम्हारे सिवाय किसी भी दूसरेके लिए उस भाँति प्रगतिका नहीं हो सकेगा। तुम जो हो, और तुम जहाँ हो, वह न दूसरा है, न वहाँ दूसरा है। इससे हरेक अपना स्वधर्म देखे, अपनी बिसात देखे, अपना जी देखे। तब अपना प्रगतिशील कर्तव्य पानेमें उसे अड़चन न होगी।

इस काटका कोट पहनूँ ? यह खाऊँ ? यह पढ़ूँ ? अमुक सभाका सदस्य हूँ,—क्या बना रहूँ ? पत्नीको छोड़ूँ कि माँको, क्योंकि दोनों आपसमें झगड़ती हैं ? घर छोड़ूँ कि नौकरी, क्योंकि मालिक एक बात कहता है, मन दूसरी बात कहता है ? आदि आदि। तुम्हारे प्रश्नोंका जवाब यह है कि इन सब मामलोंमें जो तुम करोगे, बेखटके ठीक वही करो। सब-कुछ करके तुम्हारी प्रगतिशीलता तबतक और उस अंशतक अक्षुण्ण रहेगी जहाँतक तुम अपनेको उत्सर्ग और दूसरेको प्रेम करते हो।—यानी दूसरेको प्रेम करनेमें भी अपनेको कमसे कम प्रेम करते हो। यह है तो सब ठीक है।

इसलिए उँगली उठाकर और गिनती गिनाकर बताना असम्भव है कि अमुक कर्म प्रगतिशील है, अमुक नहीं। हाँ, लक्षण प्रगतिशीलताकी पहचानके निर्दिष्ट किये जा सकते हैं।

प्रगतिशील व्यक्ति—

(१) मृत्युका भय नहीं करता। इसलिए, उसकी आकांक्षा भी वह नहीं करता।

(२) वह पूरे प्राणोंसे जीता है। छल अथवा क्षुद्रता उसके व्यवहारमें इसी कारण नहीं हो सकती कि उसका मन इन चीज़ोंके लिए ख़ाली ही नहीं है, वह विश्वाससे और संकल्पसे भरा है। अल्प-प्राण व्यक्ति ही क्षुद्र होता है।

(३) वह अपने मतपर दृढ़, पर उसे प्रकट करनेमें विनीत होता है और दूसरोंके मतके बारेमें अत्यंत आदरशील। वह कभी अपनेको इतना सही नहीं मान सकता कि दूसरेको ग़लत कहे बिना न रहे। अपने ऊपर ख़र्च करनेके बाद उसके पास इतनी कठोरता

बचती ही नहीं कि दूसरोंपर फेंके। वह अपने प्रति निर्मम और सबके प्रति प्रार्थी होता है।

(४) विवाद उसे अप्रिय होगा क्योंकि कर्मसे वह छुट्टी नहीं चाहता। बौद्धिक विवाद कर्मके दायित्वसे बचनेका बहाना है।

(५) बुजुर्गोंके प्रति वह विनयी और अतीतके प्रति श्रद्धालु होगा। घृणासे ही वह घृणा कर सकेगा।

(६) वह वही बोलता है, वही लिखता है जो जानता है, और वह जानता है कि मैं सब-कुछ नहीं जानता,—बहुत कम, बहुत ही कम मैं जानता हूँ। इसलिए वह सदा जिज्ञासु है।

(७) वह घबराता नहीं है; न गुस्सा करता है, न गाली देता है।

(८) वह साधारण आदमीकी भाँति रहता है और अपनेको साधारण ही गिनता है।

लक्षण यों और भी गिनाये जा सकते हैं। पर इतने भी अधिक हैं, क्योंकि अचूक हैं।

आजकल पदार्थको समझनेकी कुछ ज़रूरतसे ज़्यादा प्रिय पद्धति हो चली है पदार्थका विभक्तीकरण। निःसन्देह, बुद्धिका अस्त्र ही यह है। फिर भी, जहाँ तक हो, संयुक्तीकरणकी ओर भी हमारा ध्यान रहना चाहिए। क्योंकि पदार्थका ज्ञान तो हमारा ही भाग है और अपने ऊपर छुरी चलाकर हम अपनेको मारते हैं। इस भाँति, अपनेको अधिक कहाँ समझते हैं?

आज हवाई जहाज़ हैं, रेडियो हैं, तरह-तरहकी मशीनें हैं। बैठे बैठे यहीं हमको दुनिया प्राप्त हो सकती है। दस हज़ार मीलकी बात क्षण-भरमें आ जाती है। आदि आदि।

पहले एक पासके तीर्थकी यात्रा करनेमें बैलगाड़ीमें दो महीने लग जाते थे। राहमें चोर डाकूका डर अलग। जीनेका कुछ भरोसा न था। तब भला राजनीतिकी बात तो कीजिए क्या। समाजकी बात पूछिए, तो ग़रीबके भक्षक सब थे, रक्षक अकेला विधाता था जो उनके प्रति प्रायः वाम ही रहता है। बस, जिसके हाथमें लाठी थी उसकी सेवामें लक्ष्मी भी थी, कीर्ति भी थी। वग़ैरह वग़ैरह।

इसलिए हमारा ज़माना नियामत है। यह रोशनीका ज़माना है। हमने बहुत प्रगति कर ली है।....इस तरहकी बातें ग़लत तो बेशक नहीं हैं, पर, सच कहूँ, तो मनको बहुत तृप्ति नहीं देतीं।

ताजबीबीके रौज़े-सी सुन्दर इमारत अगर आज भी नहीं है; अगर ग्रीककी प्रस्तर-मूर्तियाँ आज भी आदर्श सुन्दर हैं; अगर उपनिषद्-ज्ञान आजके लिए भी अगाध है, अगर राम और कृष्ण, क्राइस्ट और बुद्ध, आजके लिए भी विस्मय-पुरुष हैं और उन जैसा इस समय कोई नहीं है तो क्या मैं इससे यह सिद्ध समझूँ कि पिछली कई सदियाँ केवल व्यर्थ ही गई हैं और बीसवीं सदीमें कुछ भी प्रगति नहीं हुई है ?

ऐसा कहना सही नहीं है। इसलिए पहला दावा भी इतना सही न समझा जाय कि हम अतीतकी श्रद्धा खो दें।

प्रगति क्या है ?—इसकी जितनी ज़्यादा छान-बीन हम करें उतनी ही कम है। लेकिन यह तो सबसे पहले हम जान लें कि प्रगति अनादि-कालिक इतिहासके चरितार्थकी संगतिसे अविरुद्ध है। प्रगति वह गति है जो ऐतिहासिक संगतिकी सहयोगिनी है।

मानवका सत्य

हम जानते हैं कि चीजें बदला करती हैं, ज़िंदगीमें हम बदल गये हैं और जिन चीजोंको हम जैसा जाना करते थे, वे आज वैसी ही नहीं हैं। देखते देखते एक लहलहाता गाँव उजड़ गया है और, जहाँ बंजर धरती थी, वहाँ शहर बस गया है। जो बच्चे थे, आज बड़े हो गये हैं और जिम्मेदार आदमी समझे जाते हैं। कुछ उनमें अब शेष भी नहीं हैं, वे काल-कवलित हो गये हैं। कुछ और हैं जो चलते चलते मौतके किनारे पहुँच रहे हैं। सारांश, दुनिया चलती रहती है और चीज़ें बदलती रहती हैं।

कुछ पदार्थ हमें अचल प्रतीत होते हैं। धरती है, मकान हैं, पहाड़ हैं,—ये चीजें स्थिर जान पड़ती हैं। इनमें परिवर्तन नहीं दीखता। पर ऐसी बात है नहीं। अचल वे भी नहीं हैं। साधारणतः हमें उनमें होता रहनेवाला परिवर्तन दीखता नहीं, पर इतिहासके मार्गसे और अन्यान्य विज्ञानोंके द्वारा हम जानते हैं कि वे जैसे हैं, वैसे कभी नहीं भी थे। गति अस्तित्वकी शर्त है, और जो है वह परिवर्तनीय है। परिवर्तनीयता 'होने'की परिभाषा है।

वस्तुओंकी आयु भिन्न है और उनमें होनेवाले परिवर्तनोंकी गतिका वेग भी भिन्न है। हरएक अस्तित्वमें ये दो क्रियाएँ निरन्तर रहती हैं,—कुछ उसमेंसे मिटता रहता है, कुछ और नया होता रहता है। उत्पत्ति और समाप्ति, ये दो पहलू प्रत्येक अवस्थामें हैं।

पुरातन व्यर्थजीर्ण होकर नष्ट हो जाता है, नूतन उसकी जगह लेता है। इसी भाँति परिवर्तन सम्पन्न होता है।

अपने चारों ओर घटित होती हुई घटनाओंमें एकाएक हमें कोई संगति नहीं दिखलाई देती। शहर क्यों खड़ा हो गया और गाँव क्यों उजड़ गया? पिता कहाँ है और उसकी जगह अब पुत्र क्यों निश्चिन्ततापूर्वक तना बैठा है? हमारे चारों ओरकी हालतें क्यों बदल गई हैं? किस भाँति एक मामूली व्यापारी बढ़कर बड़ा आदमी हो गया है और क्यों कलका बड़ा आदमी आज पूछा भी नहीं जाता?—चारों ओर आँख खोलकर देखनेसे मनमें इसी प्रकारके प्रश्न उठते हैं और वे प्रश्न बहुतेरा उत्तर देनेपर भी अंत तक कुछ प्रश्नसे ही बने रहते हैं।

लेकिन यदि हम वर्तमानको तटस्थ होकर देख सकें, जो कि पूर्णतया सम्भव नहीं है, तो हमें प्रतीत होगा कि वर्तमानकी कोई कटी हुई अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। जो था उसीमेंसे यह वर्तमान बना है। यह मनमाना नहीं है। मनमाना हो भी नहीं सकता। इसी भाँति, जो भविष्यमें होगा, वह भी आजके वर्तमानसे निरा असम्बद्ध नहीं है। आजहीको कल होना है।

हम देख सकेंगे कि परिवर्तनोंमें क्रम है और कालकी प्रगतिमें जो आवर्तन-प्रत्यावर्तन होते रहते हैं, वे निरे असंगत और अहेतुक नहीं हैं। उनमें संगति और हेतु है।

किन्तु घटनाका औचित्य उस घटनामें बंद नहीं पाइएगा। घटनाको वृत्त मानकर उसीके भीतर हेतु खोजनेसे नहीं चलेगा। व्यक्ति अपने व्यक्ति-गत जीवनको सबसे तोड़कर अपनेमें ही उसे समझना

चाहे तो जीवन व्यर्थ-सा और अतर्क्य-सा मालूम होगा। लेकिन हम जानते हैं कि जब व्यक्ति अपनी ज़िन्दगीके साठ, सत्तर, सौ वर्ष जीकर समाप्त होता है, तब भी उसका परिवार चलता रहता है। परिवार मिट जाते हैं और समाज बना रहता है। इसी तरह, एक राष्ट्रके जीवनमें समाज अपना जीवन-दान कर जाता है। सहस्र सहस्र वर्षोंके इस प्रकारके संयुक्त जीवनकी साधनाके परिणाम-स्वरूप संस्कृतियाँ बनती हैं। मनुष्यका ज्ञान और सभ्यता और संस्कृति इसी भाँति उन्नत और पुष्ट होती जाती हैं।

हम देखें कि समस्त परिवर्तनोंमें नितांत असंगति ही नहीं है, प्रत्युत उनमें एक विकास-धारा है। चीज़ें बनती हैं और मिटती हैं, पर वे अनर्थक भावसे नहीं बिगड़ती-बनतीं। पिता यदि पुत्रको जन्म देकर स्वयं मौतकी तरफ बढ़ जाता है, तो यह भी एक नियमके अनुसार है। वह यद्यपि यह अन्ध-भावसे कर सकता है, पर वह विधान निरर्थक नहीं है, नियमानुकूल है। मनुष्य चाहे उसमें अपनी तृप्ति माने अथवा उसे अपने लिए शाप समझे, पर वह अनिवार्य है। मानव-जीवनका अर्थ उसके अपने ही भीतर समाप्त नहीं है।

एक अनिर्दिष्ट निर्देशसे मानव जीता, चलता और मरता है। वह अज्ञानसे अथवा ज्ञानपूर्वक अपने जीवनके चक्करको काटता है और अपने जीवन-दानसे बृहत् चक्रके संचालनमें सहयोगी बनता है।

हम परिवर्तन करते हैं और परिवर्तन हमपर होते रहते हैं। उसके साथ ही हम जान लें कि वह परिवर्तन मात्र परिवर्तन नहीं है, वह उन्नति और विकास है। जानें कि सब-कुछके द्वारा और हमारे द्वारा भी युग-युगके भीतर एक विकास अपनेको सम्पन्न कर

रहा है। हम उसके साधन हैं और उसके भाग हैं।—हम और कुछ नहीं हो सकते। विकास न रुकेगा। भविष्य आवेगा ही। अतीत जो था, था, और भविष्य भी जो होगा, वही होगा। इस दृष्टिसे वर्तमानकी भी एक निश्चित रूप-रेखा है। इसी महाचक्रके भीतर हम हैं। हम गिनतीके वर्षोंके लिए हैं और परिमाणमें साढ़े तीन हाथसे ज़्यादा नहीं हैं। हम जबसे आरम्भ हुए, उसकी जन्म-तिथि है; जिस रोज़ हम न रहेंगे, वह भी एक तारीख़ होगी। हमारा अस्तित्व उन ओर और छोरपर बैठी तारीख़ोंके बीचमें नपा-नपाया है। किंतु जन्मकी तारीख़से पहले भी दुनिया थी और सब-कुछ था। मृत्युकी तिथिके बाद भी दुनिया रहेगी और सब-कुछ रहेगा। अपने आप ही आपमें जब जब हम देखेंगे, तब तब पावेंगे कि हमारी बहुत ही परिमित सत्ता है और बहुत ही थोड़ा वश है।

लेकिन इसके साथ ही अमिट-रूपमें हम जानते हैं कि जो है, उसका नाश नहीं होता। सब परिवर्तनोंके मध्यमें कुछ ध्रुव भी है। जिसमें परिवर्तन है वह सदा है, सदा था और सदा रहेगा। वह शाश्वत है और परिवर्तनोंके द्वारा वह शाश्वत ही अपनेको संपन्न करता है। हम जानते हैं कि असंख्य वर्ष पहले जो था, वह भी हमसे असंबद्ध नहीं है। हम आज अपने भीतर इतिहासके अतीतके साथ भी अपना नाता अनुभव करते हैं। ऐतिहासिक पुरुषोंकी महत्ता हमें महत्ताकी ओर प्रेरित करती है। उस अतीतके ज्ञानमें हमें रस मालूम होता है। तबका इतिहास, मालूम होता है, अब भी हमारी रगोंमें सो रहा है और वह जाग भी सकता है। सदियाँ हमें कालके क्षण-सी मालूम होती हैं और हम भूल जाते हैं कि

हम परिमित प्राणी हैं। जान पड़ता है, इतिहासके भीतर भी हमीं हैं। हमी वह हैं। आदिम मनुष्यने जो भोगा और जो किया, उसके बाद प्राग्-ऐतिहासिक और ऐतिहासिक युगोंके दीर्घकालमें भी जो उसने भोगा, किया और पाया, उसकी वह तमाम अनुभूति, तमाम उपलब्धि, तमाम ज्ञान और उसकी वह समस्त साधना आज हमारे जीवनमें बीज-रूपसे व्याप्त है। उसीके फलस्वरूप हम आज हैं। नितान्त एकाकी स्वतन्त्र हम अपने-आपमें क्या हैं?

इस दृष्टिसे चाहे हम परिमित हों, फिर भी अनन्त हैं। हम कालसे भी नहीं बँधे हैं और न प्रान्तसे ही। शत-सहस्र शताब्दियाँ हममें मुखरित होती हैं और हमारा दायित्व बड़ा है।

क्या हम भावी बदल सकते हैं? क्या हम अपने भी मालिक हैं? क्या हम अपने-आपमें भाग्य-बद्ध भी नहीं हैं? क्या हमको माध्यम बनाकर कुछ और महत्तत्त्व नहीं व्यक्त हो रहा है जो हमसे अतीत है? हमारा समस्त यत्न अन्ततः किस मूल्यका हो सकता है? अनन्तकाल और अगाध विस्तारके इस ब्रह्माण्डमें एक व्यक्तिकी क्या हैसियत है?

ऊपरकी बात कही जा सकती है और उसका कोई खण्डन भी नहीं हो सकता। वह सत्य ही है। उस महा-सत्यके तले हमें विनीत ही बन जाना चाहिए। जब वह है, तब मैं कहाँ? तब अहङ्कार कैसा? जब हम (अपने आपके) सचमुच कुछ भी नहीं हैं, तब और किसको क्षुद्र मानें? नीच किसको मानें? तुच्छ किसको जानें? हम उस महासत्यकी अनुभूतिके तले अपनेको शून्य ही मान रखनेका तो अभ्यास कर सकते हैं।

और बस। अहङ्कारसे छुट्टी पानेसे आगे हम उस महा सत्ताके बहाने अपनेमें निराशा नहीं ला सकते, हम निराशामें प्रमाद-ग्रस्त नहीं बन सकते, अनुत्तरदायी नहीं बन सकते, भाग्य-वादी नहीं बन सकते। यह भी एक प्रकारका अहंकार है। प्रमाद स्वार्थ है, उच्छृंखलता भी स्वार्थ है। हम जब देखने लगें कि हमारा अहङ्कार एक प्रकारसे हमारी जड़ता ही है, अज्ञान है, माया है, तब हम निराशामें भी पड़ सकनेके लिए खाली नहीं रहते। निराशा एक विलास है, वह एक व्यसन है, नशा है। नशीली चीज़ कड़वी होती है, फिर भी लोग उसका रस चूसते हैं। यही बात निराशामें है। निराशा सुखप्रद नहीं है। फिर भी लोग हैं जो उसके दुखकी चुस्की लेते रहनेमें कुछ सुखकी झोंकका अनुभव करते हैं।

जिसने इस महासत्यको पकड़ा कि मैं नहीं हूँ, मैं केवल अव्यक्तके व्यक्तीकरणके लिए हूँ, वह भाग्यके हाथमें अपनेको छोड़कर भी निरन्तर कर्मशील बनता है। वह इस बातको नहीं भूल सकता कि कर्म उसका स्वभाव है और समस्तका वह अङ्ग है। वह (साधारण अर्थोंमें) सुखकी खोज नहीं कर करता, सत्यकी खोज करता है। उसे वास्तवके साथ अभिन्नता चाहिए। इसी अभिन्नताकी साधनामें, इस अत्यन्त वास्तवके साथ एकता पानेके रास्तेमें जो कुछ भी विपत्ति उसपर आवे, जो ख़तरा, जो दुःख उसे उठाना पड़े, वह सब हर्षसे स्वीकार करता है। अपना सुख-दुख तो उसके लिए कुछ होता ही नहीं। इसलिए, उसका सुख समस्तताके साथ अविरोधी सुख होता है। इस जगत्में विलास दूसरेकी पीड़ापर परिपुष्ट होता हुआ देख पड़ता है। वैसा विलास-मय सुख निरहंकारी मानवके लिए अत्यन्त त्याज्य बनता है।

हमने देखा कि चीज़ें बदलती हैं; देखा कि वे प्राकृतिक विकास-क्रमके अनुसार बदलती हैं; देखा कि किसी व्यक्तिकी अथवा घटनाकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। और भी देखा कि किसी व्यक्तिके लिए अपने ही ऊपर केंद्रित होने और अपने ही लिए रहनेका अवकाश नहीं है। (अपने माने हुए) सुखसे चिपटने और दुखसे दूर भागनेकी छुट्टी भी व्यक्तिको नहीं है। विकास जब अपने आपको चरितार्थ कर रहा है तब व्यक्तिके लिए बीचमें अपने सुख-दुख पैदा कर लेना उचित नहीं है। जीवनकी स्वीकृति व्यक्तिका धर्म है, यों चाहे तो क्लेश उपस्थित करके वह अपनेको मार भी सकता है।

यह हमने देखा। अब प्रश्न होता है कि व्यक्ति अपनेको संवेदनहीन बनानेकी कोशिश करे, क्या यही यथार्थ है? अपनी इन्द्रियोंको क्या मार लेना होगा? अपनी भावनाओंको तपस्याद्वारा कुचल ही देना होगा? अपने भीतरकी सुन्दर और असुन्दर, ग्राह्य और घृण्य, आनन्दकारी और ग्लानिजनक, 'सु' और 'कु', यह सब विवेक-भावना क्या व्यर्थ है? अनादि-कालसे हमारे भीतर एक वस्तुको हर्षसे अपनाने और दूसरीको दृढ़तासे वर्जित रखनेकी जो अंतस्थ सहज बुद्धि है, वह क्या व्यर्थ है? क्या सबसे मुँह मोड़कर काय-क्लेशमें 'स्टॉइक रेज़िग्नेशन' (Stoic resignation) में बन्द हो जाना होगा? क्या संवेदनहीन, प्रभावहीन बननेकी ही साधना व्यक्तिके लिए सिद्धि होगी?

और ऐसा हुआ है। लोगोंने अपनेको कुचलनेमें सिद्धि मानी है। उन्होंने अपनेसे इनकार किया है, दुनियासे इनकार किया है

और एक प्रकारसे 'न'कारकी साधना की है। उन्होंने 'मैं अपनेको कुचल दूँगा' ऐसा संकल्प ठानकर कुचलनेपर इतना जोर दिया है कि वे भूल गये हैं कि इसमें 'मैं' पर भी आवश्यक रूपमें जोर पड़ता है। 'मैं' कुचलकर ही रहूँगा, यह ठान ठानकर जो कुचलनेमें जोर लगाता है, उसका वह जोर असलमें 'अहं' के सिंचनमें जाता और वहींसे आता है। इस प्रकार, तपस्याद्वारा अपनेको कुचलनेमें आग्रही होकर भी उल्टे अपने सूक्ष्म अहंको अर्थात् 'मैं' को, सींचा और पोषा जाता है। जो साधना दुनियासे मुँह मोड़कर उस दुनियाकी उपेक्षा और विमुखतापर अवलंबित है वह अन्तमें मूलतः अहं-सेवनका ही एक रूप है।

जो विराट्, जो महामहिम, सब घटनाओंमें घटित हो रहा है, उसकी ओरसे विमुखता धारण करनेसे आत्मैक्य नहीं प्राप्त होगा। चीज़ें बदल रही हैं और उनकी ओरसे निस्संवेदन, उनकी ओरसे नितान्त तटस्थ, नितान्त असंलग्न और अप्रभावित रहनेकी साधना आरम्भसे ही निष्फल है। व्यक्ति अपने आपमें पूर्ण नहीं है, तब सम्पूर्णका प्रभाव उसपर क्यों न होगा? प्रभाव न होने देनेका हठ रखना अपनेको अपूर्ण रखनेका हठ करने-जैसा है, जो कि असंभव है। आदमी अपूर्ण रहनेके लिए नहीं है, उसे पूर्णताकी ओर बढ़ते ही रहना है।

इसलिए जगद्गतिसे उपेक्षा-शील नहीं हुआ जा सकेगा। उससे अप्रभावित भी नहीं हुआ जा सकेगा। यह तो पहले देख चुके कि अपनेको स्वीकार करके उस जगद्गतिसे इनकार नहीं किया जा सकता। इसी भाँति यह भी स्पष्ट हुआ कि उधरसे निगाह हटाकर

केवल अपने ऊपर उसे केन्द्रित करके स्वयं अप्रभावित बने रहनेमें भी सिद्धि नहीं है।

तब यही मार्ग है (लाचारीका नहीं, मोक्षका) कि हम घटनाओंको केवल स्वीकार ही न करें, प्रत्युत उन्हें स्वयं घटित करें। क्या वास्तवके साथ ऐक्य पाना ही हमारा लक्ष्य और वही हमारी सिद्धि नहीं है? वह वास्तव ही घटनाओंमें घटित बनकर व्यक्त हो रहा है। तब हमारा अपना व्यक्तीकरण भी इन घटनाओंमें ही होगा। हम कर्म करेंगे, यह जानकर नहीं कि वैसा किये बिना गुज़ारा नहीं; यह मानकर भी नहीं कि वैसा हमें करना चाहिए; बल्कि यह अनुभव करते हुए कर्म करेंगे कि हम उसके स्रष्टा हैं। परिवर्तनको स्वीकार भर करनेके लिए हम नहीं हैं। उन परिवर्तनोंको संपन्न करनेके लिए भी हम हैं। विकास हो और वह विकास हमें अपने हाथमें लेकर विकसित कर जाय, इसकी प्रतीक्षा करते नहीं बैठना होगा। हम स्वयं विकासमें प्रवुद्ध होंगे और उसे सिद्ध करेंगे। हम स्रष्टाकी प्रकृतिके समभागी हैं। हम केवल उपादान, उपकरण ही तो नहीं हैं। हम कर्ता भी हैं। चीज़ें बदलती हैं, वे सदा बदलती रही हैं, यहाँतक ही मनुष्यका सत्य नहीं है। मनुष्यका सत्य यह भी है कि हम चीज़ोंको बदलते हैं, हम उन्हें बदलते रहेंगे। मनुष्य परिवर्तनीय है, इसीलिए तो कि वह परिवर्तनकारी है। मनुष्य विकासशील है, क्योंकि वह विकासशाली है। वह कर्मवेष्टित क्यों है? क्योंकि वह कर्मका स्रष्टा भी है।

सत्य, शिव, सुंदर

'सत्यं शिवं सुंदरं'—यह पद आजकल वहुत लिखा-पढ़ा जाता है। ठीक मालूम नहीं, कौन इसके जनक हैं। जिनकी वाणीमें यह स्फुरित हुआ वह ऋषि ही होंगे। उनकी अखंड साधनाके फल-स्वरूप ही, भावोत्कर्षकी अवस्थामें, यह पद उनकी गिरासे उद्गीर्ण हुआ होगा।

लेकिन कौन-सा विस्मय कालांतरमें सस्ता नहीं पड़ जाता? यही हाल ऋषि-वाक्योंका होता है।

किंतु महत्तत्त्वको व्यक्त करनेवाले पदोंको सस्ते ढँगसे नहीं लेना चाहिए। ऐसा करनेसे अहित होगा। आगको जेवमें रक्खे फिरनेमें खैर नहीं है। या तो जो जेवमें रख ली जाती है वह आग ही नहीं है, या फिर उसमें कुछ भी चिनगारी है तो वह जेवमें नहीं ठहरेगी। सवको जलाकर वह चिनगारी ही प्रोज्ज्वल वनी दमक उठेगी।

'सत्यं शिवं सुंदरं' पदका प्रचलन घिसे पैसेकी नाईं किया जा रहा है। कुछ नहीं है, तो इस पदको ले वढ़ो। यह अनुचित है। यह असत्य है। अनीतिमूलक है। शब्द क़ीमती चीज़ है। आरंभमें वे मानवको वड़ी वेदनाकी क़ीमतमें प्राप्त हुए। एक नये शब्दको वनानेमें जाने मानव-हृदयको कितनी तकलीफ़ झेलनी पड़ी होगी। उसी वहुमूल्य पदार्थको एक परिश्रमी पिताके उड़ाऊ लड़केकी भाँति जहाँ तहाँ असावधानीसे फेंकते चलना ठीक नहीं है। अकृतज्ञ ही ऐसा कर सकता है।

'सत्यं शिवं सुंदरं' पदसे हम क्या पाएँ, क्या लें, यह समझनेका प्रयास करना चाहिए। उस शब्दकी मारफ़त, यदि हम कुछ नहीं लेते हैं और हमारे पास देनेको भी कुछ नहीं है तो उस पदके प्रयोगसे आसानीसे बचा जा सकता है। ऐसी अवस्थामें बचना ही लाभकारी है।

महावाक्योंमें गुण होता है कि वे कभी अर्थसे ख़ाली नहीं होते। कोई विद्वान् उनके पूरे अर्थको खींच निकालकर उन शब्दोंको खोखला नहीं बना सकता। उन वाक्योंमें आत्मानुभवकी अटूट पूँजी भरी रहती है। जितना चाहो उतना उनसे लिये जाओ फिर भी मानों अर्थ उनमें लबालब भरा ही रहता है। असलमें वहाँ अर्थ उतना नहीं जितना भाव होता है। वह भाव वहाँ इसलिए अक्षय है कि उसका सीधे आदि-स्रोतसे संबंध है। इसीलिए ऐसे वाक्योंमें जब कि यह खूबी है कि वे पंडितके लिए भी दुष्प्राप्य हों तब उनमें यह भी खूबी होती है कि वे अपंडितके लिए भी, अपने वित-मुताबिक़, सुलभ होते हैं।

भावार्थ यह कि ऐसे महापदोंका सार, अपने सामर्थ्य जितना ही हम पा सकते, दे सकते हैं। यहाँ जो 'सत्यं शिवं सुंदरं' इस पदके विवेचनका प्रयास है उसको व्यक्तिगत आस्था-बुद्धिके परिमाणका द्योतक मानना चाहिए।

सत्य, शिव, सुंदर ये तीनों एक वजनके शब्द नहीं हैं। उनमें क्रम है और अंतर है।

सत्य-तत्त्वका उस शब्दसे कोई स्वरूप सामने नहीं आता। सत्य, सत्य है। कह दो सत्य ईश्वर है। वह एक ही बात हुई। पर वह

कुछ भी और नहीं है। वह निर्गुण है। वह सर्वरूप है, संज्ञा भी है, भाव भी है ।

सत्‌का भाव सत्य है। जो है वह सत्यके कारण है, उसके लिए है। इस दृष्टिसे असत्य कुछ है ही नहीं। वह निरी मानव-कल्पना है। असत्, यानी जो नहीं है। जो नहीं है उसके लिए यह 'असत्' शब्द भी अधिक है। इसलिए 'असत्य' शब्दमें निरा मनुष्यका आग्रह ही है, उसमें अर्थ कुछ नहीं है। आदमीने काम चलानेके लिए वह शब्द खड़ा कर लिया है। यह कोरी अयथार्थता है।

इसी तरह 'सत्यता' शब्द भी यथार्थ नहीं है। वह शब्द चल पड़ा तो है पर केवल इस बातको सिद्ध करता है कि मानव-भाषा अपूर्ण है।

जो है वह सत्। जो उसको धारण कर रहा है वह सत्य।

अब 'शिव' और 'सुंदर' शब्दोंकी स्थिति ऐसी नहीं है। शिव गुण है, सुंदर रूप है। ये दोनों सम्पूर्णतया मानवात्माद्वारा ग्राह्य तत्त्व हैं। ये रूपगुणातीत नहीं हैं, रूपगुणात्मक हैं। ये यदि संज्ञा हैं तो उनके भाव जुदा हैं,—शिवका शिव-ता और सुंदरका सुंदर-ता। और जब वे स्वयंमें भाव हैं तब उन्हें किसी अन्य तत्त्वकी अपेक्षा है—जैसें 'यह शिव है', 'वह सुंदर' है। 'यह' या 'वह' उनके होनेके लिए ज़रूरी हैं। उनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है।

ऊपरकी बात शायद कुछ कठिन हो गई। मतलब यह कि सत्य निर्गुण है। शिव और सुंदर उसीका ध्येय रूप हैं। सत्य ध्येयसे भी परे है। वह अमूर्तीक है। शिव और सुंदर उसका मूर्तीक स्वरूप है।

निर्गुण, निराकार, अंतिम सचाईका नाम है सत्य। वही तत्त्व

मानवकी उपासनामें सगुण, साकार, स्वरूपवान् बनकर शिव और सुंदर हो जाता है।

सत्यकी अपेक्षा शिव और सुंदर साधना-पथ हैं, साध्य नहीं। वे प्रतीक हैं, प्रतिमा हैं। स्वयं आराध्य नहीं हैं, आराध्यको मूर्तिमान् करते हैं।

शिव और सुंदरकी पूजा यदि अज्ञेय सत्यके प्रति आस्था उदित नहीं करती, तो वह अपने आपमें अहं-पूजा है। वह पत्थर-पूजा है। वह मूर्तिपूजा सच्ची भी नहीं है।

सच्ची मूर्तिपूजा वह है जहाँ पूजकके निकट मूर्ति तो सच्ची हो ही, पर उस मूर्तिकी सचाई मूर्तिसे अतीत भी हो।

इस निगाहसे शिव और सुंदर मंज़िलें हैं, मक़सूद नहीं हैं। इष्ट-साधन हैं, इष्ट नहीं हैं। इष्ट भी कह लो, क्यों कि इष्ट देवकी राहमें हैं। पर यदि राहमें नहीं हैं तो वे अनिष्ट हैं।

लेकिन यहाँ हम कहीं गड़बड़में पड़ गये मालूम होते हैं। जो सुंदर है वह क्या कभी अनिष्ट हो सकता है? और शिव तो शिव है ही। वह अनिष्ट हो जाय तो शिव ही क्या रहा?

बात ठीक है। लेकिन शिवका शिवत्व-निर्णय मानव-बुद्धिपर स्थगित है। सुन्दरका सौन्दर्य-निरूपण भी मानव-भावनाके तावे है। मानव-बुद्धि अनेक रूप है। वह देश-कालमें बँधी है। इसलिए ये दोनों (शिव, सुंदर) अनिष्ट भी होते देखे जाते हैं। इतिहासमें ऐसा हुआ है। अब भी ऐसा हो रहा है।

सत्य स्वयं-भू है, एक है, उसे आलंबनकी आवश्यकता नहीं है। सब विरोध उसमें लय हो जाता है। उसके भीतर द्वित्वके लिए स्थान नहीं है। वहाँ सब 'न'कार स्वीकार्य है।

शिव और सुंदरको आलंबनकी अपेक्षा है। अशिव हो, तभी शिव संभव है। अशिवको पराजित करनेवाला शिव। यही बात सुंदरके साथ है। असुंदर यदि हो ही नहीं तो सुंदर निरर्थक हो जाता है। दोनों बिना द्वित्वके संभव नहीं हैं।

संक्षेपमें हम यों कहें कि सत्य अनिर्वचनीय है। उसपर कोई चर्चा-आख्यान नहीं चल सकता। वह शुद्ध चैतन्य है। वह समग्रकी अंतरात्मा है।

और जिनपर बातचीत चलती और चल सकती है, वे हैं शिव और सुंदर। हमारी प्रवृत्तियोंके व्यक्तिगत लक्ष्य ये ही दो हैं—शिव और सुंदर।

सत्य अनंत है, अकल्पनीय है। अतः हम जो कुछ जान सकते, चाह सकते, हो सकते हैं, वह सब एकांगी सत्य है। दूसरी दृष्टिसे वह असत्य भी हो सकता है। सम्पूर्ण सत्य वह नहीं है।

इस स्वीकृतिमेंसे व्यक्तिको एक अनिवार्य धर्म प्राप्त होता है। उसको कहो, प्रेम। उसीको फिर अहिंसा भी कहो, विनम्रता भी कहो।

यदि मूलमें यह प्रेमकी प्रेरणा नहीं है तो शिव और सुंदरकी समस्त आराधना भ्रांत है। सुंदर और शिवकी प्राप्तिके अर्थ यात्रा करनेकी पहली शर्त यह है कि व्यक्ति प्रेम-धर्ममें दीक्षित हो ले।

प्रेम कसौटी है। सुंदर और शिवके प्रत्येक साधकको पहले उस-पर कसा जायगा। जो खरा उतरेगा वह खरा है। जो खोटा निकलेगा, वह खोटा है।

प्रत्येक मानवी प्रवृत्तिको इस शर्तको पूरा करना होगा। जो करती

है, वह विधेय है; जो नहीं करती, वह निषिद्ध है। सुंदरके नामपर अथवा शिवके नामपर जो प्रवृत्ति प्रेम-विमुख वर्तन करेगी वह मिथ्या होगी। दूसरे शब्दोंमें वह अशिव होगी, असुंदर होगी,—चाहे तात्कालिक 'शिवं'-वादी और 'सुंदरं'-वादी कितना भी इससे इनकार करें।

असलमें मानवकी मूल वृत्तियाँ मुख्यतः दो दिशाओंमें चलती हैं—एक वर्तमानके हृदयकी ओर, दूसरी भविष्यके आवाहनकी ओर। एक ऐहिक, दूसरी पारलौकिक। एकमें आनंदकी चाह है, दूसरीमें मंगलकी खोज है। एकका काम्य देव सुंदर है, दूसरीका आराध्य देव शिव है।

यम-नियम, नीति-धर्म, योग-शोध, तपस्या-साधना, इनके मूलमें शिवकी खोज है। इनकी आँख भविष्यपर है।

साहित्य-संगीत, मनीषा-मेधा, कला-क्रीड़ा,—इनमें सुंदरके दर्शनकी प्यास है। इनमें वर्तमानको थाह तक पा लेनेकी स्पर्द्धा है।

आरंभसे दोनों प्रवृत्तियोंमें किंचित् विरोध-भाव दीखता आया है। शिवके ध्यानमें तात्कालिक सौन्दर्यको हेय समझा गया है। यही क्यों, उसे बाधा समझा गया है। उधर प्रत्यक्ष कमनीयको हाथसे छोड़कर मंगल-साधनाकी बहकमें पड़ना निरी मूर्खता और विडंबना समझी गई है। तपस्याने क्रीड़ाको गर्हित बताया है और उसी दृढ़ निश्चयके साथ लीलाने तपस्याको मनहूस क़रार दिया है। दोनों एक दूसरीको चुनौती देती और जीतती-हारती रही हैं।

यह तो स्पष्ट ही है कि शिव और सुंदरमें सत्यकी अपेक्षा कोई विरोध नहीं है। दोनों सत्यके दो पहलू हैं। दोनों एक दूसरेके पूरक हैं। पर अपने अपने-आपमें सिमटते ही दोनोंमें अनबन हो रहती

है। और इस तरह भी, वे दोनों एक प्रकारसे परस्पर सहायक होते हैं, क्योंकि दोनों एक दूसरेके लिए अंकुश (=Check) रखते हैं।

मनुष्य और मनुष्य-समाजके मंगल-पक्षको प्रधानता देनेवाले नीति-नियम जब तब इतने निर्मम हो गये हैं कि जीवन उनसे संयत होनेके बजाय कुचला जाने लगा है। तब इतिहासके नाना कालोंमें, प्रत्युत प्रत्येक कालमें, जीवनके आनंद-पक्षने विद्रोह किया है और वह उभर पड़ा है। इधर जब इस भोगानंद-पक्षकी अतिशयता हो गई है तब फिर आवश्यकता हुई है कि नियम-कानून फिर उभरें और जीवनके उच्छृंखल अपव्ययको रोक कर संयत कर दें।

इस कथनको पुष्ट करनेके लिए यहाँ इतिहासमेंसे प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं है। सब देशों, सब कालोंका इतिहास ऐसे उदाहरणोंसे भरा पड़ा है। स्वयं व्यक्तिके जीवनमें इस तथ्यको प्रमाणित करनेवाले अनेकानेक घटना-संयोग मिल जायँगे। फिर भी, वे प्रमाण प्रचुर परिमाणमें किसीको स्थापत्य-कला, वास्तु-कला, साहित्य-संगीत, मठ-मंदिर, दर्शन-संस्कृति और इधर समाज-नीति और राज-नीतिके क्रमिक विकासके अध्ययनमें जगह जगह प्राप्त होंगे।

व्यक्तित्वके निर्माणमें प्रवृत्तिका और निवृत्तिका समान भाग है। जहाँ शिव प्रधान है—वहाँ निवृत्ति प्रमुख हो जाती है। वहाँ वर्तमानको थोड़ा-बहुत क़ीमतमें स्वाहा करके भविष्य बनाया जाता है। जहाँ सुंदर लक्ष्य है वहाँ प्रवृत्ति मुख्य और निवृत्ति गौण हो जाती है। वहाँ भविष्यपर बेफिक्रीकी चांदर डालकर वर्तमानके रसको छककर लिया जाता है। वहाँ ज्ञान लक्ष्य नहीं है, प्राप्ति भी लक्ष्य नहीं है, मग्नता

और विस्मृति लक्ष्य हैं। वहाँ सुखकी सँभाल नहीं है, काम्यमें सब कामनाओं समेत अपनेको खो देनेकी चाह है। पहली साधना है, दूसरा समर्पण है।

आरंभमें जो संकेतमें कहा वही यहाँ स्पष्ट कहें कि आनन्द-हीन साधना उतनी ही निरर्थक है जितना साधना-हीन आनन्द निष्फल है। वह सुंदर कैसा जो शिव भी नहीं है, और शिव तो सुंदर है ही।

इस दृष्टिसे मुझे प्रतीत होता है कि सुंदरको फिर शिव-ताका ध्यान रखना होगा और शिवको सत्याभिमुख रहना होगा। शिव सत्याभिमुख है तो वह सुंदर तो है ही।

अर्थात्, जीवनमें सौंदर्योन्मुख भावनाओंका नैतिक (= शिवमय) वृत्तियोंके विरुद्ध होकर तनिक भी चलनेका अधिकार नहीं है। शुद्ध नैतिक भावनाओंको खिझाती हुई, उन्हें कुचलती हुई जो वृत्तियाँ सुंदरकी लालसामें लहकना चाहती हैं वे कहीं न कहीं विकृत हैं। सुंदर नीति-विरुद्ध नहीं है। तब यह निश्चय है कि जिसके पीछे वे आवेशमयी वृत्तियाँ लपकना चाहती हैं वह 'सुंदर' नहीं है। केवल छद्माभास है, सुंदरकी मृगतृष्णिका है।

सामान्य बुद्धिकी अपेक्षासे यह समझा जा सकता है कि शिवको तो हक है कि वह मनोरम न दीखे, पर सुंदरको तो मंगल-साधक होना ही चाहिए। जीवनका संयम-पक्ष किसी तरह भी जीवनानंदके मध्य अनुपस्थित हुआ कि वह आनंद विकारी हो जाता है।

अपने वर्तमान समाजकी अपेक्षामें देखें तो क्या दीखता है? स्वभावतः वे लोग जिनका जीवन रंगीन है और रंगीनीका लोलुप है, जिनके जीवनका प्रधान तत्त्व आनंद और उपभोग है, जो स्वयं

सुंदर (!) रहते और सुंदरकी लालसा लिये रहते हैं, जो बेफिक्रीसे निरे वर्तमानमें रहते हैं और जिनमें शिव-तत्त्व पर्याप्त नहीं है,—ऐसे लोग समाजमें किस स्थानपर हैं ?

दूसरी ओर वे जिनमें जीवनका प्राण-पक्ष मूर्च्छित है, विधि-निषेधोंसे जिनका जीवन ऐसा जकड़ा है कि हिल नहीं सकता और तरह तरहके आंतरिक रोगोंको जन्म दे रहा है, जो इतने सावधान हैं कि उनमें स्वाभाविकता और सजीवता ही नहीं रह जाती, जो पाबंद इतने हैं कि मानों जीते-जागते हैं ही नहीं;—ऐसे लोग भी भला किस अंशतक कृतकार्य समझे जा सकते हैं ?

दोनों तरहके व्यक्ति संपूर्णतासे दूर हैं। फिर भी, यह देखा जा सकता है कि आत्म-नियमनकी प्रवृति आनन्दोपभोगकी प्रवृत्तिसे किसी क़दर ऊँची ही है। जहाँ वह जीवनको दबाती है और उसे बढ़ानेमें किसी प्रकारसे सहायता नहीं देती वहाँ वह अवश्य अयथार्थ है और सच्ची प्राण-शक्तिको अधिकार है कि उसको चुनौती दे दे। फिर भी, प्रत्येक सौन्दर्याभिमुख, आनंदोत्सुक प्रवृत्तिका धर्म है कि वह नैतिक उद्देश्योंका अनुगमन करे।

अर्थात् वे कलात्मक प्रवृत्तियाँ जिनका लक्ष्य सुन्दर है उन वृत्तियोंके साथ समन्वय साधें जिनका लक्ष्य कल्याण-साधन है। यानी, कला नीति-समन्वित हो। और इसके बाद, कला और नीति दोनों ही धर्म-समन्वित हों। धर्मका आशय यहाँ मतवाद नहीं;—'धर्म,' अर्थात् प्रेम-धर्म।

'सत्यं शिवं सुन्दरं' यह व्याख्यात्मक पद ही नहीं है, सजीव पद है। जीवनका लक्षण है, गति। इस पदमें भी गति है, उद्बोधन

है। सुन्दरकी ओर और फिर सुन्दरसे क्रमशः शिव और सत्यकी ओर प्रयाण करना होगा,—यह ज्वलन्त भाव उसमें भरा है। यों भी कह सकते हैं कि सत्यको शिवरूपमें उतार कर ध्यानमें लाओ, क्योंकि यह सरल है। और शिवको भी सुन्दर रूपमें निहारो, क्योंकि यह और भी सहज स्वाभाविक है। किन्तु सुन्दरकी मर्यादा है, शिवकी भी मर्यादा है। और दोनोंहीकी मर्यादा है सत्य। सत्यमें सब-कुछ अपनी मर्यादाओं समेत मुक्त हो जाता है।

वसन्त आया,—आओ !

वसन्त आया।

प्रकृति तीखी थी, अब स्निग्ध हुई। नंगी थी, अब जैसे कुछ ओढ़ उठी। हरियाला स्नेह उसपर छा गया। ढाँचोंमेंसे कोपलें उगीं। हवा काटना छोड़, लहरीली हिलोरें-सी देने लगी। और धूप झकझकाती धौली न रहकर मानों अरुण-सी बनी, हमें चूमनेको जैसे बाँहें फैलाकर हमारी ओर बढ़ती आई।

और लोगोंके जीमेंसे जीवनकी चुहल उठकर उन्हें गुदगुदाने लगी। विनोद जीवन-सर्वस्व बनकर अपनी गोदमें ले उन्हें हिन्दोले-सेमें झुलाने लग गया। और लोग बुद्धिमत्ता और कमाईका काम-काज छोड़ हठात् चहचहानेको ऐसे अवश हो उठे, जैसे पक्षी। वे लापर्वाह होकर उत्सव-सा मनाने लगे।

और, भीतरकी और बाहरकी कालिख उड़कर उजलाहटमें विलीन हो जाने लगी।

और प्राणोंमें शराबके फेनकी तरह कुछ लहरें मारता उठने लगा।

और कुमारीने माता हो जानेका मतलब समझा।

और बालक किलकारियाँ भरना चाहने लगे, और सोचने लगे, दवात-पट्टीको दूर फेंक हम जंगलको भाग छूटें जहाँ पेड़ हैं और घास है, और झाड़ियाँ हैं।

और ऊँची-ऊँची दीवालोंसे घिरे और छतोंसे छाये घर ऐसे मालूम होने लगे जैसे जेलखाने, और जी हुआ,—चलोजी, हम खुलेमें खेलें और जिएँ।

और लगने लगा, सिरपर हमारे आकाश है, और उस आकाशके शून्यके सिंहासनपर अवस्थित जो है, वही है। उसके अतिरिक्त हमारे सिरपर किसी तरहका और प्रभु नहीं है।

और भीतरसे ऐसा उल्लाह फुहारकी भाँति फूटने लगा कि राज-मुकुटसे लदे बेचारे सम्राटको भी छातीसे लगा लेनेको जी हुआ। आज उसका सम्मान करने, उसका आतंक मानने, उसके प्रति विमनस्कता या विद्वेष रखनेके सब असत्य भाव टूट कर बिखरने लगे; और लगा, सम्राट् ऐसा ही है जैसे हमारा भूला बड़ा भाई।

और राजा-प्रजा, अफ़सर-गुलाम, दीन-सम्पन्न, ब्राह्मण-अछूत, मैं-तू,—एक महोत्सवमें हमारी बनाई हुई यह सब कुछ (आवश्यक) विषमता मानों स्वप्नकी भाँति ओझल हो गई।

और जो दीवारें, अपनी आँखोंके आगे, अपनी जान अनजानमें हमने खड़ी कर ली हैं, अब भूमिको चूमती हुई समतल हो गईं।

और बूढ़े बच्चे हो गये।

और सब भाई भाई हो गये।

और सब भाई-बहिन हो गये।

जब प्राणोंमें ज्वार आया, और उसकी झोंकमें यह सब-कुछ जैसे होने लगा।

तब हमने कहा—

वसन्त आया,—आओ!

नारीके प्रति

ओ नारी, उठ !

मेरे पाँव जकड़े, रोती पड़ी क्यों है ?

क्या तेरे योग्य गिरना है ? तेरा काम जकड़ना है ? तेरा वल आँसू है ? तुझे ठौर चरनोंमें है ?

नारी, उठ, और कह—'नहीं'।

नहीं, दया मैं नहीं जानूँगा। मैं इंकार करता हूँ। मैं नीच नहीं कि बड़ा बनूँ। पुरुष हूँ, पर कहता हूँ, तू नारी है। उठ, कि तेरे प्रति दयाका पाप मुझसे न हो। उठ, कि मैं तुझे ठोकर दूँ और छूटूँ, यह न हो। अरी छोड़, मुझे छूटना है, और जाना है।

वह सामने असत् दर्पोद्धत, खड़ा है। गर्व-स्फीत, मानों वह कह रहा है—'कहाँ है कोई जो मुझे राजा नहीं मानता ? देखो मेरे पञ्जे और देखो मेरी दाढ़, और बोलो मेरी 'जय'।'

तुझे नहीं दीखता, फिर भी, भोली नारी, उठ। गिर मत, कि प्रेमसे मैं च्युत होता हूँ। प्रेमके अयोग्य होना मुझे नहीं स्वीकार। उठ, कि तू मुस्कराए, और स्नेहकी ज्योतिसे और जीवनके आनन्दसे मैं भर जाऊँ।

उस ज्योति और उस आनन्दकी शक्तिके प्रदानका वरदान, नारी, विधाताने तुझे सौंपा, और तू रोती है! अपने प्रेमके स्पर्शके वरदानसे मेरे प्राणोंमें वह तल्लीनता भर, नारी; और वह निर्भीकता जगा कि सत्यके उस भीष्माकार विद्रोहीसे चलकर कहूँ—'कहाँ हैं

तेरे पञ्जे, मुझे पकड़। कहाँ है दाढ़,—मुझे चबा जा। पर जब तक मुझमें स्वर रहेगा, तू सुनेगा। तू नहीं है, जैसे मैं नहीं हूँ। तू विद्रोही है, तू दास है। तेरी मार्फ़त भी सत्य ही जी रहा है, सत्य ही जीत रहा है। और, वह शक्ति देख, जो तेरी दाढ़से कुचले जाते हुए भी तुझे इंकार करनेका सामर्थ्य मुझे देती है।'

नारी, तेरेसे बल लेकर मैं जाऊँ कि और सब बलोंसे मैं मोर्चा ले सकूँ। इससे तू उठ, कि मैं चला।

तू निरर्थक क्यों है? तैंने मुझसे पुत्र पाया। मुझमें तेरा अर्थ फिर क्या शेष है? मेरे अभावमें तेरी सार्थकता भङ्ग होनेका संभ्रम फिर क्यों है? तू पुत्र ले, और अपने प्रेमकी शक्ति देकर मुझे असत्से रण लेने जाने दे।

तेरा पुत्र चिरञ्जीव रहे, सुखी रहे। सुहाग चिरायु रहे। तू उठ, और हँस।

निष्फलताका आभास जीवनमें तुझे अनुभव हो तो, नारी, अपने प्रेमकी तुझे शपथ देता हूँ, पुरुष-जातिके सहयोगसे नवीन सन्तति प्राप्त करना। प्रेमकी धरोहर, प्रेमका धर्म, खोना मत। उसका आधार सुदूर विस्मृतिमें अथवा चेतनाके तटपर, या चित्रके चौखटेके पार पहुँचकर, लुप्त होता दीखे तो नारी, नवीन आधार पाना। प्रेमको हृदयमें हर-घड़ी ताज़ा और जागरित रखना।

नारी उठ, अपने प्रेमका संबल मेरे प्राणोंको दे। मत रो। मुस्करा। विदा दे। प्रेमकी रक्षाके लिए घृणासे युद्ध लेने मैं जाता हूँ। उठ—हाँ, ठीक, उठ।

साहित्य

(प्रश्नोत्तर)

प्रश्न—आदमी क्यों लिखता है ?

उत्तर—मैं अपने भीतर देखूँ कि आदमी क्यों लिखता है। अगर वह एक हो, अकेला हो, कोई भी और कुछ भी दूसरा न हो, तो क्या वह लिखेगा ? ऐसी हालतमें मेरे ख्यालमें लिखना तो क्या, और किसी भी प्रकारके मानवी व्यापारकी कल्पना नहीं हो सकती। मनुष्य जीता है, खाता-पीता, हँसता-बोलता, पढ़ता-लिखता है तो तभी, जब कइयोंके बीचमें वह एक है।

मानवी व्यापार एकसे दूसरेका आदान-प्रदान संभव बनानेके लिए सृष्ट होते हैं। मानव अपने आपमें समाप्त नहीं है। वह सबका अंश है। वह सब है। सब हुए बिना उसकी मुक्ति नहीं। मुक्ति बिना तृप्ति नहीं। उसी तृप्तिकी राहमें लिखना भी आता है। 'स्व' अपनेको नाना संबंधोंद्वारा 'पर'से जुड़ा हुआ पाता है। इन संबंधोंकी अपेक्षा उसमें नाना भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। भावनाएँ उसके भीतर समाती नहीं, वे फूटनेके लिए बेचैन होती हैं। न फूटने दें, तो वे हमें त्रस्त कर छोड़ती हैं। वे हमें प्रभावित किये बिना तो रहती नहीं। व्यक्त वे होंगी और होकर रहेंगी। कृत्यमें व्यक्त होंगी, वाणीमें होंगी, नहीं तो शरीरमें ही आधि-व्याधिके रूपमें फूट बैठेंगी। इनका अतिरेक सह्य नहीं होता। जो उन्हें संपूर्णतासे झेलकर आत्म-निष्ठ होता है, वह योगी है। योगीमें भी भावनाएँ मरती हों, सो नहीं; वे आत्मामें रम जाती हैं। वैसा संत योगी साहित्यातीत अर्थात् द्वंद्वातीत है। पर योगीकी उस अवस्थाके नीचे जब उन भावनाओंका व्यक्तीकरण शब्दोंमें अंकित होता है, तब हम कहते हैं, साहित्य रचा गया। मनुष्य अपनेको मुक्त करनेके लिए और दूसरेमें अपना दान करनेके लिए लिखता है।

प्रश्न—क्या जो लिखा जाता है वह सब साहित्य है ?

उत्तर—नहीं, सब साहित्य नहीं है। मनुष्य विचित्र प्राणी है। न जाने कितनी साधनासे उसने स्वर पाया। फिर न जाने कितनी मुद्दत बाद उसने भाषा पाई, शब्द पाये। फिर बड़े परिश्रमसे उन शब्दोंको अक्षरोंमें बाँधनेकी

पद्धतिका आविष्कार किया। जब यह हो गया, तब वह धीमे-धीमे भाषाका महत्त्व भूलने लगा। जो आत्म-दानका साधन था, वह आत्म-वंचनाका वाहन बना। व्यक्ति उसमें भावनासे अधिक अपना अहंकार गुंजारने लगा। जहाँ यह है, वहीं भाषाका व्यभिचार है। वैसा लिखना केवल लिखना है, वह साहित्य नहीं है।

जो हमारे भीतरकी अथवा किसीके भीतरकी रुद्ध वेदनाको, पिंजरबद्ध भावनाओंको, रूप देकर आकाशके प्रकाशमें मुक्त नहीं करता है, जिसमें अपने स्वका सेवन है और दान नहीं है, वह भी साहित्य नहीं है।

साहित्यका लक्षण रस है, रस प्रेम है। प्रेम अहंकारका उत्सर्ग है। इससे साहित्यका लक्षण ही उत्सर्ग है।

प्रश्न—लेकिन स्थायी साहित्य कौन-सा ? उच्च साहित्य कौन-सा ?

उत्तर—स्थायी साहित्य वह, जिसमें मानवकी अधिक स्थायी वृत्तियोंका समर्पण हो। जिसमें जितना ही रूपका दान है, शरीर-सौन्दर्यका दान है, उसका आनंद उतना ही अल्पस्थायी है। ऐन्द्रियिकताकी अपीलवाला साहित्य क्षणस्थायी है।

हृदयका उत्सर्ग अधिक स्थायी है। इससे भी ऊपर है अपने सर्व-स्वका उत्सर्ग। जहाँ अपने प्रियको पानेकी कामनाका भी उत्सर्ग है, जहाँ सर्वस्व-समर्पण है, वहाँ सर्वाधिक स्थायी तत्त्व है। उसी तत्त्वके मापसे हम लोग मरण-शील अथवा अमर इन संज्ञाओंसे साहित्यका, विवेक किया करते हैं।

इसी प्रकार जहाँ हमारे जितने ऊँचे अंशका उत्सर्ग है, वहाँ साहित्यमें उतनी ही उच्चता है।

प्रश्न—क्या साहित्य समयानुसार बदलता रहता है ?

उत्तर—साहित्यका रूप तो समयानुसार बदलेगा ही, पर उसकी आत्मा वही एक और चिरंतन है। मानवीय सब कुछ बदलता है। पर मरणशील मानवोंके बीचमें एक अमर सत्य भी है। क्षण-क्षणमें जैसे एक निरन्तरता है वैसे ही खण्ड-खण्डमें एक अखण्डता है। उसी निरंतरताकी अभिव्यक्ति क्षणोंमें होती है। क्षण स्वयं तो क्षणजीवी ही हैं, पर वे क्षणातीतको भी धारण कर रहे हैं। यही बात साहित्यके मामलेमें भी समझना चाहिए। उसका सब कुछ बदलेगा, वह हर घड़ी बदल रहा है; पर उसका तत्त्व अपरिवर्तनीय है।

प्रश्न—यहाँ आपका रूपसे क्या मतलब है ? क्या रूपका मतलब साहित्यके बाह्य कलेवरसे है ?

उत्तर—हाँ, रूपसे मेरा यही भावार्थ है। उसमें भाषा, शैली, मुहावरे, व्यंजनाके और साधन, सब आ जाते हैं। इधर एक नई चीज़ पैदा की जा रही है, जिसको कहते हैं 'टेकनीक'। वह आत्मासे तोड़कर साहित्यको नियमित शास्त्रका रूप देना चाहती है। उसको भी मैं साहित्यके परिवर्तनीय रूपोंमें गिनता हूँ।

प्रश्न—साहित्यका तो शायद आत्मासे सम्बन्ध है और रहना ही चाहिए; फिर यह 'टेकनीक'का साहित्यसे आत्माको अलग करना ठीक है?

उत्तर—इसको समझनेके लिए आप अपनेको लीजिए। आपका आत्मासे संबंध है या नहीं? और आप शरीरमें भी हैं या नहीं? अब अगर मैं यह कहूँ कि जितने अधिक आप आत्मा हैं और जितने अधिक उस आत्माके अविरुद्ध आपका शरीर है उतने ही अधिक आप महान् हैं—तो क्या ऐसा कहनेमें कुछ अयथार्थ होगा? इस जगतमें कुछ प्राणी हैं जो सिरके बालोंको तरह-तरहके लच्छोंमें काढ़ते हैं; अंगोपांगोंको प्रकार-प्रकारसे सुसज्जित रखते हैं और शरीरको आभूषित रखनेमें पर्याप्त चिन्ता व्यय करते हैं। उस शरीर-सज्जाका योग लगभग आत्मासे होता ही नहीं। मैं उसको क्या कहूँ? क्या मैं यह न कहूँ कि उस साज-सज्जामें जीवनकी शुद्ध कला अभिव्यक्त नहीं होती। वहाँ जो है वह कुछ नकली-सा है। साहित्यमें भी ऐसा हो सकता और हुआ करता है। मूल भावके प्रति अपेक्षाकृत उदासीन होकर हम उसके अंगोपांगोंकी परिसज्जामें लुभा पड़ेंगे तो हम साहित्यके नामपर ठेठ असाहित्यिक हो चलेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। देखिए न आज, नायिका-भेदकी चर्चामें कहाँ तक औचित्य रह गया है? वह क्या व्यसनकी हदतक नहीं पहुँच गई थी?

साहित्यको एक शास्त्र अथवा एक विद्या बनाना इस खतरेसे खाली नहीं है। आजकल स्पेश्यलाइजेशनकी (विशेषीकरणकी) प्रवृत्ति बहुत है। हर-बात-का एक अलग शास्त्र है। इससे फायदा तो होता है। आविष्कारोंकी सूझ इसी पद्धतिसे हाथ आती है। लेकिन जब कि पदार्थ-ज्ञानको इस तरह भेद-विभेदोंमें विभक्त करके देखनेमें कुछ लाभ भी है, तब यह नहीं भूल जाना चाहिए कि वास्तव जीवनमें वैसे खण्ड हैं नहीं। जीवन एक समूचा तत्त्व है। साहित्यके हर विभागमें साहित्यकता उतने ही अंशमें है, जहाँतक कि उसमें जीवन-स्पंदन है।

विज्ञानके नाना शास्त्रोंकी भाँति साहित्यको भी विविध शास्त्रोंमें विभक्त करके चलना बहुत सही बात नहीं है।

यों हर ज्ञानको विज्ञानका रूप देनेसे उस ज्ञानके सम्बन्धमें मानवका अधिकार, उसपर मनुष्यका प्रभुत्व, बढ़ जाता है और इसमें कोई हरज़ भी नहीं है। यह प्रक्रिया अनिवार्य भी है। लेकिन जब वह अपने आपमें महत्त्वपूर्ण समझ ली जाती है तब पाखण्ड हो जाती है।

शरीरकी एक-एक हड्डीको जोड़कर उनका इकट्ठा ढाँचा खड़ा कर देनेसे मनुष्य नहीं बन जायगा। इस तरह जो चीज़ बनेगी वह ठठरी ही होगी। मनुष्यमें जो धधकते हुए प्राण होते हैं—मनुष्यताका असली लक्षण तो वह है। ऐसे ही शिल्प-कौशलकी विद्वत्ता अपने आपमें साहित्यिकता नहीं हो सकती। यदि विद्वानके भीतर सहानुभूतिसे भरा-सा आता हुआ हृदय नहीं है तो वह विद्वत्ता साहित्यकी दृष्टिसे कुछ बेजान-सी चीज है।

'टेकनीक' उस ढाँचेके नियमोंका नाम है। पर ढाँचेकी जानकारीकी उपयोगिता इसीमें है कि वह सजीव मनुष्यके जीवनमें काम आये। वैसे ही 'टेकनीक' साहित्य-सृजनमें योग देनेके लिए है।

शरीर-शास्त्र-वित् हुए बिना भी जैसे प्रेमके बलसे माता-पिता बनकर शिशु-सृष्टि की जा सकती है, वैसे ही बिना 'टेकनीक' की मददके साहित्य सिरजा जा सकता है।

प्रश्न—तो चिरस्थायी साहित्य कौन-सा है?

उत्तर—शरीर और आत्माकी एकता जिसमें जितनी सिद्ध हुई है वह उतना ही चिरजीवी साहित्य है और जिसमें यदि शरीर है तो मात्र आत्माको धारण करनेके लिए है। जो साहित्य जितना ही उन भावनाओंको व्यक्त करता है जो सब देश-कालके मनुष्योंमें एक समान हैं, वह उतना ही चिरस्थायी है। ऐसा वही कर सकता है जिसने अपना अहं समष्टिमें खो दिया है। पर जो सम्पूर्णतः अशेषतः ऐसा हो, वह व्यक्ति न तो हुआ, न होगा। इससे जब हम साहित्यकी अमरताकी बात करते हैं तो वह बात एकान्तिक ही समझनी चाहिए। सबको एक दिन मिट जाना है। इसलिए चिरस्थायित्वमें तर-तमता ही हमारे कहनेका अभिप्राय हो सकता है। जिन ग्रन्थोंमें युगयुगानुमोदित जातीय आदर्शोंको स्वरूप मिला है, जिनमें लक्ष मानव-प्राणियोंकी आकांक्षाओंको, उनकी वेदनाओंको मूर्त्ताकार प्राप्त

हुआ है, वे ग्रन्थ उस जाति, उस देशके व्यक्तियोंके मनोंमें गहरे घुसकर पैठ जाते हैं। वे फिर उनके जीवनसे कठिनाईसे अलग किये जा सकते हैं। महाभारत और रामायणको भारतवर्षके प्राणोंमेंसे खींचकर अलहदा कर सकनेकी कोई कल्पना कर सकता है? ये ग्रन्थ अमुक व्यक्तिने अमुक स्थानपर बैठ कर नहीं लिख दिये। ये तो भारतवर्षके पूर्वजोंमें श्रुति-स्मृतिद्वारा गहरे अंकित होते गये और प्राणोंमें बस गये।

साहित्य और नीति

प्रश्न—साहित्यमें मदिराको स्थान होना चाहिए या नहीं?

उत्तर—साहित्य कोई किसीका मकान तो है नहीं कि उसमें रहनेवाला चुनचुनकर अमुक वस्तुको आने दे या अमुकको निकाल दे। मेरे मकानमें मेरी रुचि व्यक्त होगी, दूसरेके मकानमें दूसरेकी रुचि व्यक्त होगी। साहित्य किसीके भी एक मकानका नाम नहीं है। फिर एक और विचारणीय बात है। साहित्यका स्थल कागज़ है—कागज़पर वह लिखा जाता है, या छापकर संग्रह किया जाता है। जब कि उसका स्थूल स्थान कागज़ है तब मूल स्थान हृदय है। अब मैं समझना चाहूँगा कि आपकी मदिरा क्या चीज़ है? मदिरा क्या वह जो जरा लाल होती है और काँचके गिलासमें दी जाती है और पीते वक्त कण्ठको पकड़ती मालूम होती है? वैसी मदिरा तो आप खुद सोचिए कागज़में कैसे समा सकती है? इस लिए साहित्यमें यदि कोई मदिरा है तो वह कोई और चीज़ है। अगर यही लाल लाल कण्ठ पकड़नेवाली मदिरा है तो फिर वह साहित्य साहित्य ही कैसा है। नहीं तो अधिकतर साहित्यमें मदिरा शब्द रूपकके तौरपर आता है। मदिराका एक गुण विशेष है कि वह आपेको भुला देती है। महद्भावनाओंमें भी यह विशेषता पाई जाती है। वैसी ही किसी महद्भावनाको व्यक्त करनेके लिए अगर मदिराकी उपमाका उपयोग है, तो इसमें अन्यथा क्या है?

प्रश्न—क्या मदिराको सामने रखकर ही महद्भावना हो सकती है?

उत्तर—नहीं, अधिकांशमें महद्भावना सामनेसे हर चीज़को हटा देनेपर हो

जानकर साहित्य-रस प्राप्त करनेके लिए हमें अपनी ही मत-धारणाओंके बन्धनसे तनिक स्वाधीन होना पड़ेगा।

प्रश्न—आपने जो यह गड़बड़की बात कही, वह कैसे हो सकती है—जब कि हम कृतिकारको तो जानते न हों केवल उसकी कृति ही हमने पढ़ी हो?

उत्तर—ऐसी हालतमें तो बेशक गड़बड़ नहीं हुआ करती। किन्तु कृतिकार कब सशरीर मानव-प्राणी नहीं है? हो सकता है कि वह आपके ही कमरेमें रहनेवाला हो और एक दिन बाजारमें आपकी आँखोंके सामने पड़ जाय। अबतक रचनाओंमें आप उसके विचारोंका और भावनाओंका परिचय पाते रहे हैं। अब आप देखते हैं कि वह फटा हुआ जूता पहिन रहा है; साधारण कपड़े पहिने है या सज-धजमें है; चुप है या बोल रहा है; मूछें हैं या नहीं हैं।—इस सबका आपके मनपर अजब प्रभाव पड़ता है। आपकी सहानुभूति गरीबके साथ है तो आपको चमकदार जूता बुरा लगेगा। आप नई पसन्दके आदमी हैं, तो शायद है कि उसकी अनसँवारी मूछें आपको अच्छी न लगें। इसी तरह उसकी चाल-ढाल, कपड़े-लत्ते इन सबका अक्स आपकी धारणाओंपर पड़ेगा। और आपकी धारणाएँ उस अक्सके अमुक अंशको अच्छा और अमुकको बुरा कह छोड़ेंगीं। तब आप अक्सर देखिएगा कि कला-कृतिका कलाकार और फटे-कि-चिकने जूते और बढ़िया-कि-मामूली कपड़ेवाले उस आदमीमें बहुधा पूरी तरह साम्य नहीं हो पाता है। ऐसी दृष्टियाँ बहुत कम हैं, जो व्यक्तिको समग्रतामें देखती हों। इसी लिए मैंने वह गड़बड़की बात कही है। ऐसी गड़बड़ विलायतोंमें भी है। सभी कहीं है और सब कालोंमें थी। किसीके बदनपरका फटा कुरता भिन्न मनुष्योंपर भिन्न प्रकारका प्रभाव डालता है। इसी लिए व्यक्तियोंके अन्दाजोंमें अन्तर हुआ करता है। एक आदमीके दोस्त भी होते हैं, दुश्मन भी। अगर वह अच्छा है तो उसके दुश्मन क्यों हैं? अगर बुरा ही है, तो दोस्त कहाँसे आये? परिणाम निकला कि व्यक्तिका शुद्ध यथार्थरूप क्या है, इस तथ्यतक पहुँचना ही दुर्लभ है। इसी दृष्टिसे मैंने गड़बड़की बात कही।

प्रश्न—अच्छा तो आपने मान लिया कि साहित्यमें मदिराका स्थान है—ठीक है, मैंने भी माना। परन्तु यह तो बतलाइए कि यह जो अश्लील साहित्यकी रचना हो रही है, सो कहाँतक ठीक है? दुनियामें अच्छी घटनाएँ भी होती हैं

और बुरी बातें भी। फिर उनको प्रकट करनेमें भलाई बुराई क्यों ?—जब कि साहित्यका काम ही यही है।

उत्तर—अश्लील साहित्य अश्लील है। इसलिए उसकी रचना करना भी अश्लील है। 'अश्लील' शब्दमें ही यह ध्वनि है कि वह अच्छा नहीं है। अच्छा होता तो हम अश्लील न कह पाते। जिसको एक भी व्यक्ति अश्लील कहता है, उस साहित्यमें कुछ न कुछ खोट है।

जिस व्यक्तिका एक भी दुश्मन है, उसके व्यक्तित्वमें कुछ न कुछ खोट है। लेकिन जब आदमीको बुरा कहनेवाला कोई नहीं रहता तब आदमी मर चुका होता है। मरनेपर दुश्मन कोई नहीं रहता। इससे पहले यह स्थिति प्राप्त नहीं होती। परिणाम निकला कि व्यक्ति मरनेपर निर्दोष होता है। जीवनमें तो निर्दोषिताकी ओर बढ़ना ही होता है।

जन्म कर्म-बन्धनमेंसे होता है। वैसे ही साहित्य असमर्थतामेंसे उत्पन्न होता है। किन्तु उसकी उत्पत्तिका प्रयोजन है कि सामर्थ्य दे, जैसे कि जन्म पाकर व्यक्तिका पुरुषार्थ है कि वह मुक्तिकी ओर बढ़े।

इसलिए जिससे कोई व्यक्ति विचलित नहीं होता ऐसा पुरुष और ऐसा साहित्य निर्जीव है।

यहाँ आपको लगेगा जैसे हम चक्करमें फँस गये हैं। हाँ, वह चक्कर तो है और इसीको समझ लेना बड़ी बात है।

दुनियामें बुरा भला सब कुछ है। ईश्वर सबको देखता है, फिर भी वह अलिप्त रहता है। क्योंकि वह अलिप्त रह सकता है और रह रहा है, इसलिए उसीको सामर्थ्य प्राप्त है कि वह अनादि इतिहासके सब पाप और सब पुण्य देखता रहे। सब पाप और सब पुण्य उसमें लय हो जाते हैं।

हममें वैसी अलिप्तता नहीं है। इसलिए हम सब कुछ नहीं देख सकते। स्पर्द्धापूर्वक अगर हम अपने सामर्थ्यसे अधिक देखने जाननेका यत्न करेंगे तो हमारी आँखें फूट जायँगी और हमारा सिर फिर जायगा।

ऐसा ही सिर-फिरा साहित्य अश्लील होता है।

जहाँ स्त्रीको घृणापूर्वक (अर्थात् रसपूर्वक) वेश्या, व्यभिचारिणी आदि कहा जाता है वहाँ अवश्य अश्लीलता है चाहे वहाँ कितनी ही चतुराईसे काम लिया गया हो। घृणा अश्लील है।

जहाँ स्त्रीमें माता-भगिनीकी बुद्धि है वहाँ अश्लीलता नहीं है चाहे वहाँ शारीरिक नग्नताका जिक्र भी क्यों न आ जाय।

सूरजके प्रति धरतीका क्या अप्रकट है ? धरती है ही सूरजका भाग। इसलिए सूरज जब धरतीको अपनी धूपका दान करता है और धरती उस दानको स्वीकार कर उजली होती और खिल पड़ती है—तब क्या उसमें आसक्ति है ? तब क्या सूरज कोई मैला रस पा रहा होता है ?

इसलिए धरती तक सूरजकी किरणें उसके तमाम वस्त्रोंको भेदकर पहुँच ही जाती हैं और वह धरती पापके अगणित परमाणुओंसे आवेष्टित होकर भी सूरजकी आँखोंके आगे सदा दिग्वसना है और वैसी होकर कृतज्ञ है।

इसलिए प्रकट-अप्रकटका प्रश्न न कीजिए। बड़ा प्रश्न अनासक्तिके अधिकारका है। जहाँ प्रदर्शन है वहाँ आसक्ति है और जहाँ अनासक्ति है वहाँ प्रकटीकरण ही हो सकता है।

प्रश्न—दुनियामें हरेक तरहकी घटनाएँ होती हैं—उनमें अश्लील भी होती हैं। क्या उनको प्रकट करनेमें साहित्यको आपत्ति है ?

उत्तर—घटना, घटना होती है। अपने आपमें न वह अश्लील होती है, न शिष्ट। हमारा उस घटनाके साथ क्या नाता है, उसके प्रति क्या वृत्ति है,—अश्लीलता इसपर निर्भर करती है।

प्रश्न—किसी लेखकने यदि किसी अश्लील घटनाका हूबहू वर्णन कर दिया, तो साहित्य उसपर आपत्ति न उठायगा ?

उत्तर—मैंने कहा तो कि घटना कोई अश्लील नहीं होती और किसी घटनाका हूबहू वर्णन नहीं हो सकता। बाहरी जगत्का हमारे मनके साथ सम्बन्ध है और उस जगत्की वस्तु और घटनाओंके साथ हमारा राग-द्वेष रुचि-अरुचिका सम्बन्ध बन जाया करता है। जैसा मैंने कहा—बहुत कुछ अथवा सब कुछ उस सम्बन्धपर अवलम्बित है, जो वस्तु-जगत्के साथ लेखक अपना लेता है। इस तरह दो व्यक्ति कभी एक घटनाका एक तरह वर्णन नहीं कर सकते। दावा दोनों कर सकते हैं कि उनका वर्णन हूबहू है, पर ऐसा हो नहीं सकता। साहित्यमें तो ऐसा है ही नहीं। हाँ विज्ञानमें, थोड़ा बहुत है। पर विज्ञानमें अश्लीलताका प्रश्न ही नहीं उठता।

साहित्य और धर्म

प्रश्न—साहित्यमें धर्मका क्या स्थान है ?

उत्तर—'साहित्यमें धर्मका क्या स्थान है ?' के स्थानपर प्रश्न यों कर दिया जाय कि 'धर्ममें साहित्यका क्या स्थान है ?' तो मुझे अधिक उपयुक्त जान पड़े। हम सबको, जो भी है उस सभी कुछको, जो धारण किये हुए है—वह अतीन्द्रिय तत्त्व है, धर्म। साहित्य मानवकी उन अनुभूतियोंका संग्रह है जो शब्दोंमें, भाषामें, व्यक्त हुई हैं। मैं समझता हूँ धर्मसे आपका तात्पर्य किसी मत-वादसे नहीं है—जैसे हिन्दू-धर्म, बौद्ध-धर्म, इस्लाम-धर्म आदि। ऐसे मत-वादोंसे साहित्यका संबंध बेशक नहीं है। पर मूलभूत धर्मको तो साहित्य पोषण ही देता है।

प्रश्न—अच्छा तो हिन्दू-धर्ममें साहित्य कौन-सा है ?

उत्तर—हिन्दू-धर्ममें कौन-सा साहित्य है, इस प्रश्नका ठीक ठीक आशय मैं नहीं पकड़ सका। हिन्दू लोग जिन्हें आगम-प्रमाण मानते हैं ऐसे ग्रन्थ उनका पहला साहित्य है। फिर कुछ वह ग्रन्थ आते हैं जिनमें व्यावहारिक जीवनके नियमनके लिए विधि-निषेधोंका प्रतिपादन है। वे हैं आचार-ग्रन्थ। उनसे उतरकर तरह-तरहके ज्ञान-विज्ञानके ग्रंथ हैं। क्या आप यह चाहते हैं कि उन सबके नाम यहाँ गिनाये जायँ ? मेरे ख्यालमें इतना जान लेना काफी है कि एक हिन्दू, हिन्दू होनेसे भी पहले आदमी है। इससे हिन्दू समाजके जीवनमें विविध प्रकारका वैसा सब साहित्य मिलेगा जैसा इतर जन-समाजोंके जीवनमें मिलता है। अत्यन्त गंभीर और प्राथमिक तत्त्वोंकी जिसमें गवेषणा होती है वह साहित्य धार्मिक हो जाता है। उसकी अवस्था भी अधिक होती है, उसमें स्थायित्व भी अधिक होता है। इससे उतरकर केवल मनोरंजन और व्यसनका साहित्य भी होता है। मनुष्यकी उत्तरोत्तर उच्च वृत्तियोंको जो जितनी ही स्फूर्ति दे, वह साहित्य उतना ही श्रेष्ठ माना जाना चाहिए। वह श्रेष्ठता एक विशेष स्थलपर आकर धार्मिकता हो ही जाती है।

प्रश्न—क्या इन मत-वादोंका साहित्य भी कोई अलग होता है ?

उत्तर—हाँ, होता ही है। सत्य यद्यपि एक है पर हमारी बुद्धियाँ अलग अलग हैं। मनुष्य काल-परिमाणसे घिरा है। इससे वह सत्यका आंशिक आकलन ही कर पाता है। परिस्थितियोंके अनुसार उस आकलनके रूपोंमें भी विभिन्नता होती है। यही धर्मोंकी अनेकताका कारण है। ऐसा भी लगेगा कि उनमें विरोध भी कहीं कहीं है। पर विरोध असल आत्माका नहीं है। वह दीखने-भरका है। गहराईमें जाकर तो सबके प्राणोंमें करुणा ही है।

प्रश्न—किसी एक सम्प्रदायको उत्तेजना देनेवाले साहित्यको आप क्या कहेंगे ?

उत्तर—मेरा जी होता है कि मैं उसे साहित्य ही न कहूँ। पर मैं डिक्टेटर तो हूँ नहीं। एक और भी बात है। दुर्बल प्रकृतियोंको उत्तेजना चाहिए ही चाहिए। उनमें जागृति होती है तो वासनाको लेकर। अन्यथा जड़ता ही उनपर छाई रहती है। तमाशा तो आज यही है कि अच्छे अच्छे सिद्धान्तोंके नामपर बुरे आदमी बुरे बननेका मौका पा लेते हैं। आप तो जानते हैं कि धर्मके नामपर कितनी लड़ाइयाँ लड़ी गई हैं। आमने सामने दो भाई एक दूसरेका गला काटनेको चलते हैं और उनमेंसे एक आदमी ज़ोरसे चिल्लाता है 'परमेश्वर' और दूसरा चिल्लाता है, 'अल्लाहो-अकबर'। 'अल्लाह' और 'परमात्मा' क्या दो हैं ? पर ये दोनों आदमी एक ही ईश्वरको याद करते हुए, एक दूसरेके खूनके प्यासे हो जाते हैं। इस आदमीके मनके पागलपनको देखकर हमको अधीर नहीं हो जाना होगा। आदमीकी लड़ाईमें परमात्माका कसूर नहीं है। परमात्मा शब्द डिक्शनरी (कोष) मेंसे मिटा दीजिएगा तो लड़ाई मिट जायगी, ऐसा मुझे नहीं मालूम होता। मनुष्यके मनमें लड़ाईकी जड़ जहाँ है वहाँ परमात्मा तो है ही नहीं। वहाँ तो मनुष्यकी ही क्षुद्रता है। उस क्षुद्रताकी जड़ें जब तक वहाँसे नहीं उखड़ेंगी, तब तक अच्छे शब्द बुरे काममें आते रहेंगे। सम्प्रदायान्धोंको अच्छे धार्मिक ग्रंथोंमेंसे भी उत्तेजनाका मसाला प्राप्त हो जाता है, यह मैं जानता हूँ। इसी लिए मैंने ऊपरकी बातें कहीं। जो संकीर्ण साम्प्रदायिकताको भड़काता है और जो उसका शिकार होता है उन दोनोंके मनोंमेंसे बद्ध-मूल क्षुद्रता उखड़ गई है, ऐसा नहीं मानना चाहिए। धार्मिक साहित्यका जन्म क्षुद्रतामेंसे नहीं होता है। वह तो प्रेमके उत्समेंसे ही खिलता है। मेरी चले तो

मानसिक संकीर्णताका विष फैलानेवाली पुस्तकोंका प्रचार ही मैं निषिद्ध ठहरा दूँ। उनसे समाजका बड़ा अकल्याण होता है।

प्रश्न—मुग़ल-कालमें राजपूतोंको उत्साह दिलानेके लिए उस समयके कवियोंने जो साहित्य रचा—वह भी क्या आपकी ऊपर कही गई व्याख्यामें आ जाता है?

उत्तर—इस प्रश्नमें एक भूल मालूम होती है। उपयोगिताकी दृष्टिसे आपके लिए उपयोगी वस्तु वही हो सकती है, जो कल या परसों अनुपयोगी हो जाय। जिसमें अनुपयोगी होनेका सामर्थ्य नहीं वह वस्तु उपयोगी ही नहीं। जिसने शूरता और बलिदानका ओज-दान किया वह साहित्य निर्जीव नहीं रहा होगा। उसकी सजीवता असंदिग्ध है। किन्तु यदि उसके साथ यह भी मिलता हो कि यवनको मारो और आज उस 'यवन' शब्दकी ध्वनिमें एक विशिष्ट जातिका बोध समाविष्ट रहता है तो कहना होगा कि वह अंश ग़लत है। आज वह ओज-संचारी भी नहीं हो सकता। अमुकको विरोधमें रखकर यदि हम अपने भीतर शक्ति पाते हैं, तो वह शक्ति नहीं है, वैर है। साहित्य प्रेमोत्सर्गकी शक्ति देता है। द्वेष और घृणाकी शक्ति देनेवाला उतने ही अंशमें असाहित्य है। तबकी परिस्थितियोंमें विशिष्ट रूपसे उपयोगी पड़नेवाले साहित्यका हक़ है कि वह आजके लिए अनुपयोगी हो जाय। उस ज़मानेका बहुत-सा साहित्य हमारे बढ़ते हुए जीवनका अब भी साथ नहीं दे पा रहा है और छूटता जा रहा है।

प्रश्न—तो क्या आपका मतलब यह है कि उस समयके साहित्यको निकाल दिया जाय? यदि यही मतलब हो तो भूषणादि कवियोंकी बहुत-सी कविताएँ निकल जायँगी।

उत्तर—यह मतलब तो कैसे हो सकता है कि एक झाड़ूसे सबको साफ़ कर दिया जाय। हाँ, यह तो ठीक ही है कि पुराना सब कुछ जीवनकी गतिके साथ-साथ निभ नहीं सकता। निकाल देनेकी बात तो शासन-प्राप्त लोग करें। मैं तो यही कहने योग्य हूँ कि जो लेने और पाने योग्य है उसको लेने और पानेमें, जो छूटने योग्य है वह स्वयंमेव छूट जायगा। आज अगर हिन्दीमें भी भूषणसे अधिक रवीन्द्र पढ़े जाते हैं तो क्या मैं इसको भूषणका अपमान समझूँ? दिन आ सकता है कि रवीन्द्र भी एक दिन न पढ़े जायँ। लेकिन इन बातोंमें मानापमानका प्रश्न ही कहाँसे उठता है? यदि आज, आज ही रातके बारह बजे खत्म हो जायगा, कलके दिन बिल्कुल शेष न रहेगा, तो क्या किसी

प्रकार भी यह इस आजके 'आज' की अवगणना है? ऐसा नहीं है। 'आज' का तो अर्थ ही यह है कि वह कल न रहेगा और यह उस 'आज' को भी मालूम होना चाहिए। उसके पक्षमें यह दावा पेश करना कि नहीं, इस आजके 'आज' को हम तो सनातन तत्त्वकी भाँति सदा कायम रक्खेंगे—यह दावा पहलेसे ही अपने आपमें हारा हुआ है। भूषण आदिके ग्रंथ मैंने समीक्षा-बुद्धिपूर्वक नहीं देखे हैं। वस्तुतः देखे ही नहीं हैं। बस जहाँ-तहाँ कुछ देखा है। उनके किस अंशको रखकर किस अंशको अपने साथसे छूटने देना है, यह तो किसी हिन्दीके ज्ञाता विद्वानसे पूछनेकी बात है।

प्रश्न—तो आप शायद शिवा-बावनीको उड़ा देनेके पक्षमें हैं?

उत्तर—मैंने कहा न, इस बारेमें कुछ कहनेका मैं अधिकारी नहीं हूँ। मोह-पूर्वक न मुझे कुछ रखना है न निकालना है। इस प्रश्नका निर्णय निर्मोही वृत्तिसे जो हो कर लेना चाहिए।

साहित्य-सेवीका अहंभाव

प्रश्न—हम साहित्य-सेवी कैसे बन सकते हैं?

उत्तर—अच्छी बातोंके सोचने और फिर उन अच्छी बातोंके लिखनेसे। अपनेको औरोंमें खोने और दूसरोंको अपनेमें पानेसे। प्रेमकी साधनासे और अहंकारके नाशसे।

प्रश्न—लेकिन साहित्यकोंमें तो अहंभाव कुछ विशेष ही पाया जाता है!

उत्तर—यह तो मैं मान लूँगा कि लेख आदि लिखनेवालोंमें अहंभाव हुआ करता है। उसकी पहली वजह यह है कि वे अपनेको पाना चाहते हैं। वे दुनियाके प्रार्थी होकर नहीं जीना चाहते, खुद होकर जीना चाहते हैं। जो बनी हुई मान्यतायें हैं, वे ही उनको मान्य नहीं होतीं। वे उन्हें स्वयं बनानेका कष्ट उठाना चाहते हैं। जबतक उनकी वे मान्यतायें बनती रहती हैं, तबतक लगभग आवश्यक ही है कि वे न झुकनेकी चिन्ता रक्खें। जो सत्य पा लिया गया है, उतनेहीसे उनकी पूर्ति नहीं होती अथवा कहो वे अपनी निजकी साधनाद्वारा भी उसे अपने दिलके भीतर पाना चाहते हैं। वे

गहरेमें आप ही डुबकी लगाना चाहते हैं। इस प्रकार दुनियासे उनकी सहज अनबन-सी रहती है। उनकी भावनायें ज्यादा धारदार हो चलती हैं। छोटी बात भी उन्हें बड़ी लगती है। स्पष्ट है कि ऐसा व्यक्ति व्यावहारिक पुरुषकी तुलनामें कुछ कम सहिष्णु दीख पड़ेगा। किंतु ऐसा इच्छापूर्वक नहीं होता। मानो लेखन-प्राण व्यक्ति इस दुनियाके संघर्षमें अपनेको खोना नहीं चाहता। उसमें अपने व्यक्तित्वको अखंडित रखनेकी चिन्ता जग जाती है। इसलिए अहंकारपूर्वक वह अपनेको कायम रखता हुआ दीखता है। पर यह सब ऊपरकी बातें हैं। और जब तक साहित्यिक व्यक्ति वास्तवमें साहित्यिक बननेकी तैयारीमें रहता है, तब तककी यह बातें हैं। न तो असलमें वह भीतरसे अहंकारी है, और न अपनी मान्यताओंको स्पष्ट और दृढ़ बना लेनेके बाद उसमें अहम्‌का लेश दीख पड़ता है। हाँ, उसके चलनका नियम उसके भीतर ही रहता है। सामाजिक नीतिके कोड (कानून)के अनुसार वह नहीं भी चलता दीखता है।

आप एक बात देखिएगा। जो होनहार बालक दीखते हैं, उनमें अहम् जल्दी पैदा हो जाता है। यह है तो बुरा ही, पर किसी भलाईको भी सूचित करता है। वह अहम् इसलिए नहीं है कि भीतर गड़ जाय। वह तो मात्र इतनेके ही लिए है कि व्यक्तित्व संचित होता चले। समर्थ व्यक्तित्व ही व्यापक स्नेहको धारण करनेमें समर्थ होता है।

अतः एक अहम् वह भी है, जो श्रद्धामेंसे बनता है, और स्नेहसे पलता है। वह अहंकार नहीं होता, वह मात्र बहावमें न बहनेके संकल्पकी द्योतक दृढ़ता है।

पर यदि दम्भपूर्ण अहम् दिखलाई देता है, तो आप समझ लीजिए कि वहाँ साहित्यिक श्रद्धाका अभाव है। मैं मानता हूँ कि लेखकोंमें सब देश और कालमें, ऐसे लोग थोड़े नहीं होते। किंतु यह भी आप मान लीजिए कि दर्पके मूलमें सदा न्यूनता होती है। कुछ त्रुटि है तभी मनको हठात् फुलाकर उसको भरनेकी यह प्रक्रिया है। भरा हुआ मनुष्य फलोंसे लदे वृक्ष जैसा नम्र होता है; बेचारे अध-भरेको ही छलकना पड़ता है।

कहानी क्या ?

प्रश्न---हम कहानी क्यों लिखते हैं ?

उत्तर—वह तो एक भूख है जो निरंतर समाधान पानेकी कोशिश करते रहती है। हमारे अपने सवाल होते हैं, शँकाएँ होती हैं, चिन्ताएँ होती हैं और हमीं उनका उत्तर, उनका समाधान खोजनेका, पानेका, सतत प्रयत्न करती रहते हैं। हमारे प्रयोग होते रहते हैं। उदाहरणों और मिसालोंकी खोज होती रहती है। कहानी उस खोजके प्रयत्नका एक उदाहरण है। वह एक निश्चित उत्तर ही नहीं दे देती, पर यह अलबत्ता कहती है कि शायद उत्तर इस रास्तेसे मिले। वह सूचक होती है, कुछ सुझा देती है, और पाठक अपनी चिन्तन-क्रियाके सहारे उस सूझको ले लेते हैं।

प्रश्न—टेकनीकके विषयमें आपका क्या ख़याल है ?

उत्तर—' टेकनीक तो होती भी है और नहीं भी होती। वह तो अपने आप ही जन्म लेती है। उसके लिए कोई खास प्रयत्न नहीं करना पड़ता। कहानी-लेखक किसी घटनाको, सत्यको या भावको अनुभव करता है और सहसा उसे पकड़ लेता है—वह उसके मनमें पैठ जाता है। बस, इसी बिन्दुसे कहानी शुरू हुई और अपने आप ही बढ़ती गई। जहाँ खतम होना है वहाँ खतम हो गई।...जहाँ उसे रोका टेकनीक बिगड़ गई।...उस समय तो हमें अपनी कलमका नेतृत्व एकदम मान लेना चाहिए। वह जहाँ ले जाय आँख मूँदें चल देना चाहिए। यदि हमारी अनुभूति सत्य है तो हम निस्संदेह सही रास्तेपर जायँगे।

प्रश्न—पश्चिमी कहानियोंके विषयमें आपकी क्या सम्मति है ?

उत्तर—' रूसी कहानीमें जोर है, भावना है, उत्सुकता है, जान है, Passion है और खूब है लेकिन व्यक्तीकरणकी Felicity नहीं है, प्रमोद नहीं है, आनन्द नहीं है। रूसी कहानीमें ध्येय भी होता है। लेकिन उसका तरीक़ा मनोरम नहीं है। फ्रेंच कहानीमें बात ठीक इससे उलटी है। वहाँ प्रकट करनेका तरीक़ा बहुत ही सुन्दर, सुहावना है; हम उसके साथ बह जाते हैं पर कहाँ बह रहे हैं

नहीं जानते, क्योंकि उनका कोई हेतु नहीं। वे न जाने क्यों लिखते हैं। बस लिखते हैं इसलिए लिखते हैं। रूसी कहानीकी ताक़त फ्रेंच कहानीमें नहीं है। ...सब कुछ कह सुन लेनेके बाद रूसी कहानी अपने ढँगकी एक है, यह मानना ही होगा।

(श्री अनन्त गोपाल शेवडेकी १७-७-३६ के साप्ताहिक अर्जुनमें प्रकाशित 'जैनेन्द्रसे भेंट'के कुछ अंश।)

विविध प्रश्नोंका समाधान

प्रश्न—अच्छा क्या और बुरा क्या, इसका निर्णायक कौन है? व्यक्ति या समाज? और वह निर्णायक कोई भी हो, उसके अच्छे-बुरेकी सीमाएँ (=Limits) कैसे निश्चित करें?

उत्तर—अच्छा क्या है और बुरा क्या है, इसका निर्णायक व्यक्ति ही हो सकता है। क्योंकि प्रश्न यह व्यक्तिका है।

समाजमें जब अच्छे-बुरेकी शंका गहरी हो जाती है तब उथल-पुथल देखनेमें आती है जिसको राजनीतिक क्रान्ति कहा करते हैं। मामूली तौरपर वह शंका समाज-व्यापी नहीं होती, व्यक्ति-गत या कुछ व्यक्तियोंके समूह तक परिमित होती है।

समाजके अच्छे-बुरेकी निर्धारित मर्यादा तात्कालिक और तद्देशीय आईनके दंड-विधान (=Penal Code) में देखी जा सकती हैं। दंड-विधानकी धाराएँ उस अच्छे बुरेकी निषेधात्मक सीमा-रेखाएँ हैं। इस लिए अच्छा क्या और बुरा क्या, यह प्रश्न व्यक्ति ही उठाता है। वह उसमें उसके भीतरसे पैदा होता है, अतः स्वयं ही उसे निर्णायक होना पड़ेगा।

जब यह व्यक्तिका प्रश्न है तो अर्थ हुआ कि मैं ही सिर्फ़ अपने अच्छे-बुरेको जान सकता हूँ और कह सकता हूँ। तुम्हारे अच्छे-बुरेको जानने और कहनेका दावा मैं नहीं कर सकता।

व्यक्ति अपना निर्णायक है—इसका मतलब ही यह होता है कि मैं या और कोई हरेकका निर्णायक न बने।

लेकिन इसके आगे एक बात न भूली जाय। वह यह कि यदि व्यक्ति अकेला हो तो उसमें कोई प्रश्न नहीं उठ सकता। प्रश्न संभव ही तभी है जब वह निरा एक नहीं है, कइयोंके बीचमें एक है, यानी जन-समाजमें है।

इस लिए व्यक्तिके अपने प्रश्न, उसके सब प्रश्न, समाजकी अपेक्षामें सुलझेंगे और खुलेंगे। समाज कसौटी है जिसपर व्यक्तिके सब समाधानोंकी परख होगी।

इस भाँति, तुमने देखा न, कि 'अच्छा क्या और बुरा क्या' यह प्रश्न मुझसे टल गया है। टलकर वह सबके अपने अपने पास पहुँच गया है।

अब उसकी लिमिट। स्पष्ट है कि उसकी लिमिट अब भी खिंची खिंचाई है। उसे खोजने कहीं भी जाना नहीं है। वह लिमिट हमारा पिनल कोड (दण्ड-विधान) है।

हम हत्या करेंगे तो जेल पायेंगे। चोरी करेंगे तो जेल तैयार है। इस मामलेमें प्रश्न यह होता ही नहीं कि किन भावनाओंसे हम यह काम करते हैं। वे काम ही हमारे अच्छे-बुरेकी हदपर बैठे लाल लाल सिग्नल हैं।

लेकिन मेरे अपने लिए तो भावनाका ही पहला और आखिरी प्रश्न है। अर्थात्, व्यक्तिका दृष्टि-कोण आवश्यक रूपमें इससे भिन्न होता है।

इस दृष्टिसे व्यक्ति-कर्त्तव्य और समाजकी पुण्य-परिभाषामें अक्सर संघर्ष और कभी विरोध भी हो जाता है।

इस संघर्षकी चरमावस्थाका दृष्टान्त है—शहीद। शहीद अनिवार्य्यतया पवित्र व्यक्ति होता है। लेकिन तात्कालिक समाजकी दृष्टिसे वह असामाजिक व्यक्ति भी होता है। समाज उसे दंड देकर उससे छुटकारा पाता है। पर हठात् वही व्यक्ति लोगोंके जीमें बस जाता है और अवतार तक माना जा सकता है।

इस लिए लिमिटकी बात करोगे तो पिनल कोडकी धारा-सीमाओंसे अलग मैं और कोई लिमिटकी बात नहीं कर सकता।

पर वे लिमिट्स या सीमाएँ अंतिम नहीं हैं। अवतार और शहीद अपने जीवनद्वारा ज्वलंतरूपमें इसीको प्रमाणित करने आते, और उन सीमाओंको और भी आगे किस दिशामें बढ़ना चाहिए, यह दिखाकर चले जाते हैं।

प्रश्न—सुख-दुख क्या है? क्या सिर्फ कल्पना, यानी अपनी मानी हुई

चीज़ ? या इससे अधिक भी वे कुछ हैं ? नापसन्दको आदमी पसंदमें किस प्रकार परिवर्त्तित करे ? पाया गया है कि हरेक श्रेय प्रेय नहीं होता। इसीसे इस तरहके श्रेयको पसन्द (प्रेय) बनाना क्या ज़रूरी है ?

उत्तर——सुख-दुखको सिर्फ कल्पना नहीं कहा जा सकता। कल्पनाएँ जहाँसे उपजती-उगती हैं, सुख-दुख उन जड़ोंको ही भिगो देते हैं। सिर्फ कल्पनाओंके बलपर सुख या दुखसे बचना नहीं होता। और उनसे बचना सिद्धि भी तो नहीं है। असल सिद्धि तो उनपर काबू पाना है, उन्हें पचा जाना है।

इस लिए मैं तुम्हें कहूँ कि सुख-दुखसे सच्ची छुट्टी तो कविता लिखकर, चित्र खींचकर या कुछ गाकर भी नहीं मिलती। थोड़े-बहुत अंशोंमें ये सब कला-व्यापार उनसे बचनेकी प्रक्रियाएँ हैं, उनपर काबू पानेके सच्चे उपाय नहीं हैं।

हरेक श्रेय प्रेय तो है ही, फिर भी यदि प्रेय नहीं मालूम होता तो समझना चाहिए कि हमारी प्रीति हमारे बसमें नहीं है। कलाकी यही राह है। वह प्रेयकी राहसे श्रेयको अपनाती है। मैं तो मानता हूँ कि श्रेयको प्रेयरूपमें भी पाना जरूरी है। ऐसा नहीं होगा तो हमें नीरस कायिक तपस्याके सिद्धान्त तक पहुँचना पड़ेगा। और वह सिद्धान्त तो मुक्ति-कारक नहीं ही है, प्रत्युत अनर्थ-कारक हो सकता है।

प्रश्नमें यह भी है कि नापसंदको पसंदमें किस तरह परिवर्त्तित करें। किन्तु यह तो प्रश्नमें ही गर्भित है कि वह नापसंद हमें पूरी आत्मासे नापसंद नहीं है, नहीं तो उसे पसंदमें परिवर्त्तित करनेका सवाल ही कहाँसे उठता ? इसलिए मैं कह सकता हूँ कि इस भाँति जो आंशिक रूपमें नापसंद है वह इस योग्य ही नहीं है कि उसे नापसंद किया भी जाय। अर्थात् हम उसको समझेंगे तो नापसंद करना छोड़ देंगे।

लेकिन प्रश्नमें ध्वनि ऐसी मिलती है कि साहब, नीमके पत्ते हमारे लिए बड़े हितकारी हैं पर लगते कड़ुए हैं। इच्छा तो हमारी है कि वे पसंद आने लगें; पर मुँहमें चलते ही नहीं, बेहद बुरे मालूम होते हैं। अब बताइए, क्या करें।

इसके जवाबमें मैं कहूँगा कि उनके स्वादमें बुरे लगनेकी परवाह न करो। बहुत कड़ुवा मुँह हो जाय, तो पीछेसे मिसरी खा लेना। अगर तुम्हारे मनमें पक्का हो गया है कि नीमके पत्ते तुम्हें फायदा ही करेंगे, तो उन्हें छोड़नेकी

बात मुझसे आप सुनोगे भी नहीं। तब यह भी निश्चय है कि एक दिन अवश्य ऐसा आयेगा कि उनकी कड़ुवाहट तुम्हें बिल्कुल नहीं सतायेगी। अर्थात् श्रेय, यदि पूरे मनसे उसमें श्रेय-ता दीखती है तो, एक दिन प्रेय होकर ही रहेगा। इस प्रतीतिमें बीचकी बाधाओंको धैर्यके साथ लाँघते चलना होगा।

प्रश्न—देश और कालके अनुबंध ही क्या संस्कृति कहलाते हैं? क्या आदमी इससे उबर सकता है? इससे ऊपर भी क्या उसकी सत्ता है? है तो वह कहाँ है?

उत्तर—यहाँ अनुबंध शब्दके भावको मैं ठीक तरह ग्रहण नहीं कर सका। देश और कालमें व्यक्ति व्यक्त अवश्य है, लेकिन यह समझना भूल है कि वह उनसे परिबद्ध है। चित्र चौखटेमें जड़ा होता है, लेकिन वह क्या चौखटेसे घिरा हुआ है? क्या वह वहाँ बंद है? ऐसा कहना तो चित्रकी सचाईका अपमान करना है और चौखटेकी लकड़ीको सब कुछ मान लेना है। चित्रके लिए चौखटा है, उसके बीचमें यदि चित्र न हो, तो चौखटा चूल्हेके काम भी आ सकता है और यह तो स्पष्ट है ही कि चौखटेके बिना भी चित्रका जीवन खतरेसे ख़ाली नहीं है।

आशय यह कि मिनट-मिनटद्वारा बीतनेवाला काल और इंच-इंचद्वारा नपनेवाला देश हमारी चेतना और स्थितिकी परिभाषा हैं, परिमाण नहीं। यों तो दरअसल हम शाश्वतमें ही साँस लेते हैं और समग्रका ही स्पर्श पाते हैं।

आदमी देश और कालमें जीता है—इसका असली अर्थ यह है कि वह देश और कालद्वारा अपने अन्तस्थ आनंदका उपभोग करता हुआ उत्तरोत्तर शाश्वतकी ओर बढ़ता है।

प्रश्न—Behaviour (=व्यवहार या आचरण) से आदमीके निर्णय करनेका जो तरीक़ा मनोवैज्ञानिकोंने खोजा है, वह क्या Hasty (=जल्दबाजीका) नहीं है? एक ओरसे यों भी कहा जा सकता है कि आदमी सिर्फ़ बिहेविअर ही तो पकड़ पाता है और वह क्या जाने? क्या यह बात मानी जाय?

उत्तर—बिहेविअरसे निर्णय करनेके मनोविज्ञान-शास्त्रियोंके तरीक़ेको जल्दबाजीका तो मैं नहीं कहूँगा। शायद वह धीमा है। बेशक वह अपूर्ण है। लेकिन तरीक़के दृष्टि-कोणसे दूसरा और तरीक़ा शास्त्रीय ढंगसे संभव भी कहाँ हो सकता है? सब तरीक़ोंको आब्जेक्टिव (=पर-निष्ठ) दृष्टि-कोणसे चलना होगा। ऐसे न चलेंगे तो System (=तरीक़ा) भी वे न बन पायेंगे। जिसको प्रतिभा कहा जाता है, उसीको सर्व-सुलभ शास्त्रका रूप देना है कि नहीं?

इसी पद्धतिमें अनुभूति-मय ज्ञानको पदार्थ-मय विज्ञान बनना पड़ता है। इसमें वस्तुकी वास्तव सच्चाई कुछ कम अवश्य होती है, लेकिन उपाय भी और कुछ नहीं है। बिहेविअरकी राहसे पकड़ते-पकड़ते भी आदमीको नहीं पकड़ा जा सकेगा—यही तुम कहते हो न? मैं माने लेता हूँ। लेकिन, ऐसा, कौन-सा उपाय है जिससे भीतरका असली आदमी पूरी तरह पकड़ा जा सके? मैं मानता हूँ वैसा कोई शास्त्रीय उपाय न है, न था, न होगा।

हाँ एक अमोघ उपाय है और वह सर्व-सुलभ है। उसका नाम है, प्रेम। लेकिन प्रेम शास्त्रीय कहाँ है?

अतः वैज्ञानिक तरीक़ोंकी अपूर्णताको जानकर भी उन तरीक़ोंके प्रयोग और उपयोगसे अपनेको वंचित नहीं करना चाहिए।

प्रश्न—क्या प्रेम घृणाके विना संपूर्ण नहीं है? हरेक प्रेमके साथ जो घृण लगी रहती है वह क्या अवश्यंभावी है? मानवी प्रेमकी चरम सीमा क्या होगी? तब क्या वह और दैहिक वृत्तियोंसे छूट सकेगा?

उत्तर—मानव-प्रेमके साथ जो घृणा चलती है वह एक प्रकारसे वृत्तको पूरा करनेके लिए है। बिना Circuit (=वृत्त) पूरा हुए बिजली कहाँ चलती है। हाँ, व्यक्तिको साधारणतया जो प्रेम प्राप्त है उसके साथ अप्रेम अवश्यंभावी है। इस बातको हम अपने सामाजिक नातोंमें अत्यन्त स्पष्टतासे चीन्ह सकते हैं। मेरा पुत्र कहकर मैं आवश्यकरूपमें शेष और पुत्रोंको अनजाने भी अपनेसे पराया बना देता हूँ। अपने पुत्रके प्रति रागकी अतिशयता शेष पुत्रोंके प्रति द्वेष-रूप हो जाती है। राग-द्वेष यह अभिन्न जोड़ी है—जहाँ एक है वहाँ दूसरा भी है। इस लिए वह प्रेम जिसे भरनेके लिए घृणा आवश्यक है, कहना होता है कि शुद्ध प्रेम नहीं। शुद्ध प्रेम वह है जिसे अपनेसे अतिरिक्त किसी और अवलंबनकी आवश्यकता न हो। किंतु मानव-प्रेम शत-प्रतिशत वैसा शुद्ध हो नहीं सकता। वैसा शुद्ध प्रेम सत्यकी भाँति आदर्श है, अतः अप्राप्य है; किंतु आदर्श है, इस लिए हमें उसीको सामने रखना है। जिसमें मोह जितना ही कम है, घृणा-वासना जितनी ही कम है, वह उतना ही श्रेष्ठतर प्रेम है। श्रेष्ठतर कहनेमें यह आ ही जाता है कि वह अधिक व्यापक है।

संकीर्ण संकुचित प्रेम एक हदसे नीचे जाकर पाशविक और घृण्य हो जाता है। वही उत्तरोत्तर व्यापक होकर दैवी कहलाता है।

प्रेमकी चरम-सीमा वहाँ है जहाँ व्यक्ति तन्मय हो जाता है। ऐसी अवस्थामें व्यक्ति प्रेम करता नहीं है, स्वयं प्रेम होता है। ऐसी स्थितिमें मनुष्यमें प्रेम नहीं होता, प्रेममें मनुष्य होता है। निस्सन्देह तब वह प्रेम और दैहिक वृत्तियोंसे छूट जाता है—दैहिक वृत्तियाँ प्रेमको स्थूल-रूप देकर एक प्रकारसे परिमाणमें बाँधती हैं। पर प्रेम वास्तवमें मुक्त है, निर्बंध है।

स्पष्ट है कि ऐसा प्रेम दो मानवोंके बीचका पारस्परिक प्रेम नहीं हो सकता ? यह तो ब्रह्म-प्रेम सत्य-प्रेम ही हो सकता है।

प्रश्न—शान्ति-प्रस्थापन (व्यक्ति, समाज, राष्ट्र, विश्व सभीमें) कैसे संभव है। क्या कलह-वृत्तिका नाश भी मानवमेंसे कभी हो सकता है ? यदि नहीं तो क्यों न कहा जाय कि शान्ति प्रस्थापनकी सब बातें बातें हैं, व्यर्थ हैं, लभ्य इनसे कुछ न होगा ?

उत्तर—पहली बात तो यह कि मैं मानता हूँ, शान्ति-प्रस्थापन संभव है। संभव ही नहीं, अनिवार्य है। उसको लक्ष्यकी भाँति आगे रखकर ही जीनेमें कुछ अर्थ है, नहीं तो जीवन व्यर्थ है।

वह शान्ति-प्रस्थापन कैसे संभव है, यह प्रश्न बहुत बड़ा है। अगर आज ही यह सुलझ जाय तो मैं या आप जिंदगीके बाकी दिन किस बातको लेकर गुज़ारें ? इस लिए इस प्रश्नको तो फार्मूलेसे नहीं, जीवनके ज़ोरसे सुलझाना होगा।

वह शान्ति-प्रस्थापन कैसे संभव है, इसके लिए एक गुरुमंत्र हाथ लगा है। वह मंत्र यह है कि शान्तिकी प्रस्थापना मैं अपने भीतरसे आरंभ कर दूँ। (Let every one begin with himself.) अपनी वृत्तियोंमें सामंजस्य, ऐक्यका प्रस्थापन मैं कर सकता हूँ और मुझे करना चाहिए। समाज, राष्ट्र और विश्व सभीके शान्ति-प्रस्थापनमें एकका यही सबसे बड़ा योग-दान हो सकता है।

कलह-वृत्तिका नाश मानवमेंसे संपूर्णतया हो सकता है, ऐसा मेरा विश्वास है। यह विश्वासका ही प्रश्न है। मानवको पशुतुल्य देखकर भी यह विश्वास अडिग बना हुआ है। क्योंकि मानव पशु-तुल्य ही हो सकता है, पशु नहीं हो सकता। इस पशु-तुल्य और पशुताके बीचके बाल-बराबर अंतरमें ही मेरा वह विश्वास जड़ बाँधे बैठा है।

जब मैं कलह-वृत्तिका समूल नाश संभव मानता हूँ तब हाँ, एक चीज़का नाश नहीं है। वह चीज़ है युद्ध। युद्धको असंभव बना दें, तो जीवन भी असंभव ठहरता है। हम साँस लेते हैं, तो इसमें भी संघर्ष, इसमें भी हिंसा है। लेकिन इससे पहली बात खंडित नहीं होती। वह इसलिए कि जीवन अलबत्तह युद्ध-क्षेत्र है। लेकिन समूचे युद्ध-क्षेत्रको धर्म-क्षेत्र बनाया जा सकता है। मनुष्यताका त्राण इसीमें है। अर्थात् युद्ध किया जाय किन्तु धर्म-भावसे।

कर्मके क्षेत्रमें कलह-हीन वृत्ति असंभव नहीं है, ऐसा मैं मानता हूँ। और चूँकि ऐसा मैं मानता हूँ इससे शान्ति-प्रस्थापनके सतत प्रयत्नोंकी अचूक निष्फलतासे भी मुझे निराश नहीं हो जाना होगा।

प्रश्न—यह तो माना कि काम और अर्थ (=Sex and Money) को आजके जमानेने जरूरतसे ज्यादा महत्त्व दिया है; पर क्या आप कोई व्यावहारिक (=Practical) तरीके सुझा सकते हैं जिनसे उनका महत्त्व घट सके?

उत्तर—जिसको पूरे अर्थोंमें व्यावहारिक (=Practical) कहें शायद ऐसा कोई तरीक़ा इस वक्त मैं नहीं सुझा सकता। प्रैक्टिकल शब्दमें ध्वनि आती है कि उपाय संगठित हो, सांघिक हो। उस प्रकारके संघ या संगठनकी योजना पेश करनेके लिए मेरे पास नहीं है। इस प्रकारका संकल्प (=Will) उत्पन्न हो जाय तो उस आधारपर संगठन भी अवश्य हो चलेगा। मेरा काम इस संकल्पको जगानेमें सहायक होनेका ही है। संकल्प जगा कि मार्ग भी मिला रक्खा है। The Will Shall have its way.

जैसे पहले कहा, यहाँ भी अमोघ उपाय यह है कि व्यक्ति अपनेसे आरंभ करे। मैं मानता हूँ कि अब भी मानवीय व्यापारोंको हम मूलतः देखें तो उनका आधार काम और अर्थमें नहीं, किसी और ही अन्तस्थ वृत्तिमें मिलेगा। उदाहरणार्थ परिवारको ही देखिए। परिवार समाजकी इकाई है, शासन-विधान (=State) की मूल पीठिका है। परिवारमें सब लोग क्या काम और अर्थके प्रयोजनको लेकर परस्पर इकट्ठे मिले रहते हैं? माता-पुत्र, पिता-पुत्री, भाई-बहिन आदि नातोंके बीचमें इस कामार्थ-रूप प्रयोजनको मुख्य वस्तु मानना परिवारकी पवित्रताको खींचकर नरकमें ला पटकनेके समान होगा। मैं कहता हूँ कि वह कामार्थी प्रयोजनका नाता दोको एक नहीं कर सकता। अधिकसे अधिक वह दोको समझौतेके भावसे कुछ समयतक पास-पास रख सकता है। किंतु आपसमें

ऐक्य साधे बिना जगतका त्राण नहीं। इससे कामार्थमयी इच्छाओंसे ऊँचे उठे बिना काम न चलेगा।

अतः उपाय यह बना कि हम व्यक्तिशः अपने वैयक्तिक जीवनमें इस प्रकारकी संकीर्ण वृत्तियोंको लेकर आगे न बढ़ें। इन वृत्तियोंका सहसा लोप तो न होगा; लेकिन इतना हो सकता है कि उन वृत्तियोंको लेकर हम सार्वजनिक विक्षोभ पैदा न करें। अर्थात्, जब हम क्रोध लोभके वशीभूत हों, तो मानों अपने भीतर सकुचकर अपने कमरेमें अपनेको मूँद लें। अपनेसे बाहर जब हम आवें तब प्रेम-पूर्वक ही वर्त्तन करें।

दूसरे शब्दोंमें इसका यह अर्थ होता है कि यों तो हम पूरी तरह निःस्वार्थ नहीं हो सकते, पर स्वार्थको लेकर हम सीमित रहें और सेवा-भावनाको लेकर समाजमें और सार्वजनिक जीवनमें आवें। अपरिग्रह, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, ये तीन व्रत हमें इस सिद्धान्त-रक्षामें मदद देंगे।

प्रश्न—परमात्मा क्या है? क्या वह निरी कल्पनाका, बुद्धिका, हृदयक स्वनिर्मित विकार नहीं है? भयकी भावनाओंपर समस्त धर्मोंका प्रारंभ हुआ, यह बात यदि सच है तो अब सुबुद्ध मानवको पुनः उसी भयार्त आदिम ज्ञान-हीन जन्तुकी ओर मुड़ने और वैसे ही बननेका ही क्या यह परमात्म-पूजा-भाव नहीं है?

उत्तर—परमात्मा क्या है—यह पूछते हो? तो सुनो—जो है, परमात्म है। मैं हूँ? तुम हो?—तो हम दोनों जिसमें हैं वह परमात्मा है। हम दोनों जिसमें होकर दो नहीं हैं, एक हैं, वह परमात्मा है।

नहीं, परमात्मा विकार नहीं है। उसको छोड़नेसे, हाँ, शेष सब कुछ विकार हो जाता है।

विकार इस लिए भी नहीं है कि हमारी सारी कल्पना, हमारी सारी बुद्धि, हमारे सारे हृदयकी शक्तिद्वारा भी वह निर्मित नहीं हुआ। हम उसका निर्माण नहीं कर सकते। कल्पना, बुद्धि, हृदयद्वारा हम उसको ग्रहण ही कर सकते हैं। उसकी प्रतीतिको हम बनाते नहीं हैं, वह प्रतीति तो हमारे मन-बुद्धिपर हठात् छा जाती है।

जो हमारे द्वारा निर्मित है वह बेशक हमसे दूसरेके लिए और हमारे कालसे दूसरे कालके लिए विकार हो जाता है।

लेकिन ध्यान रहे कि मनुष्यों अथवा जातियोंद्वारा उनकी पूजा-भक्ति अथवा,

भय-विश्वासके संस्कारोंद्वारा, जो रूपगुणात्मक मूर्ति तैयार होती है, वह देवी-देवताओंकी मूर्ति होती है। वे देवी-देवता बनते हैं इस लिए बिगड़ते भी हैं। परमात्मा इन सबमें होकर ही इन सबसे अतीत है।

परमात्मा वह महा तत्त्व है जिसमें सब एक हैं। उसमें, उसके द्वारा, उसीके हेतुसे हम अपने देवी देवताओं अथवा मत-मतान्तरोंका निर्माण करते हैं।

हमारी ऐसी निर्मित मूर्तियोंमें, मत-धारणाओंमें जब तक और जहाँ तक परमात्म-तत्त्वकी प्रतिष्ठा है, वहीं तक वे सत्त्व है, अन्यथा वे निस्सत्त्व पाखंड हो जाती हैं।

भयकी भावनाओंपर धर्मोंका प्रारंभ हुआ, यह बात झूठ नहीं है।

लेकिन इसका मतलब यह क्यों न समझो कि भयकी भावनाओंको लेकर ही निर्भयता संपादन करनेका संकल्प आदिम मनुष्योंमें जागा ?

भय उनके मूलमें हो लेकिन निर्भयताकी वृत्ति उन धर्मोंके कलेवरको थामे हुए है। उनकी सहायतासे यदि मनुष्य निर्भीकताकी ओर, ज्योतिकी ओर, कर्मण्यताकी ओर बढ़े तो क्या यह उपादेय नहीं है ?

उस प्रकारके भयको मैं जीवनके लिए अत्यंत मंगलमय तत्त्व मानता हूँ। सच्चा ज्ञान उस भयके मूलाधारको और गहरा ही ले जाता है, उसे मेट नहीं सकता। जो मानव-व्यक्तिके चित्तमेंकी इस बहुमूल्य ईश-कातरतापर धूल डालनेकी कोशिश करता है, वह ज्ञान ज्ञान नहीं है, वह नशा है, वह अहंकार है। अपने भीतरके छद्म-ज्ञानका वह गर्व है।

ज्ञान-हीन और भयार्त बनने या बनानेकी प्रक्रियामें ही परमात्म-पूजा-भाव आता है, यह समझना भारी भूल है।

जब तक बुद्धि है तब तक व्यष्टिमें समष्टिके प्रति, Microcosm (=अणु) में Macrocosm (=अखिल) के प्रति एक दुर्निवार्य आकर्षण, एक तनाव, एक असह्य बिछोहका भाव वर्त्तमान ही रहेगा।

वह विज्ञान बेचारा है जो इस एक परम सत्यभावको स्वीकार नहीं कर सकता। विज्ञान वही असली है जो इस परम गंभीर अनुभूतिको और गहरा ले जाता है। महान् वैज्ञानिकोंको देखो, यही प्रमाणित पाओगे।

जब मानव अनंत विश्वके समक्ष आमने सामने होता है तब उसमें जो उदय

होता है—उस भावको क्या कहोगे ? विश्वके प्रति व्यक्तिकी इस दुरधिगम्य भावनाको क्या कहोगे ?

मैं उसको धर्म कहता हूँ।

उस धर्म-भावनाका खिंचाव जिसकी ओर है, उसको मैं परमात्मा कहता हूँ। उसमें भय आता है अवश्य; लेकिन उस भयको मैं शुभ कहता हूँ।

प्रश्न—आत्म-हत्यामें बुराई ही क्या है ? जब मैं सोचता हूँ कि मेरे जीनेसे न मेरा ही भला है न औरोंका ही हो सकता है तब, गाँधीजीके बछड़े मार देनेके समान, मैं अपने देहको खत्म कर डालूँ तो इसमें हिंसाका पाप तो है ही नहीं उल्टे सिद्धि ही अधिक है।

उत्तर—प्रश्नकी भाषासे प्रकट होता है कि आप विश्वस्त हैं कि 'उसमें हिंसाका पाप तो है ही नहीं, उल्टे सिद्धि ही अधिक है।'

मैं अपनी ओरसे विश्वस्त हूँ कि उसमें सिद्धि तो है ही नहीं, उल्टे हिंसाका पाप अवश्य है।

यह इसलिए कि ऐसे सुविचारित आत्म-घातमें यह गर्भित है कि अपना मालिक मैं हूँ। जीऊँ चाहे मरूँ। मैं अपनेको मार भी सकता हूँ।

पर यह ग़लत है। अपना सिरजनहार मैं नहीं हूँ। इसलिए अपनेको मारनेका भी दम मैं नहीं भर सकता।

'मेरे जीनेसे न मेरा ही भला है और न औरोंका ही हो सकता है' यह सोचनेवाला व्यक्ति अपनेको निराशाके नशेकी चुस्की दे रहा होता है। यह विचार एक प्रकारका विष-सेवन है, विषय-सेवन भी है। निराशाका जन्म प्रच्छन्न अहंकारमेंसे होता है। 'मैं जगत्‌का उपकार कर रहा हूँ,' यह सोचना जितना ग़लत है उतना ही ग़लत ऊपरके प्रकारका विचार भी है। दोनोंके भीतर प्रमाद है, अहं-भाव है।

गाँधीजीके बछड़े मारनेकी बात तो गाँधीजीकी है। पूरा समाधान तो इसका वही करेंगे और उन्होंने किया भी है। लेकिन उन्होंने बछड़ेको इस लिए नहीं मारा कि उसका किसी प्रकार भी उपयोगी होना असंभव हो गया था। बछड़ेको मारनेका समर्थन उन्हें अपने भीतरसे इस विचारमेंसे मिला कि मरना तो उसका अवश्यंभावी है। वह अब-मरा अब-मरा तो हो ही रहा है, स्वयं मारकर उसे एक

अपार कष्टसे मुक्ति अवश्य दी जा सकती है। अर्थात् गाँधीजीका हेतु उपयोगिता-अनुपयोगिताका विचार न था वरन् उसका वास्तव हेतु प्रेम-भाव ही था।

जहाँ प्रमाद है, अहंकार है, वहाँ पाप है। अपघातमें, विशेषकर प्रस्तुत प्रश्नमें दिखाये गये उदाहरणमें, विचारका प्रमाद दीखता है। इस लिए उसमें हिंसा है, ऐसा मैं मानता हूँ।

सिद्धिकी बात मेरी समझमें नहीं आती। इस अनादि कालसे चले आते हुए अनंत विश्वमें एक व्यक्ति कितनी घड़ी पहले मर गया—यह अपने आपमें उस विश्वके इतिहासकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न मुझे बिलकुल नहीं मालूम होता। इस भाँति अपनेको अनुपयोगी समझनेवाला एक व्यक्ति अपनेको मारकर सृष्टिमें सचमुच किसी उपयोगकी, किसी लाभकी सिद्धि दे जाता है, ऐसा मैं नहीं सोच सकता। दर असल उस निगाहसे प्रश्नपर विचार करना मेरे लिए अशक्य है।

सत्य

प्रश्न—सत्य क्या है और उसका धर्म क्या?

उत्तर—सत्य सत्का भाव है। अर्थात् वह स्वयंमें धर्म है। यों कहा जा सकता है कि जो है, जो भी सत् है, उसका धर्म सत्य है।

इस भाँति सत्यका धर्म क्या है, यह पद निरर्थक बनता है।

पर शायद प्रश्नका आशय हो कि उस सत्यका स्वरूप क्या है, स्थिति क्या है, कार्य क्या है?

तो इस अर्थमें मैं कहूँगा कि सत्य सच्चिदानन्द स्वरूप है। वह (सत्) है, वह जीता (चित्) है; वह लीलामय अर्थात् गति-परिवर्त्तनमय (आनन्द) है।

ऐसा जो सत्य उसे ईश्वर भी कहो।

प्रश्न—सत्यका व्यक्त-रूप (=Manifestation) ही संसार है। किन्तु सत्य स्वयंमें पूर्ण और निरपेक्ष है और संसार ऐसा नहीं है। यह कैसे?

उत्तर—सत्य संपूर्ण है। हमारा ज्ञात और ज्ञेय और अज्ञात और अज्ञेय सब उसमें समा रहा है।

जो उसका ज्ञात और ज्ञेय रूप है, संसार हम उतनेहीको कहते हैं। वह अपूर्ण है, क्योंकि उसमें अज्ञात और अज्ञेय समा नहीं सकता।

अज्ञेय और ज्ञातमें कोई विरोध नहीं है। दोनों एक हैं। अज्ञेय यदि पीछे नहीं है, तो ज्ञात झूठा हो जाता है और अगर ज्ञात होकर कोई भी उसका पक्ष सामने नहीं है तो ऐसा अज्ञेय भी निरर्थक हो जाता है।

एक समूचे सत्य तत्त्वका ज्ञात किनारा संसार है। अपूर्ण तो वह भी नहीं है, क्योंकि जिसको वह सूचित कर रहा है वह संपूर्ण है। वह तो एक सामना (=Front) भर है। पर उस सम्मुखपर ही ध्यान रक्खें तो उसे अपूर्ण हो जाना ही चाहिए। ऐसे वह संसार अपूर्ण है ही। एक प्रकारसे यह अपूर्णता उसकी विशेषता है और सत्यकी संपूर्णतामें वह बाधा तो किसी प्रकार है ही नहीं। वह तो बल्कि उसी संपूर्णताको और भी सिद्ध और अनिवार्य बनाती है।

प्रश्न—सत्य विशुद्ध और एक तत्त्व है किन्तु फिर भी संसारमें गुण-रूपका भेद-विभेद क्यों देखनेमें आता है?

उत्तर—मैं एक हूँ पर जो मेरी आँख है, वह नाक नहीं है। आँख और नाक दो हैं। फिर भी मैं तो एक ही हूँ। इसी प्रकार संसारकी विविधताको सत्यकी एकताका साधक समझा जा सकता है। अपने अंग-प्रत्यंगोंकी अनेकता और अनेक-रूपतामें जैसे मेरी एक ही आत्मा व्यापक है और जैसे मेरे अस्तित्व और व्यक्तित्वकी एकताके लिए मेरा अंग-प्रत्यंगवान् होना आवश्यक है उसी भाँति सत्य और संसारको समझो।

प्रश्न—आत्माका परमात्माके साथ क्या सम्बन्ध होना चाहिए?

उत्तर—आत्मा अपने स्वभावमें परमात्माका तादात्म्य अनुभव करे, यही उसका इष्ट है। इसके अतिरिक्त किन्हीं और शब्दोंमें इस स्थानपर उस आत्म-धर्मको कहना ठीक नहीं है।

प्रश्न—संकल्प, चिंतन और अनुभूति, आत्माके तीन कार्य हैं। क्या विशुद्ध सत्यकी अवस्थामें भी तीनों कार्य मौजूद रहते हैं? यदि नहीं तो उनका विकास कैसे होता है और सृष्टिके विकासके साथ उनका क्या संबंध है?

उत्तर—व्यक्तिमें आपके कहे मुताबिक जो त्रिविधिता है, वह ऊपर जाकर नहीं रहती। संकल्प, चिंतन और अनुभूति ये क्रियाएँ सत्यमें असंभव हैं। मानवमें इसी लिए सम्भव हैं और उपयोगी हैं कि उसमें अभी सत्यसे अन्तर है।

कैसे इन शक्तियोंका विकास हुआ, इसका मूल हेतु तो यह है कि व्यष्टिको समष्टिके साथ एकाकारता खोजनी है। उसी विस्तारके आयासमें ये शक्तियाँ और क्रियाएँ व्यक्तिमें प्रादुर्भूत होती हैं।

सृष्टिके विकासके साथ उनका बहुत घना सम्बन्ध है और वह इस लिए कि असलमें सृष्टिका विकास उत्तरोत्तर उन्नत कोटिके मानव बनानेमें फलित होता है। जैसे अच्छा फल अच्छे वृक्षकी सफलता है, वैसे ही विस्तृत चेतनाप्राप्त मानव उत्पन्न करना सृष्टिकी सफलता है। ये तीनों क्रियाएँ उसके उन्नतिके मार्गको प्रशस्त करती हैं।

प्रश्न—संकल्प, चिंतन और अनुभूतिके उत्तरोत्तर विकासमें क्या कोई क्रम है?

उत्तर—विकासमें जो क्रम मैं देख पाता हूँ उसमें, ये शब्द तीन होकर कुछ विशेष सहायता नहीं पहुँचाते। असलमें हिन्दीमें इन तीन शब्दोंका कोई मान अभी ठीक ठीक निश्चित नहीं है। आम भाषामें तीनों बहुत पास पासके अर्थके बोधक होते हैं। वैज्ञानिक भाषामें अभी इन शब्दोंका ठीक वजन बननेमें नहीं आया है। इससे आपके मतलब लायक जवाब मैं क्या दूँ?

प्रश्न—संकल्प, चिंतन और अनुभूतिसे मेरा अभिप्राय आप Willing, Thinking और Feeling से समझिए।

उत्तर—मैं समझा। लेकिन यह प्रश्न शास्त्रीय अधिक हुआ। क्या वह आपके मनका है? वह प्रश्न इस जगह विशेष स्पष्टता या सहायता देनेमें काम नहीं आ सकता।

Feeling प्राथमिक भाव है। वह बचाया नहीं जा सकता। उसमें जब कुछ विचार भी आ मिलता है, तो उस भावमें संकल्पकी दृढ़ता मालूम होती है। जब उसमें विचारका प्राधान्य होता जाता है, और भावना गौण पड़ती जाती है, तब उसको Thinking कह दीजिए। ये एक ही प्रवाहित भावकी तीन श्रेणियाँ हैं। Feeling बिल्कुल जरूरी है और अनिवार्य है। सच्चा Willing Feeling की जमीनपर ही हो सकता है। और Thinking भी तभी सतेज और सवेग होगा जब वह परिपूर्णतामेंसे जागता है। अभाव-मय प्रतिक्रियामेंसे नहीं। संकल्प-हीन भावना-हीन विचार प्रमाद पैदा करता है। विचार-हीन भावना अविवेकको जन्म दे सकती है।

पर असल बात न भूलें। गंगा ज्यों ज्यों बढ़ती है त्यों त्यों अलग नामोंसे भी चीन्ही जा सकती है। हरिद्वारमें वह त्रिवेणी नहीं है, प्रयागमें त्रिवेणी है और

कलकत्तामें हुगली। इसी प्रकार इन तीन शब्दोंके सहारोंसे जिस वास्तव और प्रवहमान और विकासशील तत्त्वको समझना है, उसे आँखोंसे ओझल हम न होने दें। वही असल है।

प्रश्नके अधिक शास्त्रीय होनेमें यह खतरा है। उससे जो साधन है वह साध्य मालूम होने लगता है। साधनके बारेमें भी साध्यसे कम सावधान नहीं रहना होगा। पर साधनको साधन ही समझते रहना योग्य है। नहीं तो जीवनके लिए शास्त्र नहीं, प्रत्युत शास्त्रके लिए जीवनका उपयोग होने लगेगा और यह अनर्थकारी होगा। २४-७-३७

सच्ची कमाई

प्रश्न—सच्ची कमाई क्या है?

उत्तर—यों तो कहा जा सकता है कि सचाईको पाना सच्ची कमाई करना है। लेकिन यह कहना आपके प्रश्नके अभिप्रायको लाँघ जाना होगा।

पूछनेका मतलब शायद यह है कि हम जिन भिन्न-भिन्न उपायोंसे जीविका-निमित्त अर्थोपार्जन करते हैं, उनमें कौन सच्चा है, कौन सच्चा नहीं है। और उनमें अच्छे-बुरे अथवा कम-अधिक अच्छेकी कैसे पहचान की जाय।

इसमें पहले ही ध्यानमें रखनेकी बात यह है कि सब कर्म एक-समान हैं। न कोई ऊँचा है, न कोई नीचा है। न कोई छोटा है, न कोई बड़ा है। यह बात सचाईकी दृष्टिसे कही है, हल्के-भारी होनेकी दृष्टिसे नहीं। काम करनेवालेके लिहाज़से यों आसान मुश्किल होते ही हैं। स्टेट्समेनके लिए मोरी साफ करना मुश्किल है, तो सफाई करनेवालेके लिए धारा-सभाका काम कठिन है। पर सचाईकी दृष्टिसे दोनों काम एक तलपर हैं।

अब जिस कर्ममें जितनी भक्ति और प्रीतिकी भावना अधिक है, वह उतना ही सच्चा कर्म ठहरता है।

कमाईकी सचाई भी यही माननी चाहिए। जिसके भीतर जितनी सेवा-भावना है, प्रीति है, भक्ति है, वह कमाई सच्ची है। जिसमें नहीं है, वह सच्ची नहीं है। २४-७-३७

राष्ट्र-भाषा

प्रश्न—भारतकी राष्ट्रभाषा हिन्दी ही क्यों हो ?

उत्तर—और कौन-सी भाषा राष्ट्रभाषा हो सकती है ? हिन्दीके साथ प्रान्तीयता सबसे कम है। उसे हम किस विशेष प्रान्तकी भाषा कहें ? यों तो वह किसी प्रान्त अथवा प्रान्त-खण्डकी ठेठ भाषा नहीं है। साहित्यमें जिसे खड़ी बोली कहते हैं, वह एक दृष्टिसे किसीकी भी घरेलू भाषा नहीं है। सब जगह कुछ हेर-फेरके साथ वह बोली जाती है। ब्रजमें वह ब्रज है, अवधमें अवधी, मिथिलामें मैथिल। इसी भाँति और भी उस बोल-चालकी भाषाके रूप हैं। पंजाबीको भी हम एक तरहकी हिन्दी क्यों न कहें ? मारवाड़ी तो हिन्दी है ही। इस भाँति हिन्दी तनिक प्रादेशिक संशोधनके अवकाशके साथ अब भी भारतके बृहत भू-भागकी भाषा है। उर्दू और हिन्दीमें तो फ़र्क़ ही क्यों किया जाय ? मुसलमान लोग भारतवर्षभरमें फैले हैं, सब कहीं वे उर्दू समझते और बोलते हैं। उनके कारण और सब जगह घूमते हुए साधु सन्तोंके कारण, हिन्दीका अजनबीपन सब प्रान्तोंसे मिट-सा चुका है। अब भी हिन्दुस्तानमें कहीं जाइए, हिन्दीसे आपका काम निकल ही जायगा। फिर नाम भी तो उसका 'हिन्दी' है अर्थात्, हिंद-देशकी, सम्पूर्ण हिन्दुस्तानकी। हिन्दी न कहना हो तो उसे हिन्दुस्तानी कह लीजिए। बात वही है। ऐसी अवस्थामें हिन्दी हिन्दकी राष्ट्रभाषा हो, यह पारिस्थितिक अनिवार्यता ही समझनी चाहिए। इसमें किसी प्रकारका भारतके प्राकृतिक विकासपर आरोप नहीं समझना चाहिए। भारतके राष्ट्रका ऐक्य तो सम्पन्न होना ही है। तब वह किसके माध्यमसे हो, इसे किसी बाहरी तर्कसे निर्णय करके देखनेकी जरूरत ही नहीं रहती। परिस्थितिका तर्क ही बड़ा तर्क है। और हिन्दी राष्ट्र-भाषा उतनी बनाई नहीं जा रही है, जितनी कि वह बनी ही जा रही है। तब हम इस इष्टके साधनमें मददगार ही हो सकते हैं।

प्रश्न—क्या यह सच है कि हिन्दीके प्रचारसे साम्प्रदायिक द्वेष-भाव बढ़ेगा ?

उत्तर—नहीं, सच नहीं है। अगर हिन्दी शब्दसे उर्दूके पार्थक्यकी गन्ध किसीको हठात् आती ही हो तो उसको संशोधन कर हम हिन्दुस्तानी कह

सकते हैं। जो भाषा आम तौरपर बोली जाती है उसे 'हिन्दी' कह लीजिए, चाहे तो 'उर्दू' कह लीजिए। वह भाषा खास तौरसे फारसीसे ही लगाव रक्खे, अथवा संस्कृतके प्रति ही ऋणी हो, यह जरूरी नहीं है। फारसी और संस्कृत दोनोंका मोह छोड़ा जा सकता है। वह मोह छोड़ देना ही चाहिए। फिर भी दोनों भाषाओंके साथ आदर और लेन-देनका सम्बन्ध रक्खा जा सकता है। जरूरी होनेपर और भाषाओंके भी शब्द अपना लेनेमें हमें हिचक क्यों हो? इसका यह मतलब न होगा कि उन उन भाषाओंके साथ अथवा उनके साहित्यके साथ हमने स्पर्धा ठान ली है। इस्लामी साहित्य अरबी, फारसी और उर्दूमें है। उस साहित्यमें क्या सन्तोंकी अमर-वाणी भी नहीं है? जिस भाषामें मनुष्यकी अमर अभिलाषाओं और भावनाओंका स्फुरण हुआ है, वह भाषा क्यों कभी क्षीण होने लगी? एक भाषाके (अर्थात् हिन्दुस्तानीके) प्रचारमें यह अर्थ हो ही कैसे सकता है कि विविध भाषाओंमें जो ज्ञान-कोष है, वह कम होवे? किसीको चोट देने अथवा पहुँचनेकी बात ही वहाँ नहीं है। उन उन भाषाओंमें जो कुछ श्रेष्ठ है, चिरस्थायी है, उसको विस्तृत और व्यापक बनानेहीकी सुविधा भाषा-ऐक्यके साधनसे बढ़ती है, अहित किसीका भी नहीं होता। परस्परके आदान-प्रदानको और घनिष्ठ बनानेके ही हेतुसे हिन्दीको प्रचारमें लानेकी बात है। किन्हींके मनोंको फाड़नेके लिए ऐसा थोड़े ही कहा जाता है।

प्रश्न—हिन्दीकी अपूर्णता राष्ट्रकार्य-संचालनमें बाधक तो नहीं होगी?

उत्तर—शुरूमें दिक्कत तो होगी, लेकिन पूर्णताकी राह ही और क्या है? और पूर्णता तो आदर्श है। वहाँ पहुँचा कभी नहीं जाता, उस ओर तो चलते ही रहना होता है। जो कठिनाई होगी उसे सोचकर बढ़ें नहीं, तो कठिनाई कभी पार ही न हो और उसके योग्य सामर्थ्य भी संचित होनेका कभी मौका न आवे। आज अँग्रेज़ी बिना काम चलता नहीं दीखता। पर अँग्रेज़ी न थी, तब भी हिन्दुस्तान हिन्दुस्तान था और सभी तरहके काम भी तब चलते थे। अँग्रेज़ीके प्रति बहिष्कार-बुद्धि रखनेका उद्देश्य नहीं है, पर परवशता अनुभव करना और परावलम्बनको अनिवार्य बना लेना श्रेयस्कर नहीं है। परस्पर सहयोग होना चाहिए, निरा परावलम्बी बन जानेमें अहित है। किन्तु स्वाश्रयी बननेका बल ही कैसे आवेगा, जबतक कि अपना आश्रय स्वयं उठानेका संकल्प ही हम नहीं बाँधेंगे? इसके बाद मुश्किलें तो पड़ेंगी, पर वे आसान हो

रहेंगीं। और मुल्कोंने देखते देखते अपनी अपनी भाषाओंको सर्व-सम्पन्न बना लिया है। एक बेर सोचा कि अपनी ही भाषामें अपनेको व्यक्त करेंगे,—और जब राष्ट्र-भरने यह सोचा, तब राष्ट्रकी राष्ट्र-भाषाको समर्थ होनेमें देर क्या लगेगी ?

प्रश्न—हिन्दी साहित्यको पुष्ट और रुचिकर बनानेके लिए आपकी रायमें कौन-कौन से उपाय होने चाहिएं ?

उत्तर—मैं तो एक ही उपाय जानता हूँ।—यह मैं लेखककी हैसियतसे कहता हूँ, ऐडमिनिस्ट्रेटरकी हैसियतसे नहीं। और लेखककी हैसियतसे जो मैं उपाय जानता हूँ वह यह है कि छोटे संकुचित स्वार्थसे मैं बाहर निकलूँ, मेरी सहानुभूतिका क्षेत्र व्यापक हो। कर्मसे मैं विमुख न रहूँ, जो सोचूँ पूरे हृदयसे सोचूँ। अपनेको बचाऊँ नहीं, और अपने जीवनमें अपने आदर्शको उतारूँ। मेरा प्रेम मेरे साहित्यको रुचिकर बनायेगा। अपने विश्वासोंके प्रति मेरी लगन और तत्परता मेरे साहित्यको पुष्टता देगी।

इसके अतिरिक्त आपके प्रश्नपर मैं किसी दूसरी दृष्टिसे अभी यहाँ विचार नहीं करना चाहता।

७–९–३६

कुछ पत्रोंके अंश

भाई माचवेजी, १-८-३५

पत्र मिला ।......

मेरे बारेमें यह बात आप जान लें कि किताबोंमें मेरी पहुँच कम है । इस लिए मेरा जवाब थोड़ा और सादा ही हो सकता है ।

जीवनसे कलाको तोड़कर मैं नहीं देख पाता । सत्याभिमुख जीवनकी अभिव्यक्ति कला है । शब्दांकित अभिव्यक्ति साहित्य है ।

आप देखें, जीवनके साथ 'सत्याभिमुख' विशेषण मैंने लगाया है । अर्थात् जो हम हैं, वही हमारा जीवन नहीं है । जो होना चाहते हैं, हमारा वास्तव जीवन तो वही है । जीवन एक अभिलाषा है । जब कलाके संबंधमें ' जीवन ' शब्दका उपयोग करता हूँ तब उसे आप उस चिर-अभिलाषाकी परिभाषामें ही समझें । उस अर्थमें समझनेसे जीवन और कलाका विरोध, या Parallelism उड़ जाता है ।

क्या जो होना चाहते हैं, वही हम हैं ? क्या कभी भी वैसे हो सकेंगे ? स्पष्टतः, नहीं । किन्तु इसका क्या कभी भी यह मतलब है कि aspiration व्यर्थ है ? यह मतलब करना तो सारी गति और चेष्टाको मिटा देना है ।

आदर्श और व्यवहारमें अंतर है । वह अंतर एक दृष्टिसे अनंतकालतक रहेगा । उस दृष्टिसे वह अनुल्लंघनीय भी है । किंतु इसीलिए तो उस अंतरको कम करना और भी अनिवार्य है । आदर्श अप्राप्य है, क्या इसीसे उसके साथ एकाकारता पानेके दायित्वसे हमारी मुक्ति हो जाती है ?

इसीसे कलाको ' कला 'के ही क्षेत्रकी वस्तु न मानने देकर उसे जीवनमें उतारनेकी वस्तु कहते रहना होता है ।

जो कला वास्तवसे असम्बद्ध होकर ही जी सकती है, वास्तवके स्पर्शसे जो सर्वथा छिन्न-भिन्न हो रहती है, मेरे निकट तो वह ह्रस्व-प्राण है । मैं उसे गिनतीमें नहीं लाता । कला अपने भीतर भरी श्रद्धाकी शक्तिसे ' वास्तव 'को संस्कृत करनेके लिए है, उससे परास्त होनेके लिए नहीं ।

कला मात्र स्वप्न नहीं। वह वास्तवके भीतर रमी हुई वास्तविकता है, जैसे शरीरके भीतर रमी हुई आत्मा। वह अधिक वास्तव है।

जिस आदर्श-क्षेत्रको हम कलात्मक चेतनासे स्पर्श करते हैं, जिस स्वर्गकी हम इस प्रकार झाँकी पाते हैं और उसके आह्लादको व्यक्त करते हैं, क्या उस स्वर्गमें अपने इस समग्र शरीर और शारीरिक जीवनके समेत पहुँचे बिना हम तृप्त हों? तृप्त नहीं हुआ जा सकेगा। इसीसे तमाम जीवनके ज़ोरसे कलाको पाना और वहाँ पहुँचना होगा।

Oscar Wilde, को मैंने कुछ पढ़ा है। मैं उसे भटक गया हुआ व्यक्ति समझता हूँ। विचारकी सुलझन उसकी विशेषता नहीं।

अपनी रचनाओंकी विविधतापर मैं अप्रसन्न नहीं हूँ। न उनमें कोई ऐसा विरोध देखता हूँ। हाँ, विविधता तो देखता ही हूँ और सबका विविध मूल्य भी आँकता हूँ। 'एक टाइप' और 'राज-पथिक' में स्थान भेद और मूल्य-भेद तो है ही। पर मेरी अपेक्षासे तो दोनोंमें एक-सा ही सत्य है।......

यह स्वीकार करना होगा कि मैं अपनी किन्हीं रचनाओंमें भाव-प्रवण अधिक हूँ, कहीं जीवन-समीक्षक विशेष। किन्तु कहानियोंके साथ मैं अपना सम्बन्ध चिन्तापूर्वक स्थिर नहीं करता हूँ और अपनी सभी रचनाओंको मैं प्रेम करना चाहता हूँ।

मैं चाहता हूँ, छोटी और तुच्छ वस्तु मेरे लिए कहीं कुछ रहे ही नहीं। धूलके कनमें भी मैं उस परम प्रेमास्पद परम रहस्यको क्यों न देख लेना चाहूँ जिसे 'परमात्मा' कहते हैं। और वह परमात्मा कहाँ नहीं है? आज कीचड़में ही उसे देखना होगा। यही आस्तिकताकी कसौटी है। मूर्तिमें तो अल्पश्रद्धावान् भी देख पाता है।

कलाकार उसी अपरिमेय श्रद्धाका प्रार्थी है और तब कहाँ उसके हाथ Soiled हो सकते हैं। वह तो सब जगह अपूर्व महिमाके दर्शन कर और करा सकता है। यदि मैं खादकी उपयोगिताके सम्बन्धमें कुछ अपना मौलिक उपयोगी अनुभव लोगोंको बता सकूँ तो यह मैं साहित्यिक जैनेन्द्रके लिए कलंककी बात नहीं समझूँगा, प्रत्युत श्रेयकी बात ही समझूँगा।

हम क्यों कलाको छुई-मुई-सी वस्तु, hot house product, बनावें। वह

शीशेमें बन्द प्रदर्शनकी वस्तु ही बनकर रहनेवाली क्यों बने, वह क्यों न महाप्राण-वान्, सर्वथा अरक्षित, खुली दुनियामें अपने ही बलपर प्रतिष्ठित बनी खड़ी हो?

मेरी कल्पना है कि ऊपरके वाक्योंमें आपको अपने प्रश्नके सम्बन्धमें मेरी स्थितिका कुछ आभास प्राप्त होगा।......

× × × ×

ता० २५-९-३५

....मुझे अपने कथनोंमें विरोध नहीं दीखता। अन्य विचारकोंके वाक्य जो आपने लिखे हैं, उनके साथ भी मेरी स्थितिका अविरोध बैठ सकता है। हमको मान लेना चाहिए कि जो शब्दोंमें आता है, सत्य उससे परे रह जाता है। उसकी ओर संकेत कर सकें, यही बस है। वह भला कहीं परिभाषामें बँधनेवाला है! इससे लोगोंके भिन्न भिन्न वक्तव्योंका भाव लेना चाहिए। मैं जिसे 'सत्य' शब्दसे बूझता हूँ, उसमें तो सत्ता मात्र समाई है। जगतका झूठ-सच सब उसमें है। 'वास्तव'से मेरा अभिप्राय लौकिक सत्यसे है जिसको भरनेके लिए सदा ही 'असत्य' की आवश्यकता होती है। जीवनमें तो द्वंद्व है ही, किन्तु लक्ष्य तो निर्द्वंद्वता है। जीवन विकासशील है। क्या कला जीवनसे अनपेक्ष्य ही रह सके? ऐसी कला तो दंभको पोषण दे सकती है।...

× × × ×

ता० २१-११-३५

......मैं लिखना न छोड़ूँ, हो जो हो,—यह आप कहते हैं। आप ठीक हैं। लेकिन मैं अपने लिखनेको वैसा महत्त्व नहीं दे पाता। मैं नहीं लिखता, इससे साहित्यकी क्षति होती है, यह चिन्ता मुझे लगाये भी नहीं लगती। जब मुझमें वह भाव नहीं है, तब उसे ओढ़ूँ क्यों? मैं उसे अपने ऊपर ओढ़कर बैठना नहीं चाहता। साहित्यिक विशिष्ट व्यक्ति मैं अपनेको एक क्षणके लिए भी नहीं समझना चाहता। ऐसा समझना अनिष्ट है। ऐसी समझ, मैं देख रहा हूँ, बहुत अंशमें आज हिन्दीके साहित्यको हीन बनाये हुए है। मानों जो साहित्यिक है उसे कम आदमी होनेका अधिकार हो जाता है, अथवा कि वह उसी कारण अधिक आदमी है! इसलिए मैं उस तरहकी बातको अपने भीतर प्रश्रय देना

नहीं चाहता। पर, मैं तो देखता हूँ, मुझे अपने ही कारण लिखना नहीं छोड़ना है। क्योंकि जब साहित्यका जिम्मा मेरे ऊपर नहीं है तब मेरी अपनी मुक्ति तो मेरा अपना ही काम है। और कब आत्मव्यक्तीकरण मुक्तिकी राहमें नहीं है?

× × × ×

ता० ३१-८-३६

...'राम-कथा' जैसी चीज़ें मैं लिखना विचारता हूँ। लेकिन देखता हूँ कि मेरी राह जैसी चाहिए खुली नहीं है। मैं सोचा करता हूँ कि जब मेरे साथ यह हाल है, तब नवीन लेखकोंकी कठिनाइयोंका तो क्या पूछना। मैं तो अब पुराना, स्वीकृत भी हो चला हूँ। जो नये हैं, उनके हाथों नवीनता तो और भी कठिनाईसे वे लोग स्वीकार करेंगे।............

कठिनाइयाँ जीवनका Salt हैं पर उनको लेकर व्यक्तिमें complexes पैदा होने लगते हैं। वही गड़बड़ है। उनसे बचना।......

अब तुम्हारे सवाल, जो कभी शांत न होंगे। सवाल है ही इसलिए नहीं कि वह शांत होकर सो जाय। वह सिर्फ इसलिए है कि अगले सवालको जन्म दे। यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। वह दंभी नहीं तो मूढ़ है जो जताता है कि उसका प्रश्न हल हो गया। वह मुक्तावस्था है और मुक्तावस्था आदर्श है, अर्थात् वह एक ही साथ तर्कका आदि है और अंत है। तर्कके मध्यमें, और जीवनके मध्यमें, आदर्श-स्थितिका स्थान नहीं समझना चाहिए। इसलिए सवालका समाधान नहीं है, मात्र परिणति है। बाहरसे उसका मुख भीतरकी ओर फेरनेसे ऐसा परिणमन सहल होता है। इसलिए यह तो सिद्धान्त रूपसे मान लो कि सवालको फिर भीतरकी ओर मुड़ना होगा और हरेक उत्तर अपने आपमें स्वयं अन्ततः प्रश्नापेक्षी हो रहेगा। प्रश्नोत्तरद्वारा वस्तुतः हम परस्परको ही पावें; अधिककी अपेक्षा न रक्खें।

कला हेतु-प्रधान होती है कि हेतु-शून्य?

मैं कहूँगा कि कलाकर अपनेमें देखे तो कला हेतु-प्रधान क्यों, हेतुमय होती है। कलाकृतिके मूलमें मात्र न रहकर उसका हेतु तो उस कृतिके शरीरके साथ अभिन्न रहता है। वह अणु-अणुमें व्याप्त है। कलाकारकी दृष्टिसे कभी कला हेतु-हीन (अर्थात्, नियमहीन, प्रभाव-हीन) हो सकती है? और वह तो हेतु-प्राण है। कलाकारके अस्तित्वका हेतु ही उसकी कलामें ध्वनित, चित्रित होता है।

लेकिन बाहरकी दृष्टिसे मैं उसे सहेतुक कैसे मानूँ ? इस भाँति उसे सहेतुक मानना कलाकृति और कलाकारके बीचमें खाई खोदना जैसा है। मनुष्य और उसका धंधा, ये दो हो सकते हैं। पर मनुष्य और उसकी मनुष्यता (यानी, उसकी भावनाएँ) दो नहीं हैं। उसका व्यवसाय मनुष्यके साथ प्रयोजन-जन्य, मनुष्यता उसके साथ प्रकृति-गत है।

जहाँ मानव अपनी घनिष्ठतामें, अपनी निजतामें, प्रकाशित है, वहाँ उतनी ही कला है। जहाँ अपनेसे अलग रक्खे हुए हेतुओंकी राहसे वह चलता है, और हेतुओंके निर्देशपर रचता है, वहाँ उतनी ही कम कला है।

कलामें आत्म-दान है।

आत्मदान सबसे बड़ा धर्म है, सबसे बड़ी नीति है, सबसे बड़ा उपकार है, और सबसे बड़ा सुधार है। अतः कला सुधार, उपकार, नीति और धर्म, सबसे अविरुद्ध है और सबसे अपरिबद्ध है। इस प्रकार कला सत्यकी साधनाका रूप है। वह परम श्रेय है।

कला तो निःश्रेयसकी साधिका ही है। जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ वह भ्रांत है। यह कहिए कि वहाँ कला ही नहीं है।

बात यह है कि मानवका ज्ञान अपने संबंधमें बेहद अधूरा है। वह अपनी ही भीतरी प्रेरणाओंको नहीं जानता। यह सही नहीं है कि वह प्रयोजनको ही सामने रखकर चलता या चल सकता है। हेतु उसके भीतर संश्लिष्ट है, inherent है। जिसको अहं विकृतज्ञानमें हेतु मान उठता है, उसके प्रति वह सकाम होता है। वह, इस तरह, हेतु होता ही नहीं। मनमानी लोगोंकी गरजें उनके जीवनोंकी वास्तव हेतु नहीं हैं। इस दृष्टिसे हेतुवाद एक बड़ा भारी मायाजाल है। जो जितना महत्पुरुष है वह उतनी ही दृढ़ता और स्पष्टतासे जानता है कि व्यक्तिगत कारणसे कोई बड़ा ही कारण उसे चला रहा है। इतिहासके सब महापुरुष इसके साक्षी हैं। और मैं कहता हूँ कि इस व्यक्तिगत हेतुकी भावनासे ऊपर उठनेपर ही सच्चे जीवनका आरंभ और सच्ची कलाका सृजन होता है। हेतुवादी वह संसारी है जो सांसारिकतासे ऊँचा उठना नहीं चाहता।

(और तुम पूछते हो कि) अगर कला Self-expression ही है तो फिर जीवनसे उसका दायित्व क्या है ?

मैं तो आज कलाको Self-expression की परिभाषामें ही समझनेकी इजाज़त देना चाहता हूँ। यद्यपि इसमें (समझनेमें) ख़तरा है फिर भी उसी प्रकारकी परिभाषा यथार्थताके अधिक निकट और अंततः अधिक उपयोगी है।

पर, फिर भी वह तनिक भी उच्छृंखल नहीं और अधिकसे अधिक दायित्वशील है। वह इसलिए कि जो हमारा भीतरी Self असली Self है वह बाहरी जगतके साथ अभेदात्मक है। हम असलमें विश्वके साथ एकात्म हैं। जितना अपनेको पायँगे उतना ही, अनिवार्य और सहज रूपमें, विश्वको पायँगे। इसलिए प्रत्येकका Self-expression, अगर वह अपने साथ सच्चा और जागरूक है, तो प्रेमात्मक ही हो सकता है, विद्वेषात्मक तो हो सकता ही नहीं। साधनामें जो आत्म-वंचना कर जाता है उसकी बात तो मैं करूँ क्या,—पर साधक व्यक्तिका Self-expression कभी अहितकर नहीं हो सकता, और आर्टिस्ट साधक है। असलमें साधक अनुभव करता है कि वासनाओंमें उसका सच्चा 'स्व' ही नहीं है और वह वासना-रसको अनायास छोड़ता चलता है। वह अतिसहज भावसे दायित्वशीलताकी ओर बढ़ता है और साथ ही विनम्रताकी ओर बढ़ता है। इस भाँति साधक आर्टिस्टके लिए जरूरी हो जाता है कि वह इस बाहरकी कसौटीपर अपनी साधनाको कसता भी रहे—कि वह उच्छृंखल, अविनयशील, अहंमन्य तो नहीं हो रहा है। रोगकी जड़ अहंमन्यता है और आर्टिस्ट अहंमन्यताका खोखलापन आरम्भसे ही देखता है।

कला बुद्धिप्रधान हो कि भावप्रधान ?

बलासे, कुछ भी हो। व्यक्तित्वमें बुद्धिका खाना कहाँ है और भावका कहाँ ? और जहाँ अपनी आत्माका ही दान है वहाँ बुद्धि अथवा भावको बच निकलनेकी जगह कहाँ है ?

और इन प्रश्नोंको लेकर क्या कहूँ ? कितना भी कहते जाओ तत्त्व उतना ही गहन रहता है। सत्यकी पुकार तो है कि आदमी सब नाते, सब बन्धन, तोड़ छूट पड़े।—तब कुछ समझ मिले तो मिल भी सकती है। अन्यथा सब वृथा है।

अपनी ज़िंदगीके बारेमें क्या कहूँ ? क्या कुछ उसमें कहने लायक है ? अभी तो मुझे कुछ पता नहीं।......

मैथिलीशरणजीको मैं क्या मानता हूँ ? हिन्दी कवियोंमें आज मैं समझो उन्हींको मान पाता हूँ। श्रद्धाके नाते उन्हें ही, समझके नाते यों औरोंको भी मान लेता हूँ।

× × × ×

१९-९-३६

.प्रोफेसरोंका अविश्वास मैं समझ सकता हूँ। पर दिलसे अहंकार निकाल डालनेका तरीका ही यह है कि उसे हथेलीपर ले लिया जाय। जिसे निन्दासे डरना नहीं है, वह प्रशंसासे डरे ! जो अपवादपर झल्लाते हैं, वे ही पर्याससे अधिक संकुचित हो सकते हैं। पर वे दोनों एक रोग हैं—भीति और लालसा।...

ता० १९-२-३७

...जिसके प्रति मनमें प्रशंसा न हो उसके प्रति conscious झुकाव रखना सच्ची नीति है। 'नीति'का मतलब पालिसी नहीं, कर्तव्य भी मैं लेता हूँ। क्योंकि आखिर तो आलोचनाकी जड़में अज्ञान ही है। इसीसे जवाहरलालजीकी आलोचना वैसी लिखी गई जैसी लिखी गई।...

...शरद समाजके प्रति निर्मम है, पर व्यक्तिके प्रति निर्मम क्यों न हुआ जा सके ? सच्ची निर्ममता मैं तो उसे जानूँ जो समाजके लिए व्यक्तिको तजे, समाजको ज्ञानके लिए, ज्ञानको तथ्यके लिए, और इस प्रकार अपने सब कुछको अखंड-सत्यके लिए।

'अश्रुमती गौतम' क्यों भाई ? सीधी बात है कि भाई इससे भाई। उसमें tendency मेरे मनकी है। लेकिन एक बात है। आत्म-त्याग एक वस्तु है, आत्म-त्यागकी भावना बिल्कुल दूसरी वस्तु। जहाँ यह भावना प्रधान है वहाँ आदर्श-'वाद' है। और ध्यान रखना चाहिए कि आदर्श-'वाद' भी और वादोंकी तरह थोथा होता है। 'वाद' नहीं चाहिए, स्वयं आदर्श चाहिए। आत्म-त्यागको एक doctrine एक Dogma बनाकर व्यक्ति सचमुच स्वार्थी होनेमें मदद पाता है। तुम्हारी 'अश्रुमती गौतम,' मुझे प्रतीत होता है, आदर्शकी अपनी 'धारणा'से चिपटी रही। आदर्शको ही पकड़ती तो उससे चिपट नहीं पाती। क्योंकि आदर्श, जितने बढ़ते हो, उतना ही स्वयं बढ़ते जाता है। इसलिए आदर्शकी ओर यात्रा करनेवाला व्यक्ति सदा मुक्त रहता है, उसका स्वभाव खुलता ही जाता है। जब कि आदर्श-'वादी' व्यक्ति अपने 'स्व'के घेरेको और मजबूत ही बनाता है। पर जैसे 'अ-रूप'की आराधना नहीं होती, आराधना स्वयं अ-रूपको स्वरूप दे देती है, वैसे ही जाने-अनजाने

बुद्धि वादानुगामिनी होती है। और अश्रुमती, मुझे बहुत खुशी है, कितो doctrine की नहीं, एक idea (गौतम-idea) की अनुगामिनी है। Idea सप्राण वस्तु है। उसकी रेखाएँ बँधी नहीं हैं इसीसे।

× × × ×

भाई द्रविडजी,

उपन्यासके बारेमें मेरी जो वृत्ति है वह वैज्ञानिक शायद न हो। पर मुझे तो वही उपलब्ध है। उसमें जिसे Characterization कहा जाता है, उसे लगभग बिल्कुल भी स्थान नहीं है। मुझे उस शब्दके भावका पता नहीं मिला। इससे पात्रको सांगोपांग करनेकी ओर मेरा ध्यान नहीं जाता। क्या एक पात्र अपने आपमें कुछ भी चीज़ है? असली चीज़ मेरी निगाहमें पात्रोंका पारस्परिक संबंध है, न कि पात्र स्वयं। relationship। मुझे विचारणीय बात मालूम पड़ती है, न कि persons। इससे सुबोधपर मैं अटकता नहीं। आपके सुझानेपर भी उसकी एकांगिता मुझे खटकती नहीं। व्यक्ति क्या एकांगीके अतिरिक्त सर्व-संपूर्ण हो भी सकता है? असलमें सुबोधका व्यक्तित्व (अथवा कि किसी भी एकका व्यक्तित्व) खींच उठाना मेरा लक्ष्य नहीं है। अमुकके relations में किसी एकके relations क्या हैं, इसे दिखाते दिखाते यदि मैं कहीं भी आत्माके गहरे तलको जा छूता हूँ तो यही मेरे लिए बहुत है। उपन्यासकारके नाते, इससे अधिक मेरा इष्ट भी नहीं है। असलमें मैं पक्का उपन्यासकार नहीं हूँ। शायद कुछ whims हैं जिन्हें छोड़ना नहीं चाहता। कहा जा सकता है कि लिखता हूँ तो उन whims को ही निबाहने और पुष्ट करनेके लिए।

.........आपकी बात ठीक है। जीवनको जीते और बाँटते चलना चाहिए। इसी राहमें बहुत-कुछ आ जाता है।

सस्नेह—जैनेन्द्र

× × × ×

भाई द्रविडजी, २–९–३७

प्रश्नके बारेमें यही कि अज्ञेयकी स्थितिमें मैं थोड़ा सुधार सुझाना चाहूँगा। उनका वाक्य है—

"The creation of an artist always arises from a state of unbalance.......Etc."

यह वाक्य यों हो—

"An artist rises from the state of......Etc."

सुधारके पक्षमें यह कारण उपस्थित है—

That the state of unbalance, itself, is not creative.

पर नहीं। ऊपरका लिखना व्यर्थ है। उसे कटा समझिए। अब मैं समझा कि मैं गलत समझा। प्रश्न आर्टिस्टका नहीं, आर्टिस्टके creations का है। पहले मैंने जाना कि artist के creation (जन्म) का सवाल है। खैर।

अब स्थितिको मैं यूँ समझता हूँ। कोइलेसे आग होती है। वह (आग) सदा कोइलेसे (लकडी आदिसे) होती है,—यह भी कह दीजिए। दोनोंमें झूठ बात कोई नहीं है। लेकिन यह कहनेसे आगकी प्रकृतिपर प्रकाश पड़ता है, सो नहीं। कोइला मलिन हो, आग सदा उज्ज्वल है।

आर्टिस्टका unbalance एक प्रकारका conditional antecedent है। पर आग जैसे कोइलेको क्षार कर देती है, वैसे ही creation unbalanceको मिटानेके लिए है। कोइला तो पत्थर है,—दियासलाई उसमें आग दिखाती है। creation के मामलेमें वह दियासलाई है क्या? जो रवींद्रनाथने कहा वह उस creationकी आगमें दियासलाई-वाला तत्त्व समझा जाय। unbalance उसमें कोइला-रूपक तत्त्व है।......

......Unbalance is inherent, is implicit. No man is in perfect harmony, can ever be in complete unision, with his environs. All experience unbalance. But everybody is not an artist. So, unbalance does not lead to creation direct. It cannot. It is a principle of disintegration. What it does is to stimulate our senses and sharpen our seeking. It makes us *miss* balance and be acutely conscious of the *want* of it. It is only thus that it helps creation. It is Faith, working through doubt,

which creates. Doubts necessitate faith which, when born, devoures all of them and nourishes and flourishes on them. We ought not to confuse them both, though ever they are to be found close to each other.

Creation rises out of unbalance with a sure poise of balance and grace.........

रवींद्रबाबूका कथन ठीक दिशामें है, यद्यपि उसमें content विशेष नहीं है।

मेरी निजकी स्थिति ऊपरके वाक्योंमें कुछ आ जाती है। असलमें इन मामलोंमें objective approach से बचना चाहिए।

सस्नेह—जैनेन्द्र

टिप्पणियाँ

१ साहित्य क्या है ?

इस लेखमें, साहित्यकी सृष्टिके मूलकी मनोविज्ञानिक आवश्यकता बताकर, साहित्यके स्वरूपको समझाया गया है। साहित्यके आरम्भका मूल तत्त्व है 'स्व' की विश्वके साथ अभेद अनुभूति। 'अपने स्वयंका अतिक्रमण कर,' आत्म-समर्पणका पाठ शेष विश्वसे सीखकर, तथा अपने क्षुद्रत्वकी अनुभूतिसे त्रस्त होकर विराटताकी अनुभूति जगानेकी जो व्यग्रता मनुष्यमें है, उसीसे साहित्य उत्पन्न हुआ है। अतः साहित्य, और कुछ नहीं, इसी सत्योन्मुख प्रगतिशीलता और अनुभूतिशीलताकी अभिव्यक्ति है।

लेखक मानव-जीवनकी संभावना द्वित्वसे निर्मित विग्रह, संघर्ष और पुनः समझौतेमें मानता है। वैज्ञानिक डार्विन इसीको परिस्थितिके अनुरूप बननेका (adaptation) उत्क्रान्ति-तत्त्व मानता है। मानव-जीवनकी इसी कर्मशीलताको आत्मिक भूमिपर देखें तो, एककी अनेकमें और फिर उन अनेकोंकी भी किसी विराट् एकमें मिल जानेकी जो चाह है उसे ही साहित्यकी प्रेरणा मानना होगा। अतः साहित्य जीवनकी प्रश्नमयताका समाधान है,—जीवनका अभेदोन्मुख कर्म है।

लेखककी भूमिकासे दो बातोंका पता चलता है। एक सजीव मुमुक्षुवृत्तिका जो ब्रह्मसूत्रकारके 'अथातो जिज्ञासा' की तरह है। हर वस्तुको जाननेसे पहले 'क्यों?' 'क्या?' 'किसलिए?' आदि प्रश्नोंका मनमें स्वभावतः उठना अपेक्षित है। दूसरी बात है विचार-स्वातंत्र्यमें अटूट विश्वास जिसके लिए रोम्याँ रोलाँ महाशय उत्सुक रहते हैं। लेखक विचारोंको किसी भी प्रकार परिबद्ध या जड़वादी बना हुआ नहीं देखना चाहता। उनके मतमें विचार-नैश्चित्य बुरा नहीं है पर विचारका स्थिर होकर बँध रहना तो उसके जीवनके लिए बाधक है।

साहित्यकी अनेक परिभाषाओंमेंसे जैनेन्द्रकी परिभाषाके साथ दो परिभाषायें तोलनीय हैं और वे यहाँ दी जाती हैं—'साहित्य जीवनकी समीक्षा है,' (—मैथ्यू आरनाल्ड) मनुष्य जातिकी संचित ज्ञान-राशिका कोष साहित्य है,' (—आ० महावीरप्रसाद द्विवेदी)।

मनुष्यकी बुद्धिके साथ अहंकारके जागरणकी कथा सांख्यदर्शनमें बहुत अच्छी तरह रूपकद्वारा व्यक्त की गई है। सांख्यके अनुसार मुक्त पुरुष शुद्ध

चित्पर स्थिर रहता है और प्रकृति त्रिगुणात्मक है, अचेतन, अन्धी और चिर-नर्तनमयी। उस प्रकृतिकी छाया पड़ते ही, स्फटिकपात्रमें रक्तपुष्पच्छटाके समान, पुरुष-तत्त्व रंग जाता है और उसमें सत्ताईस तत्त्वोंकी उत्पत्ति होती है जिनमें बुद्धि और अहंकार प्रथम और प्रमुख हैं। विलियम जेम्स, वार्ड आदि आधुनिक मनोविज्ञानिकोंने भी मनुष्यकी चेतनाको स्व-चेतना (=Self consciousness) से उदय होते हुए माना है।

जैनेन्द्रके 'अवबोध' शब्दका उपयोग समझना होगा। बोध अर्थात परिज्ञान, अवबोध अर्थात् विशिष्ट प्रकारका ज्ञान (=Conception)।

('अर्जुनमें' प्रकाशित)

२ विज्ञान और साहित्य

बुद्धिसे अधिक स्वाभाविक हार्दिकता है, यह निर्विवाद है। इसी आधारपर इस लेखमें भक्तिका आरम्भ ज्ञानसे पहले हुआ, अर्थात् विज्ञानके मूलमें भी साहित्य-प्रवृत्ति है यह दरसाया है।

वेदोंमें पाई जानेवाली इन्द्र-वरुणादिक देवताओंकी प्रार्थनायें ऐसे ही आरोपण-मूलक वैयक्तिक देवताओंसे संबंध रखती थीं। मैक्समूलरने ऐसी प्राकृतिक देवताओंकी उत्पत्तिको आदिम मानवविकासवादी प्रवृत्ति माना है। इसी संबंधमें प्रश्नोत्तर-विभागमें 'धर्मका आरम्भ क्या भयसे हुआ?' 'निरा अबुद्धिवाद' और 'राम-कथा' पठनीय हैं। श्रद्धामूलक ज्ञानको यहाँ विभेदमूलक विज्ञानसे श्रेष्ठतर माना गया है।

आत्मनिष्ठ और परनिष्ठ अथवा ज्ञाता और ज्ञेयका अन्तर अर्वाचीन पश्चिमी आलोचना एवं मनोविज्ञान सभीमें बहुत जोर पकड़ता जा रहा है। जैनेन्द्र ऐसे विभक्तीकरणको श्रेयस्कर नहीं समझते। वे भोक्ता और भोग्य, ज्ञाता और ज्ञेय, कलाकार और आलोचक सबको एकाकार बना देखना चाहते हैं। उनका दृष्टिबिन्दु (=perspective) अतिशय विशद-उदार उपनिषदोंके पूर्णात्पूर्णमिदम्से लगाकर गेस्टाल्टपंथी अमेरिकन मनोविज्ञानिकोंके सामान्य तत्त्व तक एक ही अविभक्तता संपन्न होती देखनेका है। डॉ० जानसनके अनुसार कला और विज्ञानका अन्तर Art is doing and Science is knowing (=कला कर्म है, विज्ञान बोध) है। जैनेन्द्र साहित्यकी अनुभूतिशील रचनात्मकतापर जोर देते हुए, उसे विज्ञानकी व्यवस्था-बद्धता और तज्जन्य जीवनसे विच्छिन्न होनेकी आशंकासे

अलग कर देते हैं। आजके विख्यात इटालियन कला-समीक्षक बेनेडेट्टो क्रोचेने भी मानवकी परिज्ञान-प्रक्रियाको इसी तरहके दो क्षणोंमें अर्थात् अवधियोंमें बाँटा है—एक तो कलात्मक, दूसरी तार्किक (=Moments of Pure Intuition and Moments of Pure Logic)। परन्तु अनुभूति-सूचकता अथवा कलात्मक अभिव्यक्तिको उसने हेगेलके समान सर्वश्रेष्ठ माना है। इसी मूलानुभूतिको ग़लतीसे इन्दौरके साहित्य-सम्मेलनके साहित्य-परिषदीय भाषणमें अध्यापक पं० रामचन्द्र शुक्लने 'प्रज्ञात्मक' कहा है। पर यह विवाद यहाँ साहित्यके जिज्ञासु विद्यार्थीके लिए सूचनारूपमें छोड़ना ही पर्याप्त है।

विज्ञानकी प्राथमिक अवस्था कैसे श्रद्धामूलक थी, इसको स्पष्ट करनेवाले उदाहरणोंकी कमी नहीं है। पदार्थ-विज्ञानमें पहले अग्निको एक स्वतंत्र शक्ति मानते थे (—फ़्लाजोस्टीन-थ्योरी)। अरिस्टाटलकी शरीरशास्त्रसम्बन्धी धारणायें ऐसी ही रूपकात्मक थीं। मनोविज्ञानके प्रारम्भ-कालमें वृत्तियोंकी लहरियों (=Humours) को महत्त्व दिया जाता था। ज्योतिषविज्ञानमें भारतीय पद्धति तो अभी तक चित्रात्मक है। यहाँ तक कि व्याकरण जैसे व्यवस्था-बद्ध शास्त्रके लिए पाणिनिने शंकरके डमरूका आधार लेकर—'अ इ उ ऋ ऌ...'को सिद्ध किया।

और विज्ञानकी ऐसी ही दर्शनोन्मुख अन्तिम अवस्थाके लिए अत्याधुनिक पदार्थविज्ञानवेत्ताओंकी आस्तिकता, मॉशियाँ बर्गसाँकी 'Master and Mind' पुस्तक, डॉ० जेम्सकी 'चेतना-प्रवाह' की मान्यता, डीन आइंगका 'परमात्मा और खगोलशास्त्री' ग्रंथ, आइन्स्टाइनके सापेक्षतावादका रहस्यात्मक आधार आदि आदि उदाहरण काफी होंगे।

इस लेखकी कहानीनुमा शैली ध्यान देने योग्य है। ('अर्जुन' में)

३ साहित्य और समाज

सच्चे साहित्य-स्रष्टाका अपने वातावरणके प्रति एवं समाजके प्रति भविष्यद्रष्टा तथा दूरदर्शी रूपसे संबंध होता है और उसी कारण उसे समाजके हाथों जो उपेक्षाका कष्ट-प्रसाद भुगतना पड़ता है, उसीको फकीरके रूपकद्वारा इस लेखमें बताया है। इसी शालीन वृत्तिके विरोधमें समाजकी मान्यताओंको स्वीकृत मानकर, जो चाहिए वह माल बाजार-दरमें ला रखनेवाले बनिया साहित्यिककी

सामाजिक प्रशंसासे तौला गया है। तात्पर्य, बिकनेवाले और टिकनेवाले साहित्यकी अन्तर-रेखा स्पष्ट की गई है और बताया गया है कि कवि ब्राउनिंगने जैसे मानव-जीवनका उद्देश 'रजकणसे असीमकी प्राप्तिकी ओर' (=From Man's dust to God's eternity) बताया है वैसे ही लेखकको भी न केवल 'जहन्नुमेर आगुने बाशिया हांशी पुष्पेर हांशी' (—काज़ी नज़रुल इस्लाम) अपितु, 'असंख्य बंधन माझार, लभित्र मुक्तिर स्वाद' (—कवींद्र रवींद्र) जैसी वृत्ति बनाकर, अभेद-संपन्नताकी ओर बढ़ना चाहिए।

लेखकोंके जीवन-कालमें उपेक्षाके उदाहरण अनन्त हैं। अधिकांश रूसी साहित्यिक निर्वासित हुए, सुप्रसिद्ध फ्रेंच व्यंग-लेखक वाल्टेयरकी यही हालत हुई, अँग्रेज महाकवि शेले अपनी निर्भीक मतावलीके लिए देश देश मारे मारे फिरे। कोमलमना कीट्स तो ऐसी आलोचनाके कारण मर गये। डिकेन्सने अपना उपन्यास सैंतीस पौंडपर बेचा था और गोल्डस्मिथने अपना पहला उपन्यास सत्ताईस सिक्कोंके लिए। शोपनहारको पचास पौंड पारिश्रमिक अपने लेखोंपर मिला था। नीत्शेकी प्रसिद्ध किताब 'जरथुष्ट्रने कहा' की सिर्फ चालीस प्रतियाँ छपीं, सो भी नहीं बिकीं। तभी तो उसने अपनी अन्तिम किताबकी भूमिकामें लिखा—'मुझे पता है, शायद, मुझे समझनेवाले, मेरे मरनेके बाद जनमेंगे।' और हुआ भी ऐसा ही। अभी इधर विश्व-विख्यात साहित्यिकोंमें बहुतोंको स्वाधीनचेता होनेहीके कारण जेलवास, देशनिकाला आदि न जाने क्या-क्या भोगना पड़ा। भारतमें भी अब जिन्हें सर्वमान्य माना जाता है वे आजीवन दारिद्र्यमें रहकर स्वर्गवासी हुए। ऐसे उदाहरण कम नहीं। सबसे ताज़ा उदाहरण स्व० प्रेमचंदजी ही हैं।

जैनेन्द्रने एक बार चर्चामें कहा था कि अपराधीको रामायण, संभ्रान्तको खूनीके बयान, सुखासीनको करुण-कथा पढ़ना अच्छा लगता है। महादेवीने अपनी 'रश्मि' की भूमिकामें अपने दुःख-वादका मूल ऐसी ही विषमतामें बताया है। हमें हमारे अभावोंका निरूपण करनेवाला साहित्य रुचता है, यह बात मनोविज्ञानिक दृष्टिसे एक हद्तक ठीक है; परन्तु, सामाजिक दृष्टिसे कुछ लोग जब समाजके व्यंगोंको अपना पंथ बना लेते हैं, तो वहाँ मानना होगा कि उत्कट विद्रोह भी उत्कट मोहका ही लक्षण होता है। अप्टन सिंक्लेयरका '-मैमन आर्ट' या अन्य उग्रतावादी लेखकोंका सुधाराग्रह या क्रांति-प्रेम उस

समाजके प्रति उनकी कृपावलंबिताकी कमजोरीको ही दरसाता है। जैनेन्द्र कहते हैं कि परार्थ भी निर्मोही बनकर करना होगा, उसमें अपरोक्ष भी स्वमोह न हो। अधिकांश जोशीले समाज-सुधारकोंमें निर्मोह नहीं पाया जाता। गाँधीजी भी इसी निःस्वार्थ निष्कामताके अनन्य समर्थक हैं।

जैनेन्द्र आजके हिंदी साहित्यमें,—उपन्यासोंमें, कथानककी प्रधानता और मानसिक सूक्ष्मताओंके प्रकटीकरणका अभाव तथा काव्यमें असंयम एवं नशेबाजीकी ओर झुकाव आदि दोष चीन्हते हैं जो सचमुचमें महत्त्वशाली हैं।

(विश्वमित्रमें प्र०)

४ कला क्या है ?

यह लेख 'जल्दीमें' शीर्षकसे 'विशाल भारत' में छपा था। इस लेखके सार-वाक्य पृष्ठ २७ पर इटैलिक्समें दिये हैं। लेख इतना स्पष्ट है कि टिप्पणीकी कोई आवश्यकता नहीं।

Art is to be felt, not to be dealt with (कला अनुभव-गम्य है, स्पर्शगम्य नहीं) यही तत्त्व लेखकी आत्मा है। बा० श्यामसुंदरदासके ललित-कला विषयक लेखमें अँग्रेज समीक्षक हड्सनके अनुरूप कलाकी जिस सौन्दर्योपासनाका संकेत है वही यहाँ भी लक्षित है। इसी संदर्भमें जिज्ञासु पाठक टालस्टायकी 'What is Art' (=कला क्या ?), क्लाईव बेलकी 'Art' (=कला) और कज़िन्स और कालिंग वुडकी 'Philosophy of Beauty' (=सौन्दर्य-दर्शन) पुस्तकोंको एवं पत्रांशोंमें मेरे साथ जैनेन्द्रजीके इस विषयके थोड़े-से विवादको अवश्य देख लें।

जैनेन्द्र स्वयं कलाकार हैं और उनकी कलममें कला इस तरह पैठी है कि उनके लिए कला क्या, ऐसा कोई भी तटस्थ सवाल, अलग बुद्धिद्वारा प्राप्य-रूपमें, संभव ही नहीं। वे तो कलाको आत्माकी एक भावच्छटा मानते हैं।

इस लेखकी मुक्त और कलात्मक शैलीकी विशेषतायें स्पष्ट हैं।

५ किसके लिए लिखें ?

'विशाल भारत' में 'कस्मै देवाय ?' शीर्षक लेखमें पं० बनारसीदास चतुर्वेदीने दरिद्र जनताके लिए साहित्य लिखनेकी ओर विशेष अंगुलि-निर्देश किया था। उसी प्रश्नको लेकर जैनेन्द्रने 'हंस' में उपर्युक्त लेख लिखा था।

'किसके लिए लिखें ?' इस प्रश्नका उत्तर 'कलाके लिए कला-वादियों'की तरह 'स्वान्तः सुखाय' और प्रोपेगेंडिस्टोंकी तरह 'केवल जनतार्थाय' न देकर जैनेन्द्र एकांगीनता और पक्ष-सत्यके गड्ढेसे बचे हैं। उनका उत्तर है—लिखना सत्यके लिए अर्थात् परमात्म-तत्त्वके लिए है। इसी संदर्भमें पृ० २९३ परका पत्रांश पठनीय है, जहाँ वे लिखते हैं—'लिखते रहना तो मुझे अपने खातिर भी नहीं छोड़ना है।' इसी संदर्भमें हालमें प्रकाशित 'विशाल भारत'के साहित्यांङ्कमें 'साहित्य और राजनीति' संबंधी चर्चामें जैनेन्द्रका पत्र पठनीय है। उसमें जलोदरकी उपमा देकर रुग्ण और स्वस्थ साहित्यका भेद सुंदरतासे बताया है।

यहाँ भी लेखकी पुकार सत्योन्मुख एकस्वरता और समताके लिए अव्याहत और स्पष्ट है। जैनेन्द्र नकारात्मक अथवा ध्वंसवादी (=Nihilistic) प्रवृत्तियों-का तीव्र विरोध करते हैं। वे ऐसी सब विधि-निषेध-शृंखलामयताको जीवन-विरोधिनी समझते हैं। 'शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः' की गीतावाली उक्त वृत्तिको जैनेन्द्र अंगीकरणके योग्य मानते हैं। वही वृत्ति लक्ष्य तक पहुँचेगी, और कुछ भी नहीं। आत्माके उस विशुद्ध प्रेम-विस्तारकी राहमें बाधारूप जितने भी विभेद खड़े किये हैं वे सब अहंकारजन्य हैं और अहंकार अहं-प्रातिकी साधनाका सबसे दुर्घट शत्रु है।

६ साहित्यकी सचाई

यह भाषण १९३६ में नागपुरमें अ० भा० हिं० सा० सम्मेलनके साथ साथ किये गये साहित्य-परिषद्के अधिवेशनमें दिया गया था।

अतिशालीन आत्म-निवेदनसे शुरू करके आगे वैज्ञानिक बुद्धिकी अपूर्णता और वन्ध्यापनकी चर्चा हुई है। विज्ञान पहले 'ॲटम' को अन्तिम विभाग मानता था जिसके अनुसार डेमाक्रेटीज वगैरह यूनानी दार्शनिक 'एटामिस्ट' कहलाते थे। फिर विज्ञानकी गाड़ी 'मालिक्यूल' (=परमाणु) पर आकर रुकी। अब तो विज्ञान अनगिनत 'इलेक्ट्रॉन्स' पर विश्वास करने लगा है। नतीजा यह होगा कि बुद्धि तीक्ष्णातितीक्ष्ण होती जायगी, विश्व कँट-छँट जायगा, और हाथ कुछ न लगेगा। क्योंकि 'इलेक्ट्रॉन्स' की भी सत्ता उनके वेगमय सहकार (=Velocity and Conglomeration) में है। (पृ० ३८)

यह बौद्धिक भेद मार्क्स और बरट्रन्ड रसल जैसे जडवादी (=materialists) लोगोंने अंतिम तत्त्व प्रकृति (=matter) को सिद्ध करनेके लिए माना है। व्यक्तित्व-पंथी मनोविज्ञानिक भी अब मन और कर्मके अलग अलग विभाग बना देनेमें विश्वास नहीं करते। अंततः आज, जैसे अथतः आदि दिन भी, सभी विज्ञान मानवको एक संश्लिष्ट इकाई (=one whole) मानते हैं। (पृ० ३९)

रूसमें बोलशेविक क्रान्तिके बाद समस्त साहित्य-कला-क्षेत्रमें चाहा गया कि उसके प्रचारोपयोगी अंशको ही जीवित रहने दिया जाय और बाकीको दागके समान काल-स्तरपरसे मिटा दिया जाय। न जाने कितनी मूर्तियाँ, सुंदर चर्च और महल तोड़-फोड़ डाले गये, यहाँ तक कि कई विचार-स्वातंत्र्यके उन्नायक साहित्यकारोंको देश छोड़कर भाग जाना पड़ा। ट्राटस्की, शोलोखाफ, टिचिरनाफ आदि उन्हींमें हैं। यह एकांगिताका लक्षण है। यह नौबत अनिष्ट है। इधर अपने यहाँ भी कुछ लोग ऐसे ही मतवादको पकड़ते दीखते हैं। पर वे भूलते हैं कि वे मतप्रचार चाहे करें, परन्तु औरोंपर प्रहार करना, सह्यसे अधिक, उनका उद्दिष्ट नहीं हो सकता। प्रहार जिनका उद्देश तक हो, वे भ्रात हैं। निषेध कभी भी सिद्धि नहीं। (पृ० ४१, यहीं क्लाईव बेलका एक वाक्य याद आता है कि 'यदि समाज कलाकारपर कोई सबसे बड़ा उपकार कर सकता है तो वह है उसे अकेले छोड़ देना।'

क्राईस्टके बारेमें कथा है कि मेग्डलीन नामकी स्त्रीकी दुश्चरित्रताके प्रति घृणा और क्रोधके मारे एक बार बहुत-से लोग उसे पत्थरोंसे मार डालनेको उतारू हो गये थे। वे ईसाके भक्त थे। उस समय ईसाने उनकी भीड़की ओर मुखातिब होकर कहा कि तुममेंसे जिसने जन्ममें एक पाप भी न किया हो वह अवश्य इसे पत्थर मारनेका अधिकारी है। फिर किसीकी हिम्मत न हुई कि पत्थर फेंके। ईसाने मेग्डलीनको अपने यहाँ रक्खा और उसे पवित्रात्मा संत बनाया।

गाँधीजीने मद्रासमें वेश्याओंके सम्मुख जो भाषण दिया था वह अतिशय हृदयद्रावक है। (देखिए 'नवजीवन'की फाईलें)। बुद्ध और सुजाताकी कथा प्रसिद्ध ही है। जैनेन्द्रकी अश्लील साहित्यके संबंधमें यह विचार-स्थिति बहुत मननीय है। इमर्सनने भी एक जगह कहा है,—Hatred Hate.

७ साहित्य और साधना

२३ अप्रैल १९३५ को इन्दौरमें अ० भा० हि० सा० सम्मेलनान्तर्गत

साहित्य-परिषदमें जैनेन्द्रजीने जो भाषण दिया था, उसके ये कुछ अंश हैं। प्रेसमें बराबर रिपोर्ट न छपनेसे इन दो पृष्ठोंमें कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं।

इस भाषणमें बतलाया गया है कि साहित्यिकका पंडित होना आवश्यक बात नहीं है। क्या जाने वह उचित भी न हो। हिन्दीके कई संत-कवियोंको लिखना-पढ़ना बिल्कुल नहीं आता था। कबीर और सूर संप्रदायके सभी कवि ऐसे थे जो भजन रचते और गाते थे। वे कविता 'लिखा' नहीं करते थे, 'कहा' करते थे।

'Poets open new windows in the soul' (=कवि आत्मामें नये वातायन खोल देते हैं) सैम्युएल बटलरकी यह उक्ति इसी संदर्भमें पढ़ी जाय। साथ ही 'हिन्दीमें सजीव साहित्यकी आवश्यकता' शीर्षक श्री 'अज्ञेय'की अपील ('विशाल भारत') और जैनेन्द्रका उसपर नोट भी पढ़ा जाय।

८ लेखकके प्रति

यह संदेश बच्चोंके पत्र 'पीयूष' के लिए लिखा गया था।

९ संपादकके प्रति

इस चिट्ठीकी विचार-प्रवर्तकता और 'स्याद्वाद'मय तर्क-पद्धति महत्त्वपूर्ण है। ('विद्या' में प्रकाशित)

१० आलोचकके प्रति

मैं इसे जैनेन्द्रजीके सर्वोत्तम लेखोंमें गिनता हूँ। यह बहुत सुलझी हुई और क्रमबद्ध सफाई है। उनके 'सुनीता' उपन्यासपर भिन्न भिन्न व्यक्तिओंद्वारा जो तरह तरहकी आलोचनायें हुई थीं उनको, संक्षेपमें, उनके सापेक्ष महत्त्वानुसार उत्तर देनेका प्रयत्न किया गया है।

बुद्धिद्वारा जीवनके आह्लादको ग्रहण करनेकी जो मानवी क्षमता है वह, जहाँ मनुष्य मुमुक्षु न रहकर वादी और ज्ञानाग्रही होने लगता है, वहीं कम हो जाती है। इसीको लेखक जैनेन्द्रजीने अपने सामने रक्खा है। बौद्धोंकी तरह स्वामी रामने एक जगह कहा है—whosoever grasps loses. यही तत्त्व इस पुस्तकसे झलक रहा है। इस लेखकी तीसरी बात ज्ञानकी अपेक्षाकृति (=Relativity) है।

रविबाबूकी 'घरे बाहिरे' और 'सुनीता' का जो संतुलन जैनेन्द्रजीने

किया है उससे पाठक सब अंशोंमें सहमत न भी हो सकें, तो भी, उपन्यासकारसे क्या अभीप्सित है इस बारेमें पाठकको उनसे मत-भेद नहीं हो सकता।

ऑस्कर वाइल्डने झूठसे आतंकित करनेके मोहमें अपने 'मृषाका ह्रास' (Decay of Lying) नामक निबंधमें कहा है—'यदि उपन्यासकार समझता है कि उसके पात्र जीवनसे लिये गये हैं तो यह गर्वकी नहीं प्रत्युत शर्मकी बात है।' रवीन्द्रनाथने अपने 'साहित्य' नामक निबन्ध-संग्रहके 'ऐतिहासिक उपन्यास' शीर्षक लेखमें सत्य और कल्पनाका कहाँ तक मिश्रण उपयुक्त है, इसपर चर्चा की है। यह सब पृ० ५७ के साथ साथ पढ़ा जाय।

जहाँ 'क्या लिखूँ?' समस्याका जिक्र है, वहाँ विलियम जेम्सके मनोविज्ञान-शास्त्रमें 'स्व-पर-समस्या' नामक अध्यायका आरम्भ याद आता है। साथ ही यह कहना होगा कि जैनेन्द्रजीका विज्ञानको पूर्णतः ऑब्जेक्टिव माननेका दावा सब वैज्ञानिकोंके लिए न्यायोचित नहीं है।

एक जगह 'माया' का प्रयोग आया है। शंकरके समान जर्मन दार्शनिक फिच्टेने भी यही कहा था कि 'ससीमका असीमानुबोध सदैव सीमाबद्ध ही होगा, क्योंकि ज्ञान हमारी सीमा है।' वैसे ही जैनेन्द्रजीसे कहा जा सकता है कि श्रद्धा भी हमारी उसी प्रकारकी सीमा हो सकती है। परंतु वे निष्ठाको छद्म नहीं समझते, क्योंकि उनके मतमें वह हार्दिक निर्भ्रान्ततापर निर्भर है।

अन्तमें आलोचकके लिए दी हुई नर्म नसीहत बड़ी उपयोगी वस्तु है।

('हंस' में प्रकाशित)

११ जीवन और साहित्य

२१ मार्च १९३६ की सायंकालको लाहोरमें राष्ट्रभाषा-प्रचारक संघके अन्तर्गत लाजपतराय हालमें दिया गया भाषण।

'सत्य अन्तिम नहीं है' (पृ० ६५)। लेनिनने भी एक जगह कहा है—'Nothing is final'। यहाँ जैनेन्द्र जो सदा जीवन और साहित्यका लक्ष्य सत्योन्मुखता बताते हैं, वे उसको 'अन्तिम नहीं' कहकर विरोधाभासमें उतरते जान पड़ते हैं। परन्तु उनका मूल-तत्त्व 'सत्य अपेक्षाकृत है,' यह समझनेपर विरोधाभास नहीं रहता।

सुकरातके संबंधमें यूनानकी एक जोगिनने कह दिया था कि वही यूनानका

सबसे बड़ा ज्ञानी पुरुष है। जब यूनानियोंने जाकर यही बात सुकरातसे पूछी तब उसने जवाब दिया 'मैं इतना ही ज्ञानी हूँ कि मैं जानता हूँ कि मैं नहीं जानता, क्योंकि और लोग तो यह भी नहीं जानते कि वे नहीं जानते।' इस ज्ञानकी सीमाका ध्यान प्रत्येक ज्ञानीको रहना चाहिए। न्यूटनने आजीवन अविश्रांत अन्वेषणके अंतमें यही कहा कि 'मैं तो ज्ञान-सागरकी वेलाके कुछ थोड़ेसे बालु-कण और सीपियाँ ही बटोर पाया हूँ।' उमर खय्यामकी एक रुबाईका एक चरण है—'मालूमम शुद हेच कि मालूमम न शुद'।

(पृ० ६८) जर्मन महाकवि गेटेका भी यही कहना है कि 'क्रांतियाँ ज़बरदस्त भाव-प्रवणताके आधारपर जनमती और जीती हैं।' शोपेनहारका 'The world is my idea' वाक्य प्रसिद्ध ही है। ('हंस'में प्रकाशित)

१२ हिन्दी और हिन्दुस्तान

यह जून १९३७ में सुहृद-संघ मुजफ्फरपुरके वार्षिकोत्सवके अवसरपर साहित्य-परिषदके सभापति-पदसे दिया गया भाषण है। इसकी एक विशेषता तो यह है कि जैनेन्द्रका शायद यह पहला ही लिखा हुआ भाषण है, दूसरी यह कि इसमें सूक्ष्म दार्शनिकता ही नहीं स्थूल राष्ट्रोपयोगिता भी है।

(पृ० ७३) 'प्रेम मूक होता है' यह महात्मा गाँधीका प्रसिद्ध वचन है। रोम्याँ रोलाँकी 'I will not rest' पुस्तकमें साहित्य और राजनीतिकी परस्परापेक्षाशीलताका अत्यंत सुंदर विवेचन आया है। आवेश भावनाकी न्यूनताका परिणाम-स्वरूप है यह तथ्य शायद पाठकको नया लगे; परंतु वास्तवमें 'आवेश'का अर्थ क्षणिक छलकती हुई उन्मत्त भाव-प्रवणता है, उत्कटता नहीं। वैसे ही 'न्यूनता' का अर्थ यहाँ गहराईकी कमी है।

(पृ० ७५) टाल्स्टायकी 'वार एण्ड पीस' पुस्तकमें यही बात आती है कि शान्तिकी चर्चाका महत्त्व युद्ध-प्रसंगहीमें है। जैसे आत्माके अमरत्वपर गीताका संदेश कुरुक्षेत्रके मध्यमें ही दिया गया।

(पृ० ८३) 'आसक्तिमें संकीर्णता' इसपर गीतांजलिका एक अंश याद आता है जिसमें यह पंक्ति है, "दीपक क्यों बुझ गया? मैंने ही तो उसे अपने अंचलमें बंद करके सँभालना चाहा था! नदी क्यों सूख गई? मैंने ही तो उसके बाँध बाँधे थे!'—आदि। रवीन्द्रनाथका भी विश्वास यही है कि साहित्य पूर्ण-

भिदंसे ' आनंदरूपम् अमृतम् 'की ओर अग्रसर हो रहा है। (देखिए 'साहित्य')

(पृ० ८२) व्यथा-विसर्जन=वेदना-दान । यथा—

' मोमकी प्रतिमापर अनजान, वेदनाका ज्यों छाया-दान '

— महादेवी वर्मा (' रश्मि ')

बिलगाव, यथा—

' मोरी बिलग बिलग बिलगाई हो...' —कबीर

(पृ० ८३) द्वित्व, यानी 'हाँ' और 'ना' दोनोंका निषेध जैनेन्द्र कभी नहीं करना चाहते । यदि ' हाँ ' और ' ना ' दोनों तजकर कोई अपने ही गर्वमें सना, यह कहे कि जो मैं कहूँ वही अन्तिम है, तो उसे कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता । जैसे बौद्ध शून्यवादियोंका तर्क परमात्माके संबंधमें अर्थहीन नकारान्तमें समाप्त हुआ । लक्ष्यहीन स्याद्वाद् भी ऐसी ही निरर्थक स्थितिपर जाकर टकरा सकता है ।

(पृ० ८४) नीत्शे और शोपेनहारका साहित्य साथ साथ पढ़ें या हिटलरकी आत्मकथा (My Struggle) और गोर्कीका उपन्यास ' माँ ' साथ साथ पढ़ें, तो शक्ति-पूजा और उसके प्रति विद्रोहके दर्शन स्पष्ट हो सकते हैं ।

(पृ० ८४) बहुत लोग भारतीय अथवा दर्शन-प्रधान साहित्यको हतबलोंका अल्पप्राण निर्वीर्य साहित्य कहकर आरोप करते हैं और कहते हैं कि छटपटा देनेवाले बुलंद, गरम साहित्यमें बलके दर्शन होते हैं । परन्तु बल ही अन्तिम नहीं है, उसके साथ करुणा भी चाहिए । निर्दय बल दयनीय है ।

१३ प्रेमचंदजीकी कला

लेख अत्यंत स्पष्ट है । अलोचनासे अधिक इसमें उपन्यासकी आत्मापर विचार हैं। यहाँ यह कह देना उपयुक्त होगा कि प्रो० जनार्दन झा 'द्विज' द्वारा लिखित पुस्तक ' प्रेमचंदकी उपन्यास-कला 'में बाह्य रूपकी ही अधिक एवं आत्माकी कम विवेचना हुई है। प्रेमचंदकी कहानियोंके अनुवाद भारतकी प्रायः सभी भाषाओंमें, तथा रूसी और जापानी भाषाओं तकमें, हुए हैं। मास्को युनिवर्सिटीके हिन्दी अध्यापक प्रो० ए० बॅरोनिखॉवका ' द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ 'में लेख देखिए । प्रेमचंद-स्मृति-अंकमें जैनेन्द्रका 'प्रेमचंदः, मैंने क्या जाना और पाया' लेख मननीय है। (भारत—सन् १९३० में प्र०)

१४ नेहरू और उनकी कहानी

इसमें पुस्तककी आलोचना कम और व्यक्तित्वकी अधिक है। घटनावली

तो निरी खबरोंकी तालिका है, परन्तु आत्मगाथा, उससे अधिक, आत्माकी कहानी होती है।

(पृ० १०८) नीत्शे, जो जन्मभर शोपेनहारका कट्टर विरोधी था, मरण समय यह कह गया कि 'शोपेनहार भला आदमी था।' वैसे ही ईसाका क्रूसपर अन्तिम वचन था 'पिता क्षमस्व, ते न जानन्ति'।

आरंभमें नेहरूजीके बचपनकी यादगारोंका काश्मीरी सौन्दर्य मूल पुस्तकमेंसे ही पढ़नेकी चीज़ है। आगे समाज-सुधारकोंका जहाँ जिक्र है (पृ० १११) वहाँ मालवीयजी, लाला लजपतराय, और कुछ अंशोंमें मोतीलालजीकी ओर भी निर्देश हैं।

पं० मोतीलाल समाजवादी नहीं थे। वे प्रजातंत्रवादी स्वराज्य पार्टीके पक्षमें थे। परन्तु जवाहरलाल समाजवादी अर्थात् रूसी-स्वराज्य चाहते हैं। यहाँ सभ्यताके स्वराज्यपर महात्माजीका विशेष कटाक्ष है जो कि चाहते हैं सर्वांशतः भारतीय स्वराज्य। भीड़की मनोवृत्ति (नीत्शेने जिसे Herd-morality और Crowd-Hysteria कहकर व्यंग कसे थे) जिसकी आवश्यकतासे अधिक पूजा रूसी राजनीतिमें पाई जाती है, उसका पृ० ११५ पर चित्रण बहुत स्वाभाविक हैं।—शेक्सपियरके 'कॉरियालेनस' और 'ज्यूलियस सीज़र' नामक नाटकोंमें भीड़-मनोवृत्ति (mob-psychology) के ऐसे ही क्षण-क्षण-परिवर्तित पहलुओंपर बहुत मजेदार चित्रण किया गया है।

पृ० ११६ परके अँग्रेजी वाक्यका अनुवाद—'जहाँ गाँधीमें महत् पूर्णता है वहाँ जवाहरलालको एक दिव्य दुखांत पात्र समझिए। चाहो तो गाँधीको मानवोपरि कह लो, पर जवाहर तो अंतरतः मानव—सर्वथैव मानव है। ऐसा मानव कि हम सहम जायँ।'

लेखमें जहाँ जहाँ 'वासना', 'रोमान्स', 'असंलग्नताका अभाव' आदि शब्द आये हैं वहाँ उनका अर्थ आत्मलग्न व्यामोहसे है। 'वे स्वयं' और 'व्यक्तित्व' दोनोंमें अंतर समझना चाहिए। व्यक्तित्व वह, जो अभिमतोंसे ऊपर उठकर अंतर-सत्यकी एकताका प्रतिनिधि हो।

(पृ० ११७) शिवाजी, लेनिन, कृष्ण, नेपोलियन, ईसा, गाँधी, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, रॅम्से मेकडोनाल्ड, गोर्की, हिटलर, मुसोलिनी, स्टैलिन, डोलोरस

पॅशनेरिया आदि महान् व्यक्ति गरीबीमें जन्में, कष्टोंमें पले। किन्तु जवाहरलालको तो पिताकी मृत्युपर न जाने कितने लाख रुपयोंका बीमा ही मिला।

(पृ० २२१) जवाहरके हृदयकी सच्चाई तो इसीसे झलकती है कि पुस्तकमें एक जगह लिखा है I am a misfit everywhere and at home nowhere। इसी वाक्यको लेकर मराठी पत्र 'प्रतिभाके' जनवरी १९३७ ई० के विशेषांकमें प्रकाशित श्री० के० क्षीरसागरकी नेहरू-चरित्रकी आलोचना काफी मार्मिक और जैनेन्द्रके लेखके साथ साथ पढ़ने लायक है।

जवाहरलालके लौकिक व्यवहारमें यद्यपि आजकी बौद्धिक अमीरी (=Intellectual Aristocracy) व्यक्त हुए बिना नहीं रहती, तो भी उनके 'इन दी ट्रेन' (माडर्न रिव्यू) जैसे छोटे छोटे लेखोंमें अथवा 'आत्म-चरित' के 'देहरा जेलमें' 'धर्म' 'गाँधी एक विरोधाभास' आदि सुंदर प्रकरणोंमें उनकी साहित्यिक और कलात्मक (जैनेन्द्रके दार्शनिक अर्थमें) आत्माके खूब खुलकर दर्शन होते हैं।

('सैनिक'में प्रकाशित, कई पत्रोंमें उद्धृत, और मराठी गुजरातीमें अनुवादित)

१५ आप क्या करते हैं?

यह जैनेन्द्रका एक टिपिकल (खास ढंगका) लेख है। इसमें हास्यकी पुटके साथ सुकरातके जैसे संवादद्वारा स्वयं बुद्धूकी भूमिका लेकर दुनियाका बुदधू-पन दरसाया गया है, एवं व्यवहृत नीतिके तत्त्वपर व्यंग किया गया है। लिलिपटकी यात्रा लिखनेवाले स्विफ्टने जिस प्रकार राज्यपद्धतिकी आलोचना की थी, वैसे ही इस लेखमें कर्म-मीमांसा व्यंजित की गई है। बात वही है जो गीताके निष्काम-कर्ममें है, पर दुनियवी उपयोगिताके मूल्यकी कचाई और मनमानेपनको किस मज़ेसे अप्रमाणित किया गया है, साथ ही स्थूल समाज-समस्याओंको सूक्ष्म दर्शनके शासनसे कैसे देखा गया है, यह भी दर्शनीय है।

(भारतमें प्र०)

१६ कहानी नहीं

यह जैनेन्द्रका सबसे मज़ेदार मनोविश्लेषणात्मक निरीक्षण है। मानवताका जो अन्तर्तन्तु सबमें समव्याप्त है वह 'बुड्ढेवाँ' दिलसे भी, चाहे वह कितनी ही कोशिश क्यों न करे, कैसे हटाये नहीं हटता, इसे बड़ी घरेलू और बहती हुई

संवादात्मक शैलीमें दरसाया गया है। इस लेखकी उर्दू-मिश्रित हिन्दुस्तानी मार्केकी है।

भिखमंगोंका सवाल जेलोंसे नहीं हट सकता। वह तो एक ही चीज़से हट सकता है और वह है विश्वव्यापी सहृदय मानवताका ध्यान। इसी कहानीनुमा लेखके सिलसिलेमें जैनेन्द्रकी 'साधुका हठ' कहानी भी पढ़नी चाहिए।

(भारतमें प्र०)

१७ राम-कथा

झूठी ऐहिक मान्यताओंपर जो व्यंग-पुट-सहित समीक्षण जैनेन्द्रने किये हैं उनमें 'राम-कथा' अपना विशेष मनोविज्ञानिक महत्त्व रखती है। इसमें भी वही तर्क-पाडित्यका निषेध है और शैशव-श्रद्धाको महत्त्व दिया गया है।

पृ० १४४ पर जो पश्चिमी लोक-वाक्य निर्देशित है, उसीका भाव कार्ल मार्क्सके 'धर्म गुलामोंको अपनी पराधीनता भुलानेवाली अफीम है,' इस वाक्यमें पाया जाता है और इसीको डॉ० मानवेन्द्रनाथ राय 'इन्डिपेन्डेन्ट इण्डिया'के कालमोंमें कैसी निष्ठाके साथ दुहराया करते हैं!

राम-नामकी महिमा तो है ही, परन्तु श्रद्धाके बलपर ज्यादा जोर दिया गया है। जैनेन्द्रका जान-बूझकर पांडित्यसे भागना स्पष्ट है। वे प्रेमद्वारा ही ज्ञान-प्राप्तिको मानते हैं।

('हंस' में प्र०)

१८ जरूरी भेदाभेद

यह कहानीनुमा लेख आदर्श और व्यवहारकी परस्पर विसंगतिपर बड़ा ही सुंदर और मार्मिक व्यंग बन पड़ा है। जैनेन्द्रकी समाजविषयक समीक्षाओंमें मैं इसे सर्वोत्तम मानता हूँ। इसमें सकरुण हास्य है, जो साहित्यकारकी सफलताकी अंतिम कसौटी समझिए। इससे हठात् वाल्टेअरके मर्म-व्यंगकी, साथ ही जीकी सचाईकी, याद हो आती है।

समाज-वाद कैसे अपने आपमें असंभव है और अधार्मिक होकर नहीं जी सकता, यही तत्त्व इस लेखमें अभिप्रेत है।

नीत्शेने एक जगह कहा है—' Whom do I hate most among all the rabble of to-day? The socialist, who undermines the working man's instincts, who destroys

his satisfaction with his insignificant existence, who makes him envious aud teaches him revenge.'

इतनी कठोरता अनुपयुक्त है सही फिर भी इस लेखसे एच. जी. वेल्सके 'साम्यवाद–आलोचन'की अवश्य याद आ जाती है।

'अभेद' में जैनेन्द्रजीका व्यक्तित्व पूर्ण रूपसे प्रकाशित होता है। 'कल्याण' मासिकने सिर्फ यही अंश और 'भारत' ने इसके बाकी दोनों अंश 'विश्वमित्र' से उद्धृत करके छापे थे। मुमुक्षुकी प्रारंभिक अवस्थापर छान्दोग्योपनिषद्में प्रजापति और इंद्रका आत्मज्ञान-विषयक संवाद जिस प्रकार जागृति, स्वप्न, और सुषुप्ति आदि अवस्थाओंका उल्लेख करता है उसी प्रकारका कुछ संकेत इस रात्रि-अनुभवमें संनिहित है। 'धीरे धीरे उतर क्षितिजसे ओ वसंत रजनी' या 'ओ विभावरी' (—श्रीमती महादेवी वर्मा एम्० ए०) या श्री मैथिलीशरणजीकी 'सो मेरे आश्वासन सो, मेरे अंचल-धन सो' (—'यशोधरा') या श्री सरोजनी नायडूकी 'एक लोरी,' (...a little, lovely dream—cradle song) अथवा श्री तांबेके मराठी 'अंगाई गीत' के जैसा कुछ आनंद इस परिच्छेदमें आता है।

पृ० १६४ परकी अस्मितासे 'तू तू करता तू भया, मुझमें रही न हूँ' यह कबीरकी उक्ति याद आती है।

१९ उपयोगिता

इस निबंधमें जैनेन्द्रजीने साधारण मनुष्यका, दुनियादारीमें फँसे हुए व्यवहार-कुशल कहलानेवाले आदमीका, जो निकट-प्रश्न रहता है कि 'इससे क्या लाभ ?' 'क्या फायदा ?' उसका जवाब देनेकी कोशिश की है और बताया है कि प्रायः एक बात हिसाबी मानेमें उपयोगी न कही जाय, किन्तु फिर भी उसपर विश्वका सद्भाव टिका है। यही सार सत्य अपनी कथात्मक शैलीमें बचपनकी कहानीसे प्रारम्भ करके समझाया है।

पृ० १७३ पर 'ईश्वर ही है' वाली बातसे गालिबका शेर याद आता है—

'न था कुछ तो खुदा था, कुछ न होता तो खुदा होता।
डुबोया मुझको होनेने, न होता मैं तो क्या होता ?'

यह जैनेन्द्रकी तर्क करनेकी हमेशाकी पद्धति है कि वे एक वस्तुको उसके बड़े जातीय वृत्त (=Species) में देखेंगे और फिर उसे उससे बड़े वृत्तमें और यह श्रेणी (=series) गणित-शास्त्रके ∞के................समान अनंत तक पहुँचा देंगे। वे प्रत्येक लौकिक मान्यता-धारणा और मूल्यके आगे एक महत्-तत्त्व अवश्य देख लेते हैं। और उस आकाशवत् अति गूढ़, चारों ओरसे मुक्त वृहत्तम महत्-तत्त्वका प्रार्थी इस लौकिक तथ्यको बतलाते हैं। वह महत्-तत्त्व वास्तवमें सत्य-भाव है परंतु प्रत्यक्षमें वह बहुत कम पाया जाता है। 'वास्तवके वायवीकरण (=Rarification) की इसी तरहकी तर्क-प्रणालीका आश्रय वैशेषिक पंथके नैयायिक 'घटाकाश—महाकाश' आदि कहकर लिया करते थे। रस्किनने भी अपने 'अन्टू दी लास्ट' में, मिल इत्यादि तत्कालीन अर्थशास्त्रियोंके मनुष्यको 'जरूरतोंका गट्ठर' दिखानेके प्रयत्नपर खासा व्यंग लिखा है।

(पृ. १८७) नीत्शेने जिसे कूप-मंडूक-दृष्टिकोण (=Frog-perspective) कहकर पुकारा है वैसा ही हास्यास्पद प्रयत्न कुछेक अँग्रेज कवियोंने राष्ट्राभिमानी गीत लिखते हुए किया है। 'सोल्जर' कवितामें कविने यहाँतक कह डाला है 'English Sky, English air!' अत्याधुनिक राजकवि रुडयर्ड किपलिंगने भी अपनी 'रिसेशनल' कवितामें 'We the favourite children of God, कहकर और ईसाके महात्मापनको पक्षपातरंजित बताकर उसे अपमानित किया है।

ज्यामिति-द्वारा परमात्मा सिद्ध करनेकी प्लेटोकी शैली भी अपनाई गई है। ज्यामितिसे गूढ़-तत्त्व पर्याप्त रूपमें ग्राह्य और स्पष्ट होकर सामने आ जाता है।

('हंसमें' प्र०)

२० व्यवसायका सत्य

इस लेखमें काफी व्यावहारिक और बहुत कम दार्शनिक बनकर बात शुरू की गई है। बर्नर्ड शॉने जैसे अपने 'इण्टेलीजण्ट वुइमन्स गाइड टू सोशालिज़्म' में कहा है 'What is called saving is only making bargains for the future' (Page 6) उसी तरह रुपयेकी गतिशीलतापर यहाँ विचार किया गया है। इन्वेस्टमेण्टका असल अर्थ और फार्मूलाबद्ध अर्थ-शास्त्रका उससे विरोध रस्किनकी याद दिला देता है। शोलोखाफकी नई नाविल 'Virgin

Soil Upturned' जिसने पढ़ी हो वही जान सकता है कि सिर्फ शासन-द्वारा-नियंत्रित 'सोशलाईज़ेशन' अथवा संयुक्त कृषि रूसमें भी सर्वांशतः सफल नहीं है। जरूरत अर्थ-नीतिमें भी स्पिरिटके सुधार होनेकी है।

२१ दूर और पास

यह अपने ढंगका एक मनोरम तत्त्व-प्रतिपादन है। इसमें कल्पनाका माहात्म्य वर्णित है। साथ ही तटस्थता और सम्मानके अन्तरके साथ कैसे निकटता रक्खी जा सकती है, इसपर विचार है। खलील जिब्रानके 'प्रॉफेट' पुस्तकमें विवाहपर एक गद्य काव्य है उसका एक अंश यहाँ तुलनाके लिए दिया जा सकता है—

'एक दूसरेको प्यार करो, पर प्यारका कोई करार न बनाओ।
'तुम्हारी आत्माओंके दुकूलमें प्यार एक हिलोर लेता समुन्दर बना रहे।
'एक दूसरेका प्याला भर दो पर एक ही प्यालेसे न पियो।
'अपनी अपनी रोटीमेंसे एक दूसरेको दो, पर उसी रोटीमेंसे मत खाओ।
'साथ साथ नाचो, गाओ, खुशी मनाओ, पर तो भी तुममेंसे हर एक अकेला रहे।
'—उसी तरह जैसे वीणाके तार अकेले हैं तो भी उनमेंसे एक ही रागिनी निकलती है।'

भावना और कल्पनाके समुचित सामंजस्यके अभावमें ही आज दुनियामें इतनी वेदना और गलतफहमी फैली हुई है। हर हालतमें ठीक 'प्रपोर्शन' ख्यालमें रखनेकी जरूरत है।

२२ निरा अ-बुद्धिवाद

यह लेख जैनेन्द्रजीके दर्शनकी कुंजी है। 'शुतुरमुर्ग-नीति'—अँग्रेजीमें तो कहावत पड़ गई है 'आस्ट्रिच पालिसी।'

समस्त विश्वासको शंकित माननेसे मनुष्य किसी नतीजेपर नहीं पहुँच सकता। यही बात मुन्नीके उदाहरणसे लक्षित है। पश्चिमी दर्शनमें सुविख्यात शंकावादी डेविड ह्यूमने इसी प्रकार तर्कद्वारा सभी मान्यताओंको खोखला कर डाला था।

हर्बर्ट स्पेन्सर, शोपेनहार, और उपनिषत्कार इसी प्रकार अज्ञेयवादी थे। उनके मतसे साध्य चाहे प्राप्य हो या अप्राप्य, मानवकी निरंतर कर्मशीलतामें बाधा नहीं आनी चाहिए।

मैकडूगल आदि आधुनिक मनोविज्ञानिकोंने भी भयको आदिम मानवकी

प्रथम मूल-वृत्ति माना है और जो डरसे डरनेका प्रयत्न करते हैं वे निश्चय डरसे बचना चाहते हैं।

(पृ० २१८) श्रद्धाका अर्थ अंध मोह नहीं है। विशुद्ध श्रद्धा निर्भीक होती है। ऐसे ही मीरा कहती थी 'संतन ढिग बैठ बैठ, लोकलाज खोई...।'

मौतके संबंधमें 'चढ़ा मन्सूर शूलीपर पुकारा इश्कबाजोंको, यहाँ जिस जिसमें हिम्मत हो वही खम ठोककर आये' किंवा रवीद्रनाथका 'मरण जे दिन आसे दुवारे, की दिब उहारे' या कबीरका 'मरण रे तुंहु मम श्याम समान' अथवा उमर खय्यामका फर्राशे-अज़लका रूपक, या मैथिलीशरणजीकी 'यशोधरा' का 'मरण सुंदर बन आया री, शरण मेरे मन भाया री' या श्रीमती महादेवी वर्माका 'ओ जीवनके अंतिम पाहुन' या 'एक भारतीय आत्मा' का 'अरी ओ दो जीवनकी मेल' आदि याद हो आते हैं।

'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि' गीताके इसी अमर संदेशको हँसते हँसते कहते हुए कन्हाई दत्तका वज़न फाँसीके तख्तेपर बढ़ गया था। यह सब श्रद्धाका फल है। लेखके अन्तमें मेरे द्वारा पूछा हुआ प्रश्न लेखके दृष्टिकोणको और भी स्पष्ट कर देता है। ('हंस' में प्र०)

२३ प्रगति क्या?

लखनऊमें कांग्रेसके साथ साथ 'प्रोग्रेसिव राईटर्स' या प्रगतिशील-लेखक-संघकी ओरसे एक जलसा हुआ था। उसके द्वारा प्रगतिशीलताके संबंधमें जो गलत धारणायें हम अपने राष्ट्र-जीवनमें पोस रहे हैं उनका विरोध जैनेन्द्रने अपने भाषणमें किया था। वही विचार यहाँ लिखित हैं।

(पृ० २२५) बोज़ान्क्वे जैसे आधुनिक आदर्श-वादी तार्किक (=Idealistic Logicians) 'न' कारका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं मानते।

कैंटने देश और कालको मनुष्यकी बौद्धिक इयत्तायें, शर्तें या (catagories of understanding) माना था जिनसे परिज्ञान-सामग्री छन कर आती है और भाव-रूप पकड़ती जाती है। हमारा ज्ञान देश-काल-सीमाओंसे स्वतंत्र नहीं है। किन्तु इसीसे हमें अपनेको स्वतंत्र सत्ताधिकारी नहीं मानना चाहिए, जैनेन्द्रका यह तर्क 'कॉम्ट' जैसे स्वीकारवादी (=Positivist) और 'ह्यूम' जैसे शंकावादीने नहीं माना था। पर वह कथा बारीक है और बहुत है। विशेष

जिज्ञासु ए० अलेक्जेंडरकी 'Time, Space and Deity' (काल, आकाश और देवता) पुस्तक पढ़ें।

देश-कालके माप-दंडोंसे अलिप्त, मात्र आकाशकी, अलग कोई शून्य-सत्ता है, ऐसा बौद्ध मानते थे। परंतु सामान्य मनुष्य न यह समझ पाता है न प्रतीत कर सकता है।

डायोनिसस नामक ग्रीक दार्शनिक जीवनसे ऊब कर एक पीपेके अंदर औंधा मुँह करके बैठता था। वैसे ही ग्रीक-दर्शनमें दो विचार धारायें चली थीं। एक ओर परमेनाईडस और उसके शिष्य थे जो कहते थे "सब स्थिर है, सब स्थिर है।" दूसरी तरफ हेराक्लाईटसके शिष्य थे जो कहते थे "सब परिवर्तन-शील है, सब परिवर्तनशील है।" ऐसे ही 'गतिके शिकार' यानी गत्यंध बौद्धोंमें शून्यवादी भी थे जो कहते थे, 'क्षणिकम्, क्षणिकम्, सर्वम् क्षणिकम्'।

(पृ० २२९) कार्ल मार्क्सने हेगेलके 'डायलेक्टिक्स' शब्दमें ऐतिहासिक विशेषण जोड़कर अपना एक नया ऐतिहासिक भौतिकवाद (=Historical materialism) पैदा किया था। जैनेन्द्र उसके विरुद्ध एक अभौतिक किंतु चिर-प्रस्तुत ऐतिहासिक शृंखलाको लक्षित कर रहे हैं।

(पृ० २३०) गणितके उदहरणसे ग्रीक स्थिरतावादी दार्शनिक 'ज़ीनो' के बहुत विचित्र तर्ककी याद आ गई। वह कहता है कि, 'समझिए, कोई तीर यहाँसे फेंका गया। वह प्रत्येक क्षण देशके प्रत्येक अणुमें स्थिर रहेगा,—यह खंडशः देखनेसे पता चलता है; इसलिए, तीर चलता ही नहीं।' 'गति भ्रम है,' इस तत्त्वपर ज़ीनो अपने ग़लत एकान्तवादकी वजहसे पहुँचा था।

सारांश, प्रगति-विचारमें जैनेन्द्र, नकारात्मक पद्धति, एकान्तवाद तथा अतीतको भुला देनेकी नीति ग़लत समझते हैं। ('हंस'में प्र०)

२४ मानवका सत्य

इस लेखसे श्रीसुमित्रानंदन पंतकी सर्वोत्तम कविता 'परिवर्तन' की याद आ जाती है। टेनीसनकी पंक्ति Men may come and men may go, but I go on for ever' और शेलीकी 'बादल' ('cloud') कवितामें 'I change, but never die' का भी भावार्थ इसी प्रकार है। मनोविज्ञानने भी मनकी दो मूल वृत्तियाँ मानी हैं; एक संग्राहक, दूसरी रचना-शील। संग्राहक वृत्तियोंका संचय जहाँ विद्यमान् चेतनाके तल-पृष्ठमें गया कि वह मिटता हुआ जान पड़ता है। पर वास्तवमें मिटता कुछ भी नहीं।

वर्क्लेने एक जगह लिखा है कि हम जुलूसको सबसे अच्छी तरह तभी देख सकते हैं जब हम उसमेंके कोई न होकर उससे अलग एक हों। यह पृथक् तटस्थता प्रत्येक विचारकको अपेक्षित है।

यूनानी दार्शनिकोंमें ऑरिस्टाटलके अवसानके बाद दो पंथ चल गये; एक थे स्टॉईक दूसरे, सायरेनिक। स्टॉईक थे निराशावादी और सायरेनीक कट्टर पवित्रतावादी। 'स्टाईक रेज़िग्नेशन' (Stoic Resignation) का अर्थ हुआ जगत्से मुँह मोड़ लेना, जैनियोंमें कर्मास्त्रवका निर्जरा-प्रयोग भी कुछ ऐसा ही है। (माधुरीमें प्र०)

२५ सत्य, शिव, सुन्दर

पं० रामचन्द्र शुक्लने इस पदका जन्म ऑरिस्टाटलसे बताया है। रवीन्द्रनाथके पिता देवेन्द्रनाथ इसे ब्रह्मसमाजी ध्येय बनाकर संस्कृत-रूपमें भारतमें लाये। फिर तो बंगलाकी छायासे हिन्दीमें भी इसकी धूम मच गई।

(पृ० २४६) यही आदर्श जो महा-वाक्योंका बतांया है महान् मनुष्योंके जीवनका भी होता है। विक्टर ह्यूगोने कहा है 'to appear yielding, yet to be unapproachable is greatness' या बर्नार्ड शॉने एक जगह कहा है, "Greatness is but a sensation of littleness"। स्वामी रामने भी परमात्माकी एक विलक्षण परिभाषा दी है 'To be active in inaction is God'।

संज्ञा और भावमें अन्तर इतना ही है, कि एक भानके और दूसरा ज्ञानके अर्थमें आता है। Notion और Conception इन प्रायः समानार्थी शब्दोंको लेकर पाश्चात्य दर्शनमें लॉक और बर्क्लेके बीचमें बहुत बड़ा विवाद चल गया था।

'तात्कालिक शिव-वादी और सुन्दर-वादी' वे हैं जो आज युद्ध इष्ट है, तो उसीका समर्थन करनेवाले अथवा आज एक पद्धति सुंदर मानी जाती है तो उसीपर पन्ने रंगनेवाले यथा अँग्रेजी पत्रोंमें फैशनसंबंधी स्तंभोंके लेखक।

पृ० २५१ पर दिया हुआ विश्वव्यापी क्रिया-प्रतिक्रियात्मक सिद्धान्त (बौद्धोंका 'प्रतीत्य-समुत्पाद') निम्नलिखित रूपमें प्रतिफलित पाया जाता है—

स्थापत्य—यूनानी नग्न मूर्तियाँ, रोमन परिवेष्टित मूर्तियाँ या महावीर और बुद्ध-कालकी इसी प्रकारकी दिगंबर और सवसन मूर्तियाँ।

वास्तु—वेस्ट मिनिस्टर ॲबे और आजकी अमेरिकन शैलीकी इमारतें। उपयोगिताकी सौन्दर्यपर विजय।

संगीत-साहित्य—रीतिकालकी प्रतिक्रियामें भूषण, और कबीरकी प्रतिक्रियामें विद्यापति। पक्के गानेकी प्रतिक्रियामें मुस्लिम-प्रभाव-लांछित ख्याल—ठुमरीकी संस्थायें।

दर्शन-संस्कृति—स्टॉईक और सायरेनिक, चार्वाक और वेदान्त दर्शनमें परस्परावलंबित ऐतिहासिक क्रम।

समाज-नीति—बर्बरसे सभ्य। अब अति-सभ्यकी Back to Nature की पुकार। रूसमें स्वच्छंदताविरोधी कानून। अमेरिकाकी नैतिक दशा।

राजनीति—प्रजातंत्रकी आवाजसे, लोक-क्रान्तिसे, किसी क्रामवेल, नेपोलियन, स्टैलिन, हिटलर या अन्य तानाशाहका जन्म। साम्राज्यवादमेंसे पुनः स्वातंत्र्यकी ओर पुकार। यथा—आयर्लैंडका स्वातंत्र्य युद्ध, स्पेन, और वर्तमान भारतवर्ष। ('हंस' में प्र०)

२६ बसंत आया-आओ।

वैसे जैनेन्द्रजीने गद्यकाव्य बहुत ही कम लिखे हैं। इसे उनके विचार-प्रवाहकी दिशाका एक निदर्शक समझकर दिया गया है। इसमें प्रकृतिसे मानवका सौहार्द्र-ग्रहण,—एक प्रफुल्ल पूर्णताकी प्राप्ति, अभिव्यक्त है। इस प्रकारका भाव-स्वप्न, जो 'जरूरी भेदाभेद' के 'अभेद' में भी है और लाजवाब है। इसकी शैलीमें अवश्य कुछ खलील ज़िब्रानका मज़ा आता है। मगर इसे लेखकने खलील पढ़नेके बहुत पहले लिखा था। (चित्रपटमें प्र०)

२७ नारीके प्रति

इस गद्य-काव्यकी भूमिका समझना पहले जरूरी है। एक सत्यका सिपाही असत्के साथ (वह वासना हो, विद्वेष हो, अन्याय हो या अनृत हो) लड़ाई ठानने जा रहा है। उसकी पत्नी जो माता भी है, रो रही है, चरण पकड़कर उसे रोक रही है। उसे डर है कि कहीं वह (पुरुष) असत्की लड़ाईमें ही न खप जाय। पर पुरुष उसे उसी 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्' जैसी विजयाह्लाद-प्राप्तिका आदेश देता है। इसी तरहका कुछ भाव, जिसमें कर्तव्य प्रधान हो और व्यक्तिगत प्रेम गौण बताया जाय, 'परख' के अन्तमें और 'परदेसी' में है।

नारीको मातृत्वकी चेतना मिलनेपर, यानी पुरुषद्वारा उसे अपनी सार्थकताका प्रतीक पुत्र प्राप्त होनेपर, निरर्थक होनेका अवकाश ही कहाँ बचा रहता है,—यह दरसाया गया है। 'King of England never dies' इस प्रकारसे

सतीका सुहाग पतिके चले जानेसे या मर जानेसे नहीं टूटता। यही अखंड-सौभाग्य 'सुनीता' में श्रीकान्तके लाहौर चले जानेपर जागरित हुआ था। यही बात उनकी 'क्या हो ?' कहानीमें बड़ी मार्मिकतासे विशद हुई है, अर्थात् पुरुषका प्रेम संकुचित या स्वत्व-सीमित नहीं होना चाहिए।

यहाँ मुझे एंटन चेखोवकी 'डार्लिंग' कहानीपर टालस्टायकी टिप्पणी जो 'कला क्या ?' पुस्तकमें है, याद आती है। प्रो० वा० म० जोशीके दार्शनिक उपन्यास 'सुशीलेचा देव' में नारीपर इसी प्रकारका प्रबुद्ध विचार ग्रथित है।

(चित्रपटमें प्र०)

प्रश्नोत्तर और पत्रांश

प्रश्नोत्तरों और पत्रांशोंपर अब लिखनेको स्थलाभाव है। सिर्फ इतना कह देना चाहता हूँ कि अधिकांश प्रश्न मेरे पूछे हुए हैं और कुछ श्री 'रंजन' जीके हैं। पत्रांशोंमें श्री द्रविड बी. एस-सी. को भेजे हुए दो पत्रोंके अंश हैं। बाकी मेरे हैं। मैं चाहता हूँ कि जैनेन्द्रजीके पत्रोंकी अलगसे एक दूसरी किताब निकले। मेरी सभी हिन्दी-साहित्यिकों और साहित्य-प्रेमियोंसे विनय है कि जिन जिनके पास जैनेन्द्रजीके साहित्यिक या वैचारिक दृष्टिसे मूल्यवान् पत्र हों, उन्हें मेरे पास 'माधव कॉलेज, उज्जैन' के पतेपर भेज दें। असलमें तो जैनेन्द्र ही क्यों, सभी महान् चिन्तक-साहित्यिकोंके पत्र-संग्रहोंकी ज़रूरत है। इस दिशामें जो भी प्रयत्न हों, आवश्यकीय हैं।

फ

ब

भ

म

य

र

ल

व

[यह सूची इसलिए दी जाती है कि इसमेंसे किसी भी एक विषयको लेकर पाठक न सिर्फ जैनेन्द्रके विचार ही आसानीसे जान सकें, बल्कि उन विचारोंपर अपने विचार भी बढ़ाएँ ।]